मौर्यवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्तके लिए—जो कि हमारे कथाग्रन्थोंके अनुसार जैन-धर्मके उपासक थे और जिन्होंने अन्तमें जिनदीक्षा धारण की थी *—आर्य चाणक्यने इस ग्रन्थको निर्माण किया था ×। नन्दवंशका समूल उच्छेद करके उसके सिंहासन पर चन्द्रगुप्तको आसीन करानेवाले चाणक्य कितने बड़े राजनीतिज्ञ होंगे, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी राजनीतिज्ञताका सबसे अधिक उज्ज्वल प्रमाण यह अर्थशास्त्र है। यह बड़ा ही अद्भुत ग्रन्थ है और उस समयकी शासन-व्यवस्था पर ऐसा प्रकाश डालता है जिसकी पहले किसीने कल्पना भी न की थी। इसे पढ़नेसे मालूम होता है कि उस प्राचीन कालमें भी इस देशने राजनीतिमें आश्चर्यजनक उन्नति कर ली थी। इस ग्रन्थमें मनु, भारद्वाज, उशना (शुक्र), बृहस्पति, विशालाक्ष, पिशुन, पराशर, वातव्याधि, कौणपदन्त और बाहुदन्तीपुत्र नामक प्राचीन आचार्योंके राजनीतिसम्बन्धी मतोंका जगह जगह उल्लेख आता है। आर्य चाणक्य प्रारंभमें ही कहते हैं कि पृथिवीके लाभ और पालनके लिए पूर्वाचार्योंने जितने अर्थशास्त्र प्रस्थापित किये हैं, प्रायः उन सबका संग्रह करके यह अर्थशास्त्र लिखा जाता है +। इससे मालूम होता है कि चाणक्यसे भी पहले इस विषयके अनेकानेक ग्रन्थ मौजूद थे और चाणक्यने उन सबका अध्ययन किया था। परन्तु इस समय उन ग्रन्थोंका कोई पता नहीं है।

चाणक्यके बादका एक और प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका नाम '**नीति-सार**' है और जिसे संभवतः चाणक्यके ही शिष्य **कामन्दक** नामक विद्वानने

---

* सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ मि० विन्सेण्ट स्मिथ आदि विद्वान् भी इस बातको संभव समझते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मके उपासक होंगे। 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' नामक प्राकृत ग्रन्थमें—जो विक्रमकी पाँचवीं शताब्दिके लगभगका है—लिखा है कि मुकुटधारी राजाओंमें सबसे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त था जिसने दीक्षा ली।—देखो जैनहितैषी वर्ष १३, अंक १२।

× सर्वशास्त्राण्यनुपक्रम्य प्रयोगानुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥
येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेनशास्त्रमिदं कृतम्॥

+ पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।

अर्थशास्त्रको संक्षिप्त करके लिखा है÷। अर्थशास्त्र प्रायः गद्यमें है; परन्तु यह श्लोक-बद्ध है। यह भी अपने ढंगका अपूर्व और प्रामाणिक ग्रन्थ है और अर्थशास्त्रको समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलती है। इसमें भी विशालाक्ष, पुलोमा, यम आदि प्राचीन नीतिग्रन्थकर्त्ताओंके मतोंका उल्लेख है।

कामन्दकके नीतिसारके बाद जहाँ तक हम जानते हैं, यह नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ ही ऐसा बना है, जो उक्त दोनों ग्रन्थोंकी श्रेणीमें रक्खा जा सकता है और जिसमें शुद्ध राजनीतिकी चर्चा की गई है। इसका अध्ययन भी कौटिलीय अर्थशास्त्रके समझनेमें बड़ी भारी सहायता देता है।

नीतिवाक्यामृतके कर्ताने भी अपने द्वितीय ग्रन्थमें गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, भारद्वाजके नीतिशास्त्रोंका उल्लेख किया है *। मनुके भी बीसों श्लोकोंको उद्धृत किया है +। नीतिवाक्यामृतमें विष्णुगुप्त या चाणक्यका और उनके अर्थशास्त्रका उल्लेख है ×। बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, आदिके अभिप्रायोंको भी उन्होंने नीतिवाक्यामृतमें संग्रह किया है जिसका स्पष्टीकरण नीतिवाक्यामृतकी इस संस्कृत

÷ देखो गुजराती प्रेस बम्बईके 'कामन्दकीय नीतिसार' की भूमिका।

* "न्यायादवसरमलभमानस्य चिरसेवकसमाजस्य विज्ञप्तय इव नर्मसचिवोक्तयः प्रतिपन्नकामचारव्यवहारेषु स्वैरविहारेषु मम गुरुशुक्रविशालाक्षपरीक्षितपराशरभीमभीष्मभारद्वाजादिप्रणीतनीतिशास्त्रश्रवणसनाथं श्रुतपथमभजन्त।"—
यशस्तिलकचम्पू आश्वास २, पृ० २३६

+ "दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समं सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥

इति कथमिदमाह वैवस्ततो मनुः।"—यशस्तिलक आ० ४, पृष्ठ १००
यह श्लोक मनुस्मृति अ० ६ का ६६ वाँ श्लोक है। इसके सिवाय यशस्तिलक आश्वास ४, पृ० ९०—९१—११६ (**प्रोक्षितं भक्षयेत्**), ११' (**क्रीत्वा स्वयं**), १२७ (सभी श्लोक), १४९ (सभी श्लोक), २८७ (**अधीत्य**) के पद्य भी मनुस्मृतिमें ज्योंके त्यों मिलते हैं। यद्यपि वहाँ यह नहीं लिखा है कि ये मनुके हैं। 'उक्तं च' रूपमें ही दिये हैं।

× नीतिवाक्यामृत पृष्ठ० ३६ सूत्र ९, पृ० १०७ सूत्र ४, पृ० १७१ सू १४ आदि।

टीकासे होता है। स्मृतिकारोंसे भी वे अच्छी तरह परिचित मालूम होते हैं †। इससे हम कह सकते हैं कि नीतिवाक्यामृतके कर्ता पूर्वोक्त राजनीतिक साहित्यसे यथेष्ट परिचित थे। बहुत संभव है कि उनके समयमें उक्त सबका सब साहित्य नहीं तो उसका अधिकांश उपलब्ध होगा। कमसे कम पूर्वोक्त आचार्योंके ग्रन्थोंके सार या संग्रह आदि अवश्य मिलते होंगे।

इन सब बातोंसे और नीतिवाक्यामृतको अच्छी तरह पढ़नेसे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि नीतिवाक्यामृत प्राचीन नीतिसाहित्यका सारभूत अमृत है। दूसरे शब्दोंमें यह उन सबके आधारसे और कविकी विलक्षण प्रतिभासे प्रसूत हुआ संग्रह ग्रन्थ है। जिस तरह कामन्दकने चाणक्यके अर्थशास्त्रके आधारसे संक्षेपमें अपने नीतिसारका निर्माण किया है, उसी प्रकार सोमदेवसूरिने उनके समयमें जितना नीतिसाहित्य प्राप्त था उसके आधारसे यह नीतिवाक्यामृत निर्माण किया है ÷। दोनोंमें अन्तर यह है कि नीतिसार श्लोकबद्ध है और केवल अर्थशास्त्रके आधारसे लिखा गया है, परन्तु नीतिवाक्यामृत गद्यमें है और अनेकानेक ग्रन्थोंके आधारसे निर्माण हुआ है, यद्यपि अर्थशास्त्रकी भी इसमें यथेष्ट सहायता ली गई है।

कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें श्रीयुत शामशास्त्रीने लिखा है कि "यच्च यशोधरमहाराजसमकालेन सोमदेवसूरिणा नीतिवाक्यामृतं नाम नीतिशास्त्रं विरचितं तदपि कामन्दकीयमिव कौटिलीयार्थशास्त्रादेव संक्षिप्य संगृहीतमिति तद्ग्रन्थपद-वाक्यशैलीपरीक्षायां निस्संशयं ज्ञायते।" अर्थात् यशोधर महाराजके समकालिक सोमदेवसूरिने जो 'नीतिवाक्यामृत' नामका ग्रन्थ लिखा है उसके पद और वाक्योंकी शैलीकी परीक्षासे यह निस्सन्देह कहा सकता है कि वह भी कामन्दकके नीति-

---

† "विप्रकीतावूढापि पुनर्विवाहदीक्षामर्हतीति स्मृतिकाराः"—नी० पृ० ३७७ सू० २७, "श्रुतेःस्मृतेर्बाह्यबाह्यतरे," यशस्तिलक आ० ४, पृ० १०५—"श्रुति-स्मृतीभ्यामतीव बाह्ये"—यशस्तिलक आ० ४, पृ० १११," तथा च स्मृतिः" पृ० ११६ और "इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य" पृ० २८७।

÷ यशस्तिलक आ० ४ पृ० १०० में नीतिकार भारद्वाजके षाड्गुण्य प्रस्तावके दो श्लोक और विशालाक्षके कुछ वाक्य दिये हैं। ये विशालाक्ष संभवतः वे ही नीतिकार हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र और नीतिसारमें किया गया है।

सारके समान कौटिलीय अर्थशास्त्रसे ही संक्षिप्त करके लिखा गया है *।" परन्तु हमारी समझमें शास्त्रीजीने उक्त परीक्षा बारीकीसे या अच्छी तरह विचार करके नहीं की है। यह हम मानते हैं कि नीतिवाक्यामृतकी रचनामें अर्थशास्त्रकी सहायता अवश्य ली गई है, जैसा कि आगे दिये हुए दोनोंके अवतरणोंसे मालूम होगा। पाठक देखेंगे कि दोनोंमें विलक्षण समता है, कहीं कहीं तो दोनोंके पाठ बिल्कुल एकसे मिल गये हैं। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नीतिवाक्यामृत अर्थशास्त्रका ही संक्षिप्त सार है। अर्थशास्त्रका अनुधावन करनेवाला होकर भी वह अनेक अंशोंमें बहुत कुछ स्वतंत्र है। अर्थशास्त्रके अतिरिक्त अन्यान्य नीतिशास्त्रोंके अभिप्राय भी उसमें अपने ढंगसे समावेशित किये गये हैं। इसके सिवाय ग्रन्थकर्त्ताने अपने देश-काल पर दृष्टि रखते हुए बहुत सी पुरानी बातोंको—जिनकी उस समय जरूरत नहीं रही थी या जो उनकी समझमें अनुचित थीं—छोड़ दिया है या परिवर्तित कर दिया है। साथ ही बहुतसी समयोपयोगी बातें शामिल भी कर दी हैं।

यहाँ हम अर्थशास्त्र और नीतिवाक्यामृतके ऐसे अवतरण देते हैं जिनसे दोनोंकी समानता प्रकट होती है:—

१—दुष्प्रणीतः कामक्रोधभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं ग्रसते दण्डधराभावे। —अर्थशास्त्र पृ० ९।

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वजनविद्वेषं करोति। अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं ग्रसते (इति मात्स्यन्यायः)। —नीतिवा० पृ० १०४–५।

२—ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च।

—अर्थ० पृ० १०।

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य।

—नी० १६७।

---

* शास्त्रीजीका यह बड़ा भारी भ्रम है, जो सोमदेवसूरिको वे यशोधर महाराजके समकालिक समझते हैं। यशोधर जैनोंके एक पुराणपुरुष हैं। इनका चरित्र सोमदेवसे भी पहले पुष्पदन्त, वच्छराय आदि कवियोंने लिखा है। पुष्पदन्तका समय शकसंवत् ६०६ के लगभग है।

३—पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषाणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत । —अर्थ० पृ० १५-१६ ।

पुरोहितमुदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत । —नीति० पृ० १५९ ।

४—परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः ।—अर्थ पृ० १८ ।

परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः ।– नी० पृ० १७३ ।

५—श्रूयते हि शुकसारिकाभिः मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः । तस्मान्मन्त्रो द्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत् ।

—अर्थ० पृ० २६ ।

अनायुक्तो न मन्त्रकाले तिष्ठेत् । श्रूयते हि शुकशारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः । —नीति० पृ० ११८ ।

६—द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति । षोडशवर्षः पुमान् ।

—अर्थ० १५४ ।

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥

—नीति० ३७३ ।

इस तरहके और भी अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं ।

यहाँपर पाठकोंको यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि चाणक्यने भी तो अपने पूर्ववर्ती विशालाक्ष, भारद्वाज, बृहस्पति आदिके ग्रन्थोंका संग्रह करके अपना ग्रन्थ लिखा है* । ऐसी दशामें यदि सोमदेवकी रचना अर्थशास्त्रसे मिलती जुलती हो, तो क्या आश्चर्य है । क्योंकि उन्होंने भी उन्हीं ग्रन्थोंका मन्थन करके अपना नीतिवाक्यामृत लिखा है । यह दूसरी बात है कि नीतिवाक्यामृतकी रचनाके समय ग्रन्थकर्त्ताके सामने अर्थशास्त्र भी उपस्थित था ।

परन्तु पाठक इससे नीतिवाक्यामृतके महत्त्वको कम न समझ लें । ऐसे विषयोंके ग्रन्थोंका अधिकांश भाग संग्रहरूप ही होता है । क्योंकि उसमें उन सब तत्त्वोंका समावेश तो नितान्त आवश्यक ही होता है जो ग्रन्थकर्त्ताके पूर्व लेखकों द्वारा उस शास्त्रके सम्बन्धमें निश्चित हो चुकते हैं । उनके सिवाय जो नये अनुभव और नये तत्त्व उपलब्ध होते हैं उन्हें ही वह विशेषरूपसे अपने

---

* देखो पृष्ठ ३ की टिप्पणी ' पृथिव्या लाभे ' आदि ।

ग्रन्थमें लिपिबद्ध करता है। और हमारी समझमें नीतिवाक्यामृत ऐसी बातोंसे खाली नहीं है। ग्रन्थकर्त्ताकी स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिकता उसमें जगह जगह प्रस्फुटित हो रही है।

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।

गुरुपरम्परा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है नीतिवाक्यामृतके कर्त्ता श्रीसोमदेवसूरि हैं। वे देवसंघके आचार्य थे। दिगम्बरसम्प्रदायके सुप्रसिद्ध चार संघोंमेंसे यह एक है। मंगराज कविके कथनानुसार यह संघ सुप्रसिद्ध तार्किक **भट्टाकलंकदेवके** बाद स्थापित हुआ था। अकलंकदेवका समय विक्रमकी ९वीं शताब्दिका प्रथम पाद है। *

सोमदेवके गुरुका नाम **नेमिदेव** और दादागुरुका नाम **यशोदेव** था। यथाः—

> **श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः,**
> **शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः।**
> **तस्याश्चर्यतपः स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां,**
> **शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः॥**

—यशस्तिलकचम्पू।

नीतिवाक्यामृतकी गद्यप्रशस्तिसे भी यह मालूम होता है कि वे नेमिदेवके शिष्य थे। साथ ही उसमें यह भी लिखा है कि वे **महेन्द्रदेव** भट्टारकके अनुज थे। इन तीनों महात्माओं—**यशोदेव, नेमिदेव** और **महेन्द्रदेवके** सम्बन्धमें हमें और कोई भी बात मालूम नहीं है। न तो इनकी कोई रचना ही उपलब्ध है और न अन्य किसी ग्रन्थादिमें इनका कोई उल्लेख ही मिला है। इनके पूर्वके आचार्योंके विषयमें भी कुछ ज्ञात नहीं है। सोमदेवसूरिकी शिष्यपरम्परा भी अज्ञात है। यशस्तिलकके टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने एक जगह लिखा है कि वादिराज और वादीभसिंह, दोनों ही सोमदेवके शिष्य थे ×; परन्तु इसके

---

* देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७—८।

× "उक्तं च वादिराजेन महाकविना—...............स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः—'**वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः**' इत्युक्तत्वाच्च।"

—यशस्तिलकटीका आ० २, पृ० २६५।

लिए उन्होंने जो प्रमाण दिया है वह किस ग्रन्थका है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। यशस्तिलककी रचना शकसंवत् ८८१ (विक्रम १०१६) में समाप्त हुई है और वादिराजने अपना पार्श्वनाथचरित शकसंवत् ९४७ (वि० १०८२) में पूर्ण किया है, अर्थात् दोनोंके बीचमें ६६ वर्षका अन्तर है। ऐसी दशामें उनका गुरु शिष्यका नाता होना दुर्घट है। इसके सिवाय वादिराजके गुरुका नाम मतिसागर था और वे द्रविड संघके आचार्य थे। अब रहे वादीभसिंह, सो उनके गुरुका नाम पुष्पषेण था और पुष्पषेण अकलंकदेवके गुरुभाई थे, इसलिए उनका समय सोमदेवसे बहुत पहले जापड़ता है। ऐसी अवस्थामें वादिराज और वादीभसिंहको सोमदेवका शिष्य नहीं माना जा सकता। ग्रन्थकर्ता के गुरु बड़े भारी तार्किक थे। उन्होंने ९३ वादियोंको पराजित करके विजयकीर्ति प्राप्त की थी +।

इसी तरह महेन्द्रदेव भट्टारक भी दिग्विजयी विद्वान् थे। उनका ' वादीन्द्र-कालानल ' उपपद ही इस बातकी घोषणा करता है।

तार्किक सोमदेव।

श्रीसोमदेवसूरि भी अपने गुरु और अनुजके सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वा-न् थे। वे इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें कहते हैं:—

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते॥

साराश यह कि मै छोटोंके साथ अनुग्रह, बराबरीवालोंके साथ सुजनता और बड़ोंके साथ महान् आदरका वर्ताव करता हूँ। इस विषयमें मेरा चरित्र बहुत ही उदार है। परन्तु जो मुझे ऐंठ दिखाता है, उसके लिए, गर्वरूपी पर्वतको विध्वंस करनेवाले मेरे वज्र-वचन कालस्वरूप हो जाते हैं।

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे,
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।

+ यशस्तिलकके ऊपर उद्धृत हुए श्लोकमें उन महावादियोंकी संख्या—जिनको श्रीनेमिदेवने पराजित किया था—तिरानवे बतलाई है; परन्तु नीतिवाक्यामृत-की गद्यप्रशस्तिमें पचपन है। मालूम नहीं, इसका क्या कारण है।

श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले,
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥

भाव यह कि अभिमानी पण्डित गजोंके लिए सिंहके समान ललकारनेवाले और वादिगजोंको दलित करनेवाला दुर्धर विवाद करनेवाले श्रीसोमदेव मुनिके सामने, वादके समय वागीश्वर या देवगुरु बृहस्पति भी नहीं ठहर सकते हैं।

इसी तरहके और भी कई पद्य हैं जिनसे उनका प्रखर और प्रचण्ड तर्कपाण्डित्य प्रकट होता है।

यशस्तिलक चम्पूकी उत्थानिकामें कहा है:—

आजन्मकृतभ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतसुरभेरभवदिदं सूक्तपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥ १७

अर्थात् मेरी जिस बुद्धिरूपी गौने जीवन भर तर्करूपी सूखा घास खाया, उसीसे अब यह काव्यरूपी दुग्ध उत्पन्न हो रहा है। इस उक्तिसे अच्छी तरह प्रकट होता है कि श्रीसोमदेवसूरिने अपने जीवनका बहुत बड़ा भाग तर्कशास्त्रके अभ्यासमें ही व्यतीत किया था। उनके स्याद्वादाचलसिंह, वादीभपंचानन और तार्किकचक्रवर्ती पद भी इसी बातके द्योतक हैं।

परन्तु वे केवल तार्किक ही नहीं थे—काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र और राजनीति आदिके भी धुरंधर विद्वान् थे।

महाकवि सोमदेव।

उनका यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य—जो काव्यमालामें प्रकाशित हो चुका है—इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्यकला पर भी उनका असाधारण अधिकार था। समूचे संस्कृत साहित्यमें यशस्तिलक एक अद्भुत काव्य है और कवित्वके साथ साथ उसमें ज्ञानका विशाल खजाना संगृहीत है। उसका गद्य भी कादम्बरी तिलकमञ्जरी आदिकी टक्करका है। सुभाषितोंका तो उसे आगार ही कहना चाहिए। उसकी प्रशसामें स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने यत्र-तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं, वे सुनने योग्य हैं:—

असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव।
मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥ १४

—प्रथम आश्वास।

समुद्रसे निकले हुए असहाय, अनादर्श और सज्जनोंके हृदयकी शोभा बढ़ाने-वाले रत्नकी तरह मुझसे भी यह असहाय (मौलिक), अनादर्श (बेजोड़) और हृदयमण्डन काव्यरत्न उत्पन्न हुआ।

कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि ।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥ २४६ ॥

—द्वितीय आ०।

यदि आपका चित्त कानोंकी अँजुलीसे सूक्तामृतका पान करना चाहता है, तो सोमदेवकी नई नई काव्योक्तियाँ सुनिए।

लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः ।
सोमदेवकवेः सूक्तिं समभ्यस्यन्तु साधवः ॥ ५१३ ॥

—तृतीय आ०।

यदि सज्जनोंकी यह इच्छा हो कि वे लोकव्यवहार और कवित्वमें चातुर्य प्राप्त करें तो उन्हें सोमदेव कविकी सूक्तियोंका अभ्यास करना चाहिए।

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥

—चतुर्थ आ०, पृ० १६५।

मैं शब्द और अर्थपूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) का स्वाद ले चुका हूँ, अतएव अब जितने दूसरे कवि होंगे, वे निश्चयसे उच्छिष्टभोजी या जूठा खानेवाले होंगे–वे कोई नई बात न कह सकेंगे।

अरालकालव्यालेन ये लीढा साम्प्रतं तु ते ।
शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥

—पंचम आ०, पृ० २६६।

समयरूपी विकट सर्पने जिन शब्दोंको निगल लिया था, अतएव जो मृत हो गये थे, यदि उन्हें श्रीसोमदेवने उठा दिया—जिला दिया, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। (इसमें 'सोमदेव' शब्द श्लिष्ट है। सोम चन्द्रवाची है और चन्द्रकी अमृत-किरणोंसे विषमूर्च्छित जीव सचेत हो जाते हैं।)

उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः
पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः ।

या सोमदेवविबुधा विहिता विभूषा
वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्घाम् ॥
—प० आ०, पृ० २६६ ।

चिरकालसे शास्त्रसमुद्रके बिल्कुल नीचे डूबे हुए शब्द-रत्नोंका उद्धार करके सोमदेव पण्डितने जो यह बहुमूल्य आभूषण (काव्य) बनाया है, उसे श्रीसरस्वती देवी धारण करें ।

इन उक्तियोंसे इस बातका आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणीके कवि थे और उनका उक्त महाकाव्य कितना महत्त्वपूर्ण है । पूर्वोक्त उक्तियोंमें अभिमानकी मात्रा रहने पर भी वे अनेक अंशोंमें सत्य जान पड़ती हैं । सचमुच ही यशस्तिलक शब्दरत्नोंका बड़ा भारी खजाना है और यदि माघकाव्यके समान कहा जाय कि इस काव्यको पढ़ लेने पर फिर कोई नया शब्द नहीं रह जाता, तो कुछ अत्युक्ति न होगी । इसी तरह इसके द्वारा सभी विषयोंकी व्युत्पत्ति हो सकती है । व्यवहारदक्षता बढ़ानेकी तो इसमें ढेर सामग्री है ।

महाकवि सोमदेवके वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविराजकुंजर और गद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ती विशेषण, उनके श्रेष्ठकवित्वके ही परिचायक हैं ।

धर्माचार्य सोमदेव ।

यद्यपि अभीतक सोमदेवसूरिका कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परन्तु यशस्तिलकके अन्तिम दो आश्वास—जिनमें उपासकाध्ययन या श्रावकोंके आचारका निरूपण किया गया है—इस बातके साक्षी हैं कि वे धर्मके कैसे मर्मज्ञ विद्वान् थे । स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डके बाद श्रावकोंका आचारशास्त्र ऐसी उत्तमता, स्वाधीनता और मार्मिकताके साथ इतने विस्तृतरूपमें आजतक किसी भी विद्वान्की कलमसे नहीं लिखा गया है । जो लोग यह समझते हैं कि धर्मग्रन्थ तो परम्परासे चले आये हुए ग्रन्थोंके अनुवादमात्र होते हैं—उनमें ग्रन्थकर्ता विशेष क्या कहेगा, उन्हें यह उपासकाध्ययन अवश्य पढ़ना चाहिए और देखना चाहिए कि धर्मशास्त्रोंमें भी मौलिकता और प्रतिभाके लिए कितना विस्तृत क्षेत्र है । खेद है कि जैनसमाजमें इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके पठन पाठनका प्रचार बहुत ही कम है और अब तक इसका कोई हिन्दी अनुवाद भी नहीं हुआ है ।

नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

सकलसमयतर्के नाकलंकोऽसि वादी
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।

न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥

अर्थात् हे वादी, न तो तू समस्तदर्शन शास्त्रों पर तर्क करनेके लिए अकलंकदेवके तुल्य है, न जैनसिद्धान्तके कहनेके लिए हंससिद्धान्तदेव है और न व्याकरणमें पूज्यपाद है, फिर इस समय सोमदेवके साथ किस बिरते पर बात करने चला है ? *

इस उक्तिसे स्पष्ट है कि सोमदेवसूरि तर्क और जैनसिद्धान्तके समान व्याकरणशास्त्रके भी पण्डित थे ।

राजनीतिज्ञ सोमदेव ।

सोमदेवके राजनीतिज्ञ होनेका प्रमाण यह नीतिवाक्यामृत तो है ही, इसके सिवाय उनके यशस्तिलकमें भी यशोधर महाराजका चरित्रचित्रण करते समय राजनीतिकी बहुत ही विशद और विस्तृत चर्चा की गई है । पाठकोंको चाहिए कि वे इसके लिए यशस्तिलकका तृतीय आश्वास अवश्य पढ़ें ।

यह आश्वास राजनीतिके तत्त्वोंसे भरा हुआ है । इस विषयमें वह अद्वितीय है । वर्णन करनेकी शैली बड़ी ही सुन्दर है । कवित्वकी कमनीयता और सरसतासे राजनीतिकी नीरसता मालूम नहीं कहाँ चली गई है । नीतिवाक्यामृतके अनेक अंशोंका अभिप्राय उसमें किसी न किसी रूपमें अन्तर्निहित जान पड़ता है + ।

---

* **अकलंकदेव**—अष्टसहस्री, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके रचयिता । **हंससिद्धान्तदेव**—ये कोई सैद्धान्तिक आचार्य जान पड़ते हैं । इनका अब तक और कहीं कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया । **पूज्यपाद**—देवनन्दि, जैनेन्द्रव्याकरणके कर्ता ।

+ नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकके कुछ समानार्थक वचनोंका मिलान कीजिए:—

१—बुभुक्षाकालो भोजनकालः— नी० वा० पृ० २५३ ।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले,
मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।
भुक्तिं जगाद नृपते मम चैष सर्ग-
स्तस्याः स एव समयः क्षुधितो यदैव ॥ ३२८ ॥
—यशस्तिलक आ० ३ ।

जहाँ तक हम जानते हैं जैनविद्वानों और आचार्योंमें—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंमें—एक सोमदेवने ही 'राजनीतिशास्त्र' पर कलम उठाई है। अतएव जैनसाहित्यमें उनका नीतीवाक्यामृत अद्वितीय है। कमसे कम अब तक तो इस विषयका कोई दूसरा जैनग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

ग्रन्थ-रचना।

इस समय सोमदेवसूरिके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—**नीतिवाक्यामृत** और **यशस्तिलकचम्पू**। इनके सिवाय—जैसा कि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे मालूम होता है–तीन ग्रन्थ और भी हैं–१ **युक्तिचिन्तामणि**, २ **त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प** और ३ **षण्णवतिप्रकरण**। परन्तु अभीतक ये कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। उक्त ग्रन्थोंमेंसे **युक्तिचिन्तामणि** तो अपने नामसे ही तर्कग्रन्थ मालूम होता है और दूसरा शायद नीतिविषयक होगा। महेन्द्र और उसके सारथी मातलिके संवादरूपमें उसमें त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और कामकी चर्चा की गई होगी। तीसरेके नामसे सिवाय इसके कि उसमें ९६ प्रकरण या अध्याय हैं, विषयका कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता है।

इन सब ग्रन्थोंमें नीतिवाक्यामृत ही सबसे पिछला ग्रन्थ है। यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक इसके पहलेका है। क्योंकि नीतिवाक्यामृतमें उसका उल्लेख है। बहुत संभव है कि नीतिवाक्यामृतके बाद भी उन्होंने ग्रन्थरचना की हो और उक्त तीन ग्रन्थोंके समान वे भी किसी जगह दीमक या चूहोंके खाद्य बन रहे हों,या सर्वथा नष्ट ही हो चुके हों।

विशाल अध्ययन।

यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके पढ़नेसे मालूम होता है कि सोमदेवसूरिका अध्ययन बहुत ही विशाल था। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समयमें जितना

(पूर्वोक्त पद्यमें चारायण, तिमि, धिषण और चरक इन चार आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया गया है।)

२—कोकवद्दिवाकामः निशि भुञ्जीत। चकोरवन्नक्तंकामः दिवापक्वम्।—नी० वा० पृ० २५७।

अन्ये त्विदमाहुः—

यः कोकवद्दिवाकामः स नक्तं भोक्तुमर्हति।
स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्ता चकोरवत्॥ ३३०॥

—यशस्तिलक आ० ३।

साहित्य—न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति, दर्शन आदि सम्बन्धी—उपलब्ध था, उस सबसे उनका परिचय था। केवल जैन ही नहीं, जैनेतर साहित्यसे भी वे अच्छी तरह परिचित थे। यशस्तिलकके चौथे आश्वासमें (पृ०११३)में उन्होंने लिखा है कि इन महाकवियोंके काव्योंमें नग्न क्षपणक या दिगम्बर साधुओंका उल्लेख क्यों आता है ? उनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि क्यों है ?—उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास*, वोस, कालिदास ×, वाण +, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर।

इससे मालूम होता है कि वे पूर्वोक्त कवियोंके काव्योंसे अवश्य परिचित होंगे। प्रथम आश्वासके ९० वें पृष्ठमें उन्होंने इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनिके व्याकरणोंका जिकर किया है। पूज्यपाद (जैनेन्द्रके कर्त्ता) और पाणिनिका उल्लेख और भी एक दो जगह हुआ है। गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि नीतिशास्त्रप्रणेताओंका भी वे कई जगह स्मरण करते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्रसे तो वे अच्छी तरह परिचित हैं ही। हमारे एक पण्डित मित्रके कथनानुसार नीतिवाक्यामृतमें सौ सवा सौ के लगभग ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ वर्तमान कोशोंमें नहीं मिलता। अर्थशास्त्रका अध्येता ही उन्हें समझ सकता है। अश्वविद्या, गजविद्या, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, वैद्यक आदि

---

* भास महाकविका 'पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं' आदि पद्य भी पाँचवें आश्वासमें (पृ०२५०)में उद्धृत है। × रघुवंशका भी एक जगह (आश्वास ४, पृ०१९४) उल्लेख है। + वाण महाकविका एक जगह और भी (आ०४,पृ०१०१) उल्लेख है और लिखा है कि उन्होंने शिकारकी निन्दा की है।

१—" पूज्यपाद इव शब्दैतिह्येषु...पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु "—यश० आ० २, पृ० २३६। २, ३, ४, ५, ६—" रोमपाद इव गजविद्यासु रैवत इव हयनयेषु, शुकनाश इव रत्नपरीक्षासु, दत्तक इव कन्तुसिद्धान्तेषु "—आ० ४, पृ० २३६-२३७। 'दत्तक' कामशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं। वात्स्यायनने इनका उल्लेख किया है। ' चारायण ' भी कामशास्त्रके आचार्य हैं। इनका मत यशस्तिलकके तीसरे आश्वासके ५०९ पृष्ठमें चरकके साथ प्रकट किया गया है।

क्रियाओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रसंगोंमें जिकर किया है। प्रजापतिप्रोक्त **चित्रकर्म**, वराहमिहिरकृत **प्रतिष्ठाकाण्ड, आदित्यमत, निमित्ताध्याय, महाभारत, रत्नपरीक्षा,** पतंजलिका **योगशास्त्र** और **वररुचि, व्यास, हरप्रबोध, कुमारिलकी** उक्तियोंके उद्धरण दिये हैं। सैद्धान्तवैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, दशबलशासन, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादि, काणाद, ताथागत, कापिल, ब्रह्माद्वैतवादि, अवधूत आदि दर्शनोंके सिद्धान्तोंपर विचार किया है। इनके सिवाय **मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिंगल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि, विरोचन, धूमध्वज, नीलपट, ग्रहिल,** आदि अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध आचार्योंका नामोल्लेख किया है। बहुतसे ऐतिहासिक दृष्टान्तोंका भी उल्लेख किया गया है। जैसे यवनदेश (यूनान?)में **मणिकुण्डला** रानीने अपने पुत्रके राज्यके लिए विषदूषित शराबके कुरलेसे **अजराजाको**, सूरसेन (मथुरा) में **वसन्तमतिने** विषके आलतेसे रंगे हुए अधरोंसे **सुरतविलास** नामक राजाको, दशार्ण (भिलसा)में **वृकोदरीने** विषलिप्त करधनीसे **मदनार्णव** राजाको, मगध देशमें **मदिराक्षीने** तीखे दर्पणसे **मन्मथविनोद**को, पाण्डय देशमें **चण्डरसा** रानीने कबरीमें छुपी हुई छुरीसे **मुण्डीर** नामक राजाको मार

१,२,३,४,५—उक्त पाँचों ग्रन्थोंके उद्धरण यश० के चौथे आश्वासके पृ० ११२–१३ और ११९में उद्धृत हैं। महाभारतका नाम नहीं है, परन्तु–'**पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्**' आदि श्लोक महाभारतसे ही उद्धृत किया गया है।

६—तदुक्तं रत्नपरीक्षायाम्—'**न केवलं**' आदि, आश्वास ५, पृ० २५६।

७—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २७६–७७।

८,९–आ० ४ पृ० ९९।

१०,११–आ० ५, पृ० २५१–५४।

१२–इन सब दर्शनोंका विचार पाँचवें आश्वासके पृ० २६९ से २७७ तक किया गया है।

१३—देखो आश्वास ५, पृ०२५२–५५ और २९९।

डाला * । इत्यादि । पौराणिक आख्यान भी बहुतसे आये हैं। जैसे प्रजापति ब्रह्मा-का चित्त अपनी लड़की पर चलायमान हो गया, वररुचि या कात्यायनने एक दासीपर रीझकर उसके कहनेसे मद्यका घड़ा उठाया, आदि ×। इन सब बातोंसे पाठक जान सकेंगे कि आचार्य सोमदेवका ज्ञान कितना विस्तृत और व्यापक था।

उदार विचारशीलता ।

यशस्तिलकके प्रारंभके २० वें श्लोकमें सोमदेवसूरि कहते हैं:—

लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः ।
सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृताः ॥

अर्थात् सज्जनोंका कथन है कि व्याकरण, प्रमाणशास्त्र (न्याय), कलायें, छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र और (आर्हत, जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद, बौद्धादिके) दर्शनशास्त्र तीर्थमार्गके समान सर्वसाधारण हैं, अर्थात् जिस तरह गंगादिके मार्ग पर ब्राह्मण भी चल सकते हैं और चाण्डाल भी, उसी तरह इनपर भी सबका अधिकार है। +

इस उक्तिसे पाठक जान सकते हैं कि उनके विचार ज्ञानके सम्बन्धमें कितने उदार थे। उसे वे सर्वसाधारणकी चीज समझते थे और यही कारण है जो उन्होंने धर्माचार्य होकर भी अपने धर्मसे इतर धर्मके माननेवालोंके साहित्यका भी अच्छी तरहसे अध्ययन किया था, यही कारण है जो वे **पूज्यपाद** और **भट्ट अकलंकदेव**के साथ **पाणिनि** आदिका भी आदरके साथ उल्लेख करते हैं और यही कारण है जो उन्होंने अपना यह राजनीतिशास्त्र बीसों जैनेतर आचार्योंके विचारोंका सार खींचकर बनाया है। यह सच है कि उनका जैन सिद्धान्तों पर अचल विश्वास है और इसीलिए यशस्तिलकमें उन्होंने अन्य सिद्धा-

---

* यशस्तिलक आ० ४, पृ० १५३। इन्हीं आख्यानोंका उल्लेख नीतिवाक्यामृत (पृ०२३२) में भी किया गया है। आश्वास ३, पृ० ४३१ और ५५८ में भी ऐसे ही कई ऐतिहासिक दृष्टान्त दिये गये हैं।

× यश०आ०४ पृ०१३८—३९।

+ " लोको व्याकरणशास्त्रम्, युक्तिः प्रमाणशास्त्रम्,...समयागमाः जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यानां सिद्धान्ताः। सर्वसाधारणाः सद्भिः कथिताः प्रतिपादिताः। क इव तीर्थ मार्ग इव। यथा तीर्थमार्गे ब्राह्मणाश्चलन्ति, चाण्डाला अपि गच्छन्ति, नास्ति तत्र दोषः।"—श्रुतसागरीटीका।

न्तोंका खण्डन करके जैनसिद्धान्तकी उपादेयता प्रतिपादन की है; परन्तु इसके साथ ही वे इस सिद्धान्तके पक्के अनुयायी हैं कि 'युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।' उनकी यह नीति नहीं थी कि ज्ञानका मार्ग भी संकीर्ण कर दिया जाय और संसारके विशाल ज्ञान-भाण्डारका उपयोग करना छोड़ दिया जाय।

समय और स्थान।

नीतिवाक्यामृतके अन्तकी प्रशस्तिमें इस बातका कोई जिकर नहीं है कि वह कब और किस स्थानमें रचा गया था; परन्तु यशस्तिलक चम्पूके अन्तमें इन दोनों बातोंका उल्लेख है:—

" शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वद्यगराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति। "

अर्थात् चैत्र सुदी १३ शकसंवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को जिस समय श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओं पर विजय प्राप्त करके मेलपाटी नामक राजधानीमें राज्य करते थे और उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त बद्दिग—जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरीके प्रथम पुत्र थे—गंगाधाराका शासन करते थे, यह काव्य समाप्त हुआ।

दक्षिणके इतिहाससे पता चलता है कि ये कृष्णराजदेव राष्ट्रकूट या राठौर वंशके महाराजा थे और इनका दूसरा नाम अकालवर्ष था। यह वही वंश है जिसमें भगवज्जिनसेनके परमभक्त महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) उत्पन्न हुए

---

१ पाण्ड्य=वर्तमानमें मद्रासका 'तिनेवली'। सिंहल=सिलोन या लंका। चोल=मदरासका कारोमण्डल। चेर=केरल, वर्तमान त्रावणकोर। २ मुद्रित ग्रन्थमें 'मेल्पाटी' पाठ है। ३ मुद्रित पुस्तकमें 'श्रीमद्वागराजप्रवर्धमान—' पाठ है।

थे। अमोघवर्षके पुत्र अकालवर्ष (द्वितीय कृष्ण) और अकालवर्षके जगत्तुंग हुए *। इन जगत्तुंगके दो पुत्रों—इन्द्र या नित्यवर्ष और बद्दिग या अमोघवर्ष (तृतीय)मेंसे—अमोघवर्ष तृतीयके पुत्र कृष्णराजदेव या तृतीय कृष्ण थे। इनके समयके शक संवत् ८६७, ८७३, ८७८, और ८८१ के चार शिलालेख मिले हैं, इससे इनका राज्यकाल कमसे कम ८६७ से ८८१ तक सुनिश्चित है। ये दक्षिणके सार्वभौमराजा थे और बड़े प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराजने–जैसा कि सोमदेवसूरिने लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्डय और चेर राजाओंको युद्धमें पराजित किया था। इनके समयमें कनड़ी भाषाका सुप्रसिद्ध कवि पोन्न हुआ है जो जैन था और जिसने शान्तिपुराण नामक श्रेष्ठ ग्रन्थकी रचना की है। महाराज कृष्णराज देवके दरबारसे इसे 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

निजामके राज्यमें मलखेड़ नामका एक ग्राम है जिसका प्राचीन नाम 'मान्यखेट' है। यह मान्यखेट ही अमोघवर्ष आदि राष्ट्रकूट राजाओंकी राजधानी थी× और उस समय बहुत ही समृद्ध थी। संभव है कि सोमदेवने इसीको मेलपाटी या मेल्याटी लिखा हो। 'हिस्टरी आफ कनारी लिटरेचर' के लेखकने लिखा है कि पोन्न कविको उभयभाषाकविचक्रवर्तीकी उपधि देनेवाले राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजने मान्यखेटमें सन् ९३९ से ९६८ तक राज्य किया है। इससे भी मालूम होता है कि मान्यखेटका ही नाम मेलपाटी होगा; परन्तु यदि यह मेलपाटी कोई दूसरा स्थान है तो समझना होगा कि कृष्णराज देवके समयमें मान्यखेटसे राजधानी

---

* जगत्तुंग गद्दीपर नहीं बैठे। अकालवर्षके बाद जगत्तुंगके पुत्र तृतीय इन्द्रको गद्दी मिली। इन्द्रके दो पुत्र थे—अमोघवर्ष (द्वितीय) और गोविन्द (चतुर्थ)। इनमेंसे द्वितीय अमोघवर्ष पहले सिंहासनारूढ हुए; परंतु कुछ ही समयके बाद गोविन्द चतुर्थने उन्हें गद्दीसे उतार दिया और आप राजा बन बैठे। गोविन्दके बाद उनके काका अर्थात् जगत्तुंगके दूसरे पुत्र अमोघवर्ष (तृतीय) गद्दीपर बैठे। अमोघवर्षके बाद ही कृष्णराज देव सिंहासनासीन हुए। इन सबके विषयमें विस्तारसे जाननेके लिए डा० भाण्डारकरकृत 'हिस्ट्री आफ डेक्कन' या उसका मराठी अनुवाद पढ़िए।

× महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) के पहले राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मयूरखण्डी थी जो इस समय नासिक जिलेमें मोरखण्ड किलेके नामसे प्रसिद्ध है।

उठकर उक्त दूसरे स्थानमें चली गई थी। इस बातका पता नहीं लगता, कि मान्यखेटमें राष्ट्रकूटोंकी राजधानी कब तक रही।

राष्ट्रकूटोंके समयमें दक्षिणका चालुक्यवंश (सोलंकी) हतप्रभ हो गया था। क्योंकि इस वंशका सार्वभौमत्व राष्ट्रकूटोंने ही छीन लिया था। अतएव जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर ही रहे। जान पड़ता है कि **अरिकेसरीका** पुत्र **बद्दिग** ऐसा ही एक सामन्तराजा था जिसकी गंगाधारा नामक राजधानीमें यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है।

चालुक्योंकी एक शाखा ' जोल ' नामक प्रान्त पर राज्य करती थी जिसका एक भाग इस समयके धारवाड़ जिलेमें आता है और श्रीयुक्त आर. नरसिंहाचार्यके मतसे चालुक्य अरिकेसरीकी राजधानी ' पुलगेरी'में थी जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर'के नामसे प्रसिद्ध है।

इस अरिकेसरीके ही समयमें कनड़ी भाषाका सर्वश्रेष्ठ कवि **पम्प** हो गया है जिसकी रचना पर मुग्ध होकर अरिकेसरीने धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिकमें दिया था। पम्प जैन था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं— एक **आदिपुराण चम्पू** और दूसरा **भारत** या **विक्रमार्जुनविजय**। पिछले ग्रन्थमें उसने अरिकेसरीकी वंशावली इस प्रकार दी है— **युद्धमल्ल—अरिकेसरी—नारसिंह—युद्धमल्ल— बाद्दिग—युद्धमल्ल-नारसिंह और अरिकेसरी**। उक्त ग्रन्थ शक संवत् ८६३ (वि० ९९८ में) समाप्त हुआ है, अर्थात् वह यशस्तिलकसे कोई १८ वर्ष पहले बन चुका था। इसकी रचनाके समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उसके १८ वर्ष बाद— यशस्तिलककी रचनाके समय—उसका पुत्र राज्य करता होगा, यह सर्वथा ठीक जँचता है।

काव्यमाला द्वारा प्रकाशित यशस्तिलकमें अरिकेसरीके पुत्रका नाम '**श्रीमद्वागराज**' मुद्रित हुआ है; परन्तु हमारी समझमें वह अशुद्ध है। उसकी जगह '**श्रीमद्बद्दिगराज**' पाठ होना चाहिए। दानवीर सेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभंडारकी वि० सं० १४६४ की लिखी हुई प्रतिमें 'श्रीमद्वद्यगराजस्य' पाठ है और इससे हमें अपने कल्पना किये हुए पाठकी शुद्धतामें और भी अधिक विश्वास होता है। ऊपर जो हमने पम्पकवि-लिखित **अरिकेसरीकी** वंशावली दी है, उस पर पाठकोंको जरा बारीकीसे विचार करना चाहिए। उसमें **युद्धमल्ल**

नामके तीन, अरिकेसरी नामके दो और नारसिंह नामके दो राजा हैं। अनेक राजवंशोंमें प्रायः यही परिपाटी देखी जाती है कि पितामह और पौत्र या प्रपितामह और प्रपौत्रके नाम एकसे रक्खे जाते थे, जैसा कि उक्त वंशावलीसे प्रकट होता है*। अतएव हमारा अनुमान है कि इस वंशावलीके अन्तिम राजा अरिकेसरी (पम्पके आश्रयदाता) के पुत्रका नाम वद्दिग×ही होगा जो कि लेखकोंके प्रमादसे'वद्यग' या 'वाग' बन गया है।

'गंगाधारा' स्थान के विषयमें हम कुछ पता न लगा सके जो कि वद्दिगकी राजधानी थी और जहाँ यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है। संभवतः यह स्थान धारवाड़के ही आसपास कहीं होगा।

श्रीसोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृतकी रचना कब और कहाँ पर की थी, इस बातका विचार करते हुए हमारी दृष्टि उसकी संस्कृत टीकाके निम्न-लिखित वाक्यों पर जाती है:—

"अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावस्थायिपराक्रमपालितकस्य(कृत्स्न)कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रदुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः सकलपारिषदत्वाण्योति ग्रन्थस्य नानादर्शनप्रतिबद्धश्रोतॄणां तत्तदभीष्टश्रीकण्ठाच्युतविरंच्यर्हतां वाचनिकनमस्कृतिसूचनं तथा स्वगुरोः सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वकं शास्त्रस्य तत्कर्तृत्वं ख्यापयितुं सकलसत्त्वकृताभयप्रदानं मुनिचन्द्राभिधानः क्षपणकव्रतधर्त्ता नीतिवाक्यामृतकर्ता निर्विघ्नसिद्धिकरं....श्लोकमेकं जगाद–"-पृष्ठ २।

इसका अभिप्राय यह है कि कान्यकुब्जनरेश्वर महाराजा महेन्द्रदेवने पूर्वाचार्यकृत अर्थशास्त्र (कौटिलीय अर्थशास्त्र?) की दुर्बोधता और गुरुतासे खिन्न होकर ग्रन्थकर्त्ताको इस सुबोध, सुन्दर और लघु नीतिवाक्यामृतकी रचना करनेमें प्रवृत्त किया।

कन्नौजके राजा महेन्द्रपालदेवका समय वि० संवत् ९६० से ९६४ तक निश्चित हुआ है। कर्पूरमंजरी और काव्यमीमांसा आदिके कर्त्ता सुप्रसिद्ध कवि राज-

---

* दक्षिणके राष्ट्रकूटोंकी वंशावलीमें भी देखिए कि अमोघवर्ष नामके चार, कृष्ण या अकालवर्ष नामके तीन, गोविन्द नामके चार, इन्द्र नामके तीन और कर्क नामके तीन राजा लगभग २५० वर्षके बीचमें ही हुए हैं।

× श्रद्धेय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सोलंकियोंके इतिहास' (प्रथम भाग)में लिखा है कि सोमदेवसूरिने अरिकेसरीके प्रथम पुत्रका नाम नहीं दिया है; परन्तु ऐसा उन्होंने यशस्तिलककी प्रशस्तिके अशुद्ध पाठके कारण समझ लिया है; वास्तवमें नाम दिया है और वह 'वद्दिग' ही है।

शेखर इन्हीं महेन्द्रपालदेवके उपाध्याय थे*। परन्तु हम देखते हैं कि यशस्तिलक वि० संवत् १०१६ में समाप्त हुआ है और नीतिवाक्यामृत उससे भी पीछे बना है। क्योंकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें ग्रन्थकर्त्ताने अपनेको यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक महाकाव्यका कर्त्ता प्रकट किया है और इससे प्रकट होता है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे यशस्तिलकको समाप्त कर चुके थे। ऐसी अवस्थामें महेन्द्रपालदेवसे कमसे कम ५०–५१ वर्ष बाद नीतिवाक्यामृतका रचनाकाल ठहरता है। तब समझमें नहीं आता कि टीकाकारने सोमदेवको महेन्द्रपालदेवका समसामयिक कैसे ठहराया है। आश्चर्य नहीं जो उन्होंने किसी सुनी सुनाई किंवदन्तीके आधारसे पूर्वोक्त बात लिख दी हो।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकारका समय अज्ञात है; परंतु यह निश्चित है कि वे मूल ग्रन्थकर्तासे बहुत पीछे हुए हैं, क्योंकि और तो क्या वे उनके नामसे भी अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। यदि ऐसा न होता तो मंगलाचरणके श्लोककी टीकामें जो ऊपर उद्धृत हो चुकी है, वे ग्रन्थकर्ताका नाम 'मुनिचन्द्र' और उनके गुरुका नाम 'सोमदेव' न लिखते। इससे भी मालूम होता है कि उन्होंने ग्रन्थकर्त्ता और महेन्द्रदेवका समकालिकत्व किंवदन्तीके आधारसे ही लिखा है।

सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें एक जगह जो प्राचीन महाकवियोंकी नामावली दी है, उसमें सबसे अन्तिम नाम राजशेखरका है ×। इससे मालूम होता है कि राजशेखरका नाम सोमदेवके समयमें प्रसिद्ध हो चुका था, अत एव राजशेखर उनसे अधिक नहीं तो ५० वर्ष पहले अदृश्य हुए होंगे और महेन्द्रदेवके वे उपाध्याय थे। इससे भी नीतिवाक्यामृतका उनके समयमें या उनके कहनेसे बनना कम संभव जान पड़ता है।

और यदि कान्यकुब्जनरेशके कहनेसे सचमुच ही नीतिवाक्यामृत बनाया गया होता, तो इस बातका उल्लेख ग्रन्थकर्ता अवश्य करते; बल्कि महाराजा महेन्द्रपालदेव इसका उल्लेख करनेके लिए स्वयं उनसे आग्रह करते।

---

* देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग २, अंक १ में स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'अवन्तिसुन्दरी' शीर्षक नोट।

× "तथा—उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-गुणाढ्य-व्यास-भास-वोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायण-कुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु नेषु तेषूपाख्यानेषु च कथं तद्विषया महती प्रसिद्धिः।" —यशस्तिलक आ० ४, पृ० ११३।

पहले बतलाया जा चुका है कि सोमदेवसूरि देवसंघके आचार्य थे और जहाँ तक हम जानते हैं यह संघ दक्षिणमें ही रहा है। अब भी उत्तरमें जो भट्टारकोंकी गद्दियाँ हैं, उनमेंसे कोई भी देवसंघकी नहीं है। यशस्तिलक भी दक्षिणमें ही बना है और उसकी रचनासे भी अनुमान होता है कि उसके कर्त्ता दाक्षिणात्य हैं। ऐसी अवस्थामें उनका निर्ग्रन्थ होकर भी कान्यकुब्जके राजाकी सभामें रहना और उसके कहनेसे नीतिवाक्यामृतकी रचना करना असंभव नहीं तो विलक्षण अवश्य जान पड़ता है।

मूलग्रन्थ और उसके कर्त्ताके विषयमें जितनी बातें मालूम हो सकीं उन्हें लिखकर अब हम टीका और टीकाकारका परिचय देनेकी ओर प्रवृत्त होते हैं:—

टीकाकार।

जिस एक प्रतिके आधारसे यह टीका मुद्रित हुई है, उसमें कहीं भी टीकाकारका नाम नहीं दिया है। संभव है कि टीकाकारकी भी कोई प्रशस्ति रही हो और वह लेखकोंके प्रमादसे छूट गई हो। परन्तु टीकाकारने ग्रन्थके आरंभमें जो मंगलाचरणका श्लोक लिखा है, उससे अनुमान होता है कि उनका नाम बहुत करके 'हरिबल' होगा।

हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम्।
हरीज्यं च ब्रुवे टीका नीतिवाक्यामृतोपरि॥

यह श्लोक मूल नीतिवाक्यामृतके निम्नलिखित मंगलाचरणका बिल्कुल अनुकरण है:—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम्।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृत ब्रुवे॥

जब टीकाकारका मंगलाचरण मूलका अनुकरण है और मूलकारने अपने मंगलाचरणमें अपना नाम भी पर्यायान्तरसे व्यक्त किया है, तब बहुत संभव है कि टीकाकारने भी अपने मंगलाचरणमें अपना नाम व्यक्त करनेका प्रयत्न किया हो और ऐसा नाम उसमें हरिबल ही हो सकता है जिसके आगे मूलके सोमदेवके समान 'नत्वा' पद पड़ा हुआ है। यह भी संभव है कि हरिबल टीकाकारके गुरुका नाम हो और यह इसलिए कि सोमदेवको उन्होंने मूलग्रन्थकर्त्ताके गुरुका नाम

समझा है। यद्यपि यह केवल अनुमान ही है, परन्तु यदि उनका या उनके गुरुका नाम हरिबल हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

टीकाकारने मंगलाचरणमें हरि या वासुदेवको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि वे वैष्णव धर्मके उपासक होंगे।

वे कहाँके रहनेवाले थे और किस समयमें उन्होंने यह टीका लिखी है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु यह बात निःसंशय होकर कही जा सकती है कि वे बहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीतिके ग्रन्थपर टीका लिखनेकी उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषयके उपलब्ध साहित्यका उनके पास काफी संग्रह था और टीकामें उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है। नीतिवाक्यामृतके अधिकांश वाक्यकी टीकामें उस वाक्यसे मिलते जुलते अभिप्रायवाले उद्धरण देकर उन्होंने मूल अभिप्रायको स्पष्ट करनेका भरसक प्रयत्न किया है। विद्वान् पाठक समझ सकते हैं कि यह काम कितना कठिन है और इसके लिए उन्हें कितने ग्रन्थोंका अध्ययन करना पड़ा होगा; स्मरणशक्ति भी उनकी कितनी प्रखर होगी।

यह टीका पचासों ग्रन्थकारोंके उद्धरणोंसे भरी हुई है। इसमें किन किन कवियों, आचार्यों या ऋषियोंके श्लोक उद्धृत किये गये हैं, यह जाननेके लिए ग्रन्थके अन्तमें उनके नामोंकी और उनके पद्योंकी एक सूची वर्णानुक्रमसे लगा दी गई है, इसलिए यहाँ पर उन नामोंका पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक देखेंगे कि उसमें अनेक नाम बिल्कुल अपरिचित हैं और अनेक ऐसे हैं जिनके नाम तो प्रसिद्ध हैं; परन्तु रचनायें इस समय अनुपलब्ध हैं। इस दृष्टिसे यह टीका और भी बड़े महत्त्वकी है कि इससे राजनीति या सामान्यनीतिसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थकारोंकी रचनाके सम्बन्धमें अनेक नई नई बातें मालूम होंगी।

संशोधकके आक्षेप।

इस ग्रन्थकी प्रेसकापी और प्रूफ संशोधनका काम श्रीयुत पं० पन्नालालजी सोनीने किया है। आपने केवल अपने उत्तरदायित्व पर, मेरी अनुपस्थितिमें, कई टिप्पणियाँ ऐसी लगा दी हैं जिनसे टीकाकारके और उसकी टीकाके विषयमें एक बड़ा भारी भ्रम फैल सकता है, अतएव यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उन टिप्पणियों पर भी एक नज़र डाल ली जाय। सोनीजीकी टिप्पणियोंके आक्षेप दो प्रकारके हैं:—

१—टीकाकारने जो मनु, शुक्र और याज्ञवल्क्यके श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनुस्मृति, शुक्रनीति और याज्ञवल्क्यस्मृतिमें नहीं है। यथा पृष्ठ १६५ की टिप्पणी—" **श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ तु नास्ति। टीकाकर्त्रा स्वदौष्ट्येन ग्रन्थकर्तृपराभवाभिप्रायेण बहवः श्लोकाः स्वयं विरचय्य तत्र तत्र स्थलेषु विनिवेशिताः।** " अर्थात् यह श्लोक मनुस्मृतिमें तो नहीं है, टीकाकारने अपनी **दुष्टतावश** मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे स्वयं ही बहुतसे श्लोक बनाकर जगह जगह घुसेड़ दिये हैं।

२—इस टीकाकारने—जो कि निश्चयपूर्वक अजैन है—बहुतसे सूत्र अपने मतके अनुसार स्वयं बनाकर जोड़ दिये हैं। यथा पृष्ठ ४९ की टिप्पणी-"**अस्य ग्रन्थस्य कर्त्ता कश्चिदजैनविद्वानस्तीति निश्चितं। अतस्तेन स्वमतानुसारेण बहूनि सूत्राणि विरचय्य संयोजितानि। तानि च तत्र तत्र निवेदयिष्यामः।**"

पहले आक्षेपके सम्बन्धमें हमारा निवेदन है कि सोनीजी वैदिक धर्मके साहित्य और उसके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं; फिर भी उनके साहसकी प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने मनु या शुक्रके नामके किसी एक ग्रन्थके किसी एक संस्करणको देखकर ही अपनी अद्भुत राय दे डाली है। खेद है कि उन्हें एक प्राचीन विद्वानके विषयमें—केवल इतने ही कारणसे कि वह जैन नहीं है—इतनी बड़ी एकतरफा डिक्री जारी कर देनेमें जरा भी झिझक नहीं हुई!

सोनीजीने सारी टीकामें मनुके नामके पाँच श्लोकोंपर, याज्ञवल्क्यके एक श्लोकपर और शुक्रके दो श्लोकोंपर आपने नोट दिये हैं कि ये श्लोक उक्त आचार्योंके ग्रन्थोंमें नहीं हैं। सचमुच ही उपलब्ध मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और शुक्रनीतिमें उद्धृत श्लोकोंका पता नहीं चलता। परन्तु जैसा कि सोनीजी समझते हैं, इसका कारण टीकाकारकी दुष्टता या मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति नहीं है।

सोनीजीको जानना चाहिए कि हिन्दुओंके धर्मशास्त्रोंमें समय समय पर बहुत कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। अपने निर्माणसमयमें वे जिस रूपमें थे, इस समय उस रूपमें नहीं मिलते हैं। उनके संक्षिप्त संस्करण भी हुए हैं और प्राचीन ग्रन्थोंके नष्ट हो जानेसे उनके नामसे दूसरोंने भी उसी नामके ग्रन्थ बना दिये हैं। इसके सिवाय एक स्थानकी प्रतिके पाठोंसे दूसरे स्थानोंकी प्रतियोंके पाठ नहीं मिलते। इस विषयमें प्राचीन साहित्यके खोजियोंने बहुत कुछ छानबीन की है और इस

विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें उसके सुप्रसिद्ध सम्पादक पं० आर. शामशास्त्री लिखते हैं:—

"अतश्च चाणक्यकालिकं धर्मशास्त्रमधुनातनाद्याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रादन्यदेवासीदिति प्रतिभाति। एवमेव ये पुनर्मानव-बार्हस्पत्यौशनसा भिन्नाभिप्रायास्तत्र तत्र कौटिल्येन परामृष्टाः न तेऽधुनोपलभ्यमानेषु तत्तद्धर्मशास्त्रेषु दृश्यन्त इति कौटिल्यपरामृष्टानि तानि शास्त्राण्यन्यान्येवेति वाढं सुवचम्।"

अर्थात् इससे मालूम होता है कि चाणक्यके समयका याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र वर्तमान याज्ञवल्क्य शास्त्र (स्मृति) से कोई जुदा ही था। इसी तरह कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें जगह जगह बार्हस्पत्य, औशनस आदिसे जो अपने भिन्न अभिप्राय प्रकट किये हैं वे अभिप्राय इस समय मिलनेवाले उन धर्मशास्त्रोंमें नहीं दिखलाई देते। अतएव यह अच्छी तरह सिद्ध होता है कि कौटिल्यने जिन शास्त्रोंका उल्लेख किया है, वे इनके सिवाय दूसरे ही थे।

स्वर्गीय बाबू रमेशचन्द्र दत्तने अपने 'प्राचीन सभ्यताके इतिहास'में लिखा है कि प्राचीन धर्मसूत्रोंको सुधार कर उत्तरकालमें स्मृतियाँ बनाई गई हैं—जैसे कि मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियाँ। जो धर्मसूत्र खोये गये हैं उनमें एक मनुका सूत्र भी है जिससे कि पीछेके समयमें मनुस्मृति बनाई गई है। *

याज्ञवल्क्य स्मृतिके सुप्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर लिखते हैं:—"**याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चन प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास, यथा मनुप्रोक्तं भृगुः।**' अर्थात् याज्ञवल्क्यके किसी शिष्यने याज्ञवल्क्यप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके कहा–जिस तरह कि भृगुने मनुप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके मनुस्मृति लिखी है। इससे मालूम होता है कि उक्त दोनों स्मृतियाँ, मनु और याज्ञवल्क्यके प्राचीन शास्त्रोंके उनके शिष्यों या परम्पराशिष्यों द्वारा निर्मित किये हुए सार हैं और इस बातको तो सभी जानते हैं कि उपलब्ध मनुस्मृति भृगुप्रणीत है—स्वयं मनुप्रणीत नहीं।

बम्बईके गुजरातीप्रेसके मालिकोंने कुल्लूकभट्टकी टीकाके सहित मनुस्मृतिका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। उसके परिशिष्टमें ३५५ श्लोक

---

* रमेशबाबूने अपने इतिहासके चौथे भागमें इस समय मिलनेवाली पृथक् पृथक् बीसों स्मृतियों पर अपने विचार प्रकट किये हैं और उसमें बतलाया है कि अधिकांश स्मृतियाँ बहुत पीछेकी बनी हुई हैं और बहुतोंमें—जो प्राचीन भी हैं—बहुत पीछे तक नई नई बातें शामिल की जाती रही हैं।

ऐसे दिये हैं जो वर्तमान मनुस्मृतिमें तो नहीं मिलते हैं; परन्तु हेमाद्रि, मिताक्षरा, पराशरमाधवीय, स्मृतिरत्नाकर, निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें मनु, वृद्धमनु और बृहन्मनुके नामसे 'उक्तंच' रूपमें उद्धृत किये हैं। इसके सिवाय सैकड़ों श्लोक क्षेपकरूपमें भी दिये हैं, जिनकी कुल्लूक भट्टने भी टीका नहीं की है।

हमारे जैनग्रन्थोंमें भी मनुके नामसे अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं जो इस मनुस्मृतिमें नहीं है। उदाहरणार्थ स्वनामधन्य पं० टोडरमल्लजीने अपने **मोक्षमार्गप्रकाशके** पाँचवें अधिकारमें मनुस्मृतिके तीन श्लोक दिये हैं, जो वर्तमान मनुस्मृतिमें नहीं हैं ×। इसी तरह '**द्विजवदनचपेट**' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थमें भी मनुके नामसे ७ श्लोक उद्धृत हैं जिनमेंसे वर्तमान मनुस्मृतिमें केवल २ मिलते हैं, शेष ५ नहीं हैं।*

शुक्रनीति जो इस समय मिलती है उसके विषयमें तो विद्वानोंकी यह राय है कि वह बहुत पीछेकी बनी हुई है--पाँच छः सौ वर्षसे पहलेकी तो वह किसी तरह हो ही नहीं सकती। शुक्रका प्राचीन ग्रन्थ इससे कोई पृथक् ही था +। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें लिखा है कि शुक्रके मतसे दण्डनीति एक ही राजविद्या है, इसीमें सब विद्यायें गर्भित हैं; परन्तु वर्तमान शुक्रनीतिका कर्त्ता चारों विद्याओंको राजविद्या मानता है--' **विद्याश्चतस्र एवैताः** ' आदि (अ० १, श्लो० ५१)। अतएव इस शुक्रनीतिको शुक्रकी मानना भ्रम है।

इन सब बातों पर विचार करनेसे हम टीकाकार पर यह दोष नहीं लगा सकते कि उसने स्वयं ही श्लोक गढ़कर मनु आदिके नाम पर मढ़ दिये हैं। हम यह नहीं कहते कि वर्तमान मनुस्मृति उक्त टीकाकारके बादकी है, इस लिए उस समय यह न उपलब्ध होगी। क्योंकि टीकाकारसे भी पहले मूलकर्त्ता श्रीसोमदेवसूरिने भी मनुके बीसों श्लोक उद्धृत किये हैं और वे वर्तमान मनुस्मृतिमें मिलते हैं; अतएव टीकाकारके समयमें भी यह मनुस्मृति अवश्य होगी; परन्तु इसकी जो प्रति उन्हें उपलब्ध होगी, उसमें टीकोद्धृत श्लोकोंका रहना असंभव नहीं माना जा सकता।

× देखो मोक्षमार्गप्रकाशका बम्बईका संस्करण पृष्ठ० २०१।

* 'द्विजवदनचपेट' संस्कृत ग्रन्थ है, कोल्हापुरके श्रीयुत पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने 'जैनबोधक' में और स्वतंत्र पुस्तकाकार भी, अबसे कोई १२-१४ वर्ष पहले, मराठी टीकासहित प्रकाशित किया था।

+ देखो गुजराती प्रेसकी शुक्रनीतिकी भूमिका।

यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रन्थकर्त्ताने इन श्लोकोंको मनुके नामसे उद्धृत किया हो और उस ग्रन्थके आधारसे टीकाकारने भी उद्धृत कर लिया हो। जैसे कि अभी मोक्षमार्गप्रकाशके या द्विजवदनचपेटके आधारसे उनमें उद्धृत किये हुए मनुस्मृतिके श्लोकोंको, कोई नया लेखक अपने ग्रन्थमें भी लिख दे।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके श्लोकके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। अब रही शुक्रनीति, सो उसको प्राचीनतामें तो बहुत ही सन्देह है। वह तो इस टीकाकारसे भी पीछेकी रचना जान पड़ती है। इसके सिवाय शुक्रके नामसे तो टीकाकारने दो चार नहीं १७० के लगभग श्लोक उद्धृत किये हैं। तो क्या टीकाकारने वे सबके सब ही मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेकी गरजसे गढ़ लिये होंगे ? और मूलकर्त्ता तो इसमें अपनी कोई तौहीन ही नहीं समझते हैं। उन्होंने तो अपने यशस्तिलकमें न जाने कितने विद्वानोंके वाक्य और पद्य जगह जगह उद्धृत करके अपने विषयका प्रतिपादन किया है।

सोनीजीका दूसरा आक्षेप यह है कि टीकाकारने स्वयं ही बहुतसे सूत्र (वाक्य) गढ़कर मूलमें शामिल कर दिये हैं। विद्यावृद्धसमुद्देशके, नीचे लिखे २१ वें, २३ वें और २५ वें सूत्रोंको आप टीकाकर्त्ताका बतलाते हैं:--

१--" वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः ॥ " २१

२—" बालाखिल्य औदम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः " ॥ २३

३—" कुटीरकवहोदक-हंस-परमहंसा यतयः" ॥ २५

इसका कारण आपने यह बतलाया है कि मुद्रित पुस्तकमें और हस्तलिखित मूल-पुस्तकमें ये सूत्र नहीं हैं। परन्तु इस कारणमें कोई तथ्य नहीं दिखलाई देता क्योंकि-

१—जब तक दश पाँच हस्तलिखित प्रतियाँ प्रमाणमें पेश न की जा सकें, तब तक यह नहीं माना जा सकता कि मुद्रित और मूलपुस्तकमें जो पाठ नहीं हैं वे मूलकर्त्ताके नहीं हैं–ऊपरसे जोड़ दिये गये हैं। इस तरहके हीन अधिक पाठ जुदी जुदी प्रतियोंमें अकसर मिलते हैं।

२—मूलकर्त्ताने पहले वर्णोंके भेद बतलाकर फिर आश्रमोंके भेद बतलाये हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति। फिर ब्रह्मचारियोंके उपकुर्वाण, नैष्ठिक, और कुलप्रद ये तीन भेद बतलाकर उनके लक्षण दिये हैं। इसके आगे गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतियोंके लक्षण क्रमसे दिये हैं ; तब यह स्वाभाविक और क्रमप्राप्त है कि ब्रह्मचारियोंके समान गृहस्थों, वानप्रस्थों और यतियोंके भी

भेद बतलाये जायँ और वे ही उक्त तीन सूत्रोंमें बतलाये गये हैं। तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकरणके अनुसार उक्त तीनों सूत्र अवश्य रहने चाहिए और मूलकर्त्ताने ही उन्हें रचा होगा। जिन प्रतियोंमें उक्त सूत्र नहीं हैं; उनमें इन्हें भूलसे ही छूटे हुए समझने चाहिए।

३—यदि इस कारणसे ये मूलकर्त्ताके नहीं हैं कि इनमें बतलाये हुए भेद जैनमतसम्मत नहीं हैं, तो हमारा प्रश्न है कि उपकुर्वाण, कृतुप्रद आदि ब्रह्मचारियोंके भेद भी तो किसी जैनग्रन्थमें नहीं लिखे हैं, तब उनके सम्बन्धके जितने सूत्र हैं, उन्हें भी मूलकर्त्ताके नहीं मानने चाहिए। यदि सूत्रोंके मूलकर्त्ताकृत होनेकी यही कसौटी सोनीजी ठहरा देवें, तब तो इस ग्रन्थका आधेसे भी अधिक भाग टीकाकारकृत ठहर जायगा। क्योंकि इसमें सैकड़ों ही सूत्र ऐसे हैं जिनका जैनधर्मके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और कोई भी विद्वान् उन्हें जैनसम्मत सिद्ध नहीं कर सकता।

४—जिसतरह टीकापुस्तकमें अनेक सूत्र अधिक हैं और जिन्हें सोनीजी टीकाकर्ताकी गढन्त समझते हैं, उसी प्रकार मुद्रित और मूलपुस्तकमें भी कुछ सूत्र अधिक हैं (जो टीकापुस्तकमें नहीं हैं), तब उन्हें किसकी गढन्त समझनी चाहिए ? विद्यावृद्धसमुद्देशके ५९ वें सूत्रके आगे निम्नलिखित पाठ छूटा हुआ है जो मुद्रित और मूलपुस्तकमें मौजूद है:—

" **सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी। बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वं)। प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्वमवलम्बते। रजः फलं चाफलं च परिहरति, तमोभिर्नाभिभूयते।** "

भला इन सूत्रोंको टीकाकारने क्यों छोड़ दिया ? इसमें कही हुई बातें तो उसके प्रतिकूल नहीं थीं ? और मुद्रित तथा मूलपुस्तक दोनों ही यदि जैनोंके लिए विशेष प्रामाणिक मानी जावें तो उनमें यह अधिक पाठ नहीं होना चाहिए था। क्योंकि इसमें वेदविरोधी होनेके कारण जैन और बौद्धदर्शनको आन्वीक्षिकीसे बाहर कर दिया है। और मुद्रितपुस्तकमें तो मूलकर्ताके मंगलाचरण तकका अभाव है। वास्तविक बात यह है कि न इसमें टीकाकारका दोष है और न मुद्रित करानेवालेका। जिसे जैसी प्रति मिली है उसने उसीके अनुसार टीका लिखी है और पाठ छपाया है। एक प्रतिसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी इस तरह प्रतियाँ होते होते लेखकोंके प्रमादसे अकसर पाठ छूट जाते हैं और टिप्पण आदि मूलमें शामिल हो जाते हैं।

हम समझते हैं कि इन बातोंसे पाठकोंका यह भ्रम दूर हो जायगा कि टीकाकारने कुछ सूत्र स्वयं रचकर मूलमें जोड़ दिये हैं। यह केवल सोनीजीके मस्तककी उपज है और निस्सार है। खेद है कि हमें उनकी भ्रमपूर्ण टिप्पणियोंके कारण भूमिकाका इतना अधिक स्थान रोकना पड़ा।

एक विचारणीय प्रश्न।

इस आशासे अधिक बढ़ी हुई भूमिकाको समाप्त करनेके पहले हम अपने पाठकोंका ध्यान इस ओर विशेषरूपसे आकर्षित करना चाहते हैं कि वे इस ग्रन्थका जरा गहराईके साथ अध्ययन करें और देखें कि इसका जैनधर्मके साथ क्या सम्बन्ध है। हमारी समझमें तो इसका जैनधर्मसे बहुत ही कम मेल खाता है। राजनीति यदि धर्मनिरपेक्ष है, अर्थात् वह किसी विशेष धर्मका पक्ष नहीं करती, तो फिर इसका जिस प्रकार जैनधर्मसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार और धर्मोंसे भी नहीं रहना चाहिए था। परंतु हम देखते हैं कि इसका वर्णाचार और आश्रमाचारकी व्यवस्थाके लिए वैदिक साहित्यकी ओर बहुत अधिक झुकाव है। इस ग्रन्थके विद्यावृद्ध, आन्वीक्षिकी और त्रयी समुद्देशोंको अच्छी तरह पढ़नेसे पाठक हमारे अभिप्रायको अच्छी तरह समझ जावेंगे। जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोंको चाहिए कि वे इस प्रश्नका विचारपूर्वक समाधान करें कि एक जैनाचार्यकी कृतिमें आन्वीक्षिकी और त्रयीको इतनी अधिक प्रधानता क्यों दी गई है।

यशस्तिलकके नीचे लिखे पद्योंको भी इस प्रश्नका उत्तर सोचते समय सामने रख लेना चाहिए:—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
> लोकाश्रयो भवेदाद्यः परस्यादागमाश्रयः॥
> जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
> श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः॥
> स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्।
> तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम्॥
> यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा।
> संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः॥

तथा च—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

कहीं श्रीसोमदेवसूरि वर्णाश्रमव्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिक साहित्यको लौकिक धर्म तो नहीं समझते हैं ! और इसी लिए तो यह नहीं कहते हैं कि यदि इस विषयमें श्रुति (वेद) और शास्त्रान्तर (स्मृतियाँ) प्रमाण माने जावें तो हमारी क्या हानि है ? राजनीति भी तो लौकिक शास्त्र ही है ।

हमको आशा है कि विद्वज्जन इस प्रश्नको ऐसा ही न पड़ा रहने देंगे ।

मुद्रण-परिचय ।

अबसे कोई २५ वर्ष पहले बम्बईकी मेसर्स गोपल नारायण कम्पनीने इस ग्रन्थको एक संक्षिप्त व्याख्याके साथ प्रकाशित किया था और लगभग उसी समय विद्याविलासी बड़ोदानरेशने इसके मराठी और गुजराती अनुवाद प्रकाशित कराये थे । उक्त तीनों संस्करणोंको देखकर—जिन दिनों मैं स्वर्गीय स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजीकी अधीनतामें जैनमित्रका सम्पादन करता था—मेरी इच्छा इसका हिन्दी अनुवाद करनेकी हुई और तदनुसार मैंने इसके कई समुद्देशोंका अनुवाद जैनमित्रमें प्रकाशित भी किया; परन्तु इसके आन्वीक्षिकी और त्रयी आदि समुद्देशोंका जैनधर्मके साथ कोई सामञ्जस्य न कर सकनेके कारण मैं अनुवादकार्यको अधूरा ही छोड़ कर इसकी संस्कृत टीकाकी खोज करने लगा ।

तबसे, इतने दिनोंके बाद, यह टीका प्राप्त हुई और अब यह माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके द्वारा प्रकाशित की जा रही है । खेद है कि इसके मध्यके २५-२६ पत्र गायब हैं और वे खोज करनेपर भी नहीं मिले । इसके सिवाय इसकी कोई दूसरी प्रति भी न मिल सकी और इस कारण इसका संशोधन जैसा चाहिए वैसा न कराया जा सका । दृष्टि दोष और अनवधानतासे भी बहुतसी अशुद्धियाँ रह गई हैं । फिर भी हमें आशा है कि मूलग्रन्थके समझनेमें इस टीकासे काफी सहायता मिलेगी और इस दृष्टिसे इस अपूर्ण और अशुद्धरूपमें भी इसका प्रकाशित करना सार्थक होगा ।

हस्तलिखित प्रतिका इतिहास ।

पहले जैनसमाजमें शास्त्रदान करनेकी प्रथा विशेषतासे प्रचलित थी । अनेक धनी मानी गृहस्थ ग्रन्थ लिखा लिखाकर जैनसाधुओं और विद्वानोंको दान

किया करते थे और इस पुण्यकृत्यसे अपने ज्ञानावरणीय कर्मका निवारण करते थे। बहुतोंने तो इस कार्यके लिए लेखनशालायें ही खोल रक्खी थीं जिनमें निरन्तर प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थोंकी प्रतियाँ होती रहती थीं। यही कारण है जो उस समय मुद्रणकला न रहने पर भी ग्रन्थोंका यथेष्ट प्रचार रहता था और ज्ञानका प्रकाश मन्द नहीं होने पाता था। स्त्रियोंका इस ओर और भी अधिक लक्ष्य था। हमने ऐसे पचासों हस्तलिखित ग्रन्थ देखे हैं जो धर्मप्राणा स्त्रियोंके द्वारा ही दान किये गये हैं।

इस शास्त्रदान प्रथाको उत्तेजित करनेके लिए उस समयके विद्वान् प्रायः प्रत्येक दान किये हुए ग्रन्थके अन्तमें दाताकी प्रशस्ति लिख दिया करते थे जिसमें उसका और उसके कुटुम्बका गुणकीर्तन रहा करता था। हमारे प्राचीन पुस्तक भंडारोंके ग्रन्थोंमेंसे इस तरहकी हजारों प्रशस्तियाँ संग्रह की जा सकती हैं जिनसे इतिहास-सम्पादनके कार्यमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

नीतिवाक्यामृतटीकाकी वह प्रति भी जिसके आधारसे यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है इसी प्रकार एक धनी गृहस्थकी धर्मप्राणा स्त्रीके द्वारा दान की गई थी। ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उससे मालूम होता है कि कार्तिक सुदी ५ विक्रमसंवत् १५४१ को, हिसार नगरके चन्द्रप्रभचैत्यालयमें, सुलतान बहलोल (लोदी) के राज्यकालमें, यह प्रति दान की गई थी।

नागपुर या नागौरके रहनेवाले खण्डेलवालवंशीय क्षेत्रपालगोत्रीय संघपति कामाकी भार्या साध्वी **कमलश्री**ने हिसारनिवासी पं० मेहा या मीहाको इसे भक्तिभावपूर्वक भेट किया था।

कल्हू नामक संघपतिकी भार्याका नाम **राणी** था। उसके चार पुत्र थे— **हंबा, धीरा, कामा** और **सुरपति**। इनमेंसे तीसरे पुत्र संघपति कामाकी भार्या उक्त साध्वी कमलश्री थी जिसने ग्रन्थ दान किया था। कमलश्रीसे **भीवा** और **वच्छूक** नामके दो पुत्र थे। इनमेंसे भीवाकी भार्या **भिउंसिरि**के **गुरुदास** नामक पुत्र था जिसकी **गुणश्री** भार्याके गर्भसे **रणमल्ल** और **जट्ट** नामके दो पुत्र थे। दूसरे **वच्छूक**की भार्या **वउसिरि**के **रावणदास** पुत्र था जिसकी स्त्रीका नाम **सरस्वती** था।

पाठक देखें कि यह परिवार कितना बड़ा और कितना दीर्घजीवी था। कमलश्रीके सामने उसके प्रपौत्र तक मौजूद थे।

पण्डित मेहा या मीहाका दूसरा नाम पं० मेधावी था। ये वही मेधावी हैं जिन्होंने **धर्मसंग्रहश्रावकाचार** नामका ग्रन्थ बनाया है और जो मुद्रित हो चुका है। पं० मीहा अपनी गुरुपरम्पराके विषयमें कहते हैं कि नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छके भट्टारक **पद्मनन्दि**के शिष्य भ० **शुभचन्द्र** और उनके शिष्य भ० **जिनचन्द्र** मेरे गुरु थे। जिनचन्द्रके दो शिष्य और थे—एक रत्ननन्दि और दूसरे विमलकीर्ति।

यह पुस्तकदाताकी प्रशस्ति पं० मेधावीकी ही लिखी हुई मालूम होती है। उन्होंने **त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति**, मूलाचारकी **वसुनन्दिवृत्ति** आदि ग्रन्थोंमें और भी कई बड़ी बड़ी प्रशस्तियाँ लिखी हैं। वसुनन्दि वृत्तिकी प्रशस्ति वि० सं० १५१६ की और त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की १५१९ की लिखी हुई है *। धर्मसंग्रहश्रावकाचार उन्होंने कार्तिक वदी १३ सं० १५४१ को समाप्त किया है। नीतिवाक्यामृतटीकाकी यह प्रशस्ति धर्मसंग्रहके समाप्त होनेके कोई आठ दिन बाद ही लिखी गई है।

धर्मसंग्रहमें पं० मेधावीने अपने पिताका नाम **उद्धरण**, माताका **भीषुही** और पुत्रका **जिनदास** लिखा है। वे अग्रवाल जातिके थे और अपने समयके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने दक्षिणके पुस्तकगच्छके आचार्य **श्रुतमुनि**से अन्य कई विद्वानोंके साथ **अष्टसहस्री** (विद्यानन्दस्वामीकृत) पढ़ी थी। जान पड़ता है कि उस समय हिसारमें जैन विद्वानोंका अच्छा समूह था। भट्टारकोंकी गद्दी भी शायद वहाँ पर थी।

यह टीकापुस्तक हिसारसे आमेरके पुस्तक भंडारमें कब और कैसी पहुँची, इसका कोई पता नहीं है। आमेरके भंडारमेंसे सं० १९६४ में भट्टारक महेन्द्रकीर्ति द्वारा यह बाहर निकाली गई और उसके बाद जयपुर निवासी पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीके प्रयत्नसे हमको इसकी प्राप्ति हुई। इसके लिए हम भट्टारकजी और शास्त्रीजी दोनोंके कृतज्ञ हैं।

इस प्रतिमें १३३ पत्र हैं और प्रत्येक पृष्ठमें प्रायः २० पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पत्रकी लम्बाई ११॥ इंच और चौड़ाई ५॥ इंचसे कुछ कम है। ५१ से ७५ तकके पृष्ठ मौजूद नहीं हैं।

बम्बई।
पौषशुक्ला तृतीया
१९७९ वि०।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

---

* देखो जैनहितैषी भाग १५, अंक ३–४।

विषय-सूची।

भूमिका।

ग्रन्थ-परिचय।

मत्सोमदेवसूरिका यह 'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत साहित्य-सागरका एक अमू-ल्य और अनुपम रत्न है। इसका प्रधान विषय राजनीति है। राजा और उसके राज्यशासनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी आवश्यक बातोंका इसमें विवेचन किया गया है। यह सारा ग्रन्थ गद्यमें है और सूत्रपद्धतिसे लिखा गया है। इसकी प्रतिपादनशैली बहुत ही सुन्दर, प्रभावशालिनी और गंभीरतापूर्ण है। बहुत बड़ी बातको एक छोटेसे वाक्यमें कह देनेकी कलामें इसके कर्ता सिद्धहस्त हैं। जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही प्रकट होता है, इसमें विशाल नीतिसमुद्रका मन्थन करके सारभूत अमृत संग्रह किया गया है और इसका प्रत्येक वाक्य इस बातकी साक्षी देता है। नीतिशास्त्रके विद्यार्थी इस अमृतका पान करके अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे।

यह ग्रन्थ ३२ समुद्देशोंमें * विभक्त है और प्रत्येक समुद्देशमें उसके नामके अनुसार विषय प्रतिपादित है।

प्राचीन राजनीतिक साहित्य।

राजनीति, चार पुरुषार्थोंमेंसे दूसरे अर्थपुरुषार्थके अन्तर्गत है। जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारतवासियोंने 'धर्म' और 'मोक्ष' को छोड़कर अन्य पुरुषार्थोंकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, वे इस देशके प्राचीन साहित्यसे अप-रिचित हैं। यह सच है कि पिछले समयमें इन विषयोंकी ओरसे लोग उदासीन होते गये, इनका पठन पाठन बन्द होता गया और इस कारण इनके सम्बन्धका जो साहित्य था वह धीरे धीरे नष्टप्राय होता गया। फिर भी इस बातके प्रमाण मिलते हैं कि राजनीति आदि विद्याओंकी भी यहाँ खूब उन्नति हुई थी और इनपर अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

---

* "समुद्देशश्च संक्षेपाभिधानम्" —कामसूत्रटीका अ० १।

वात्स्यायनके कामसूत्रमें लिखा है कि प्रजापतिने प्रजाके स्थितिप्रबन्धके लिए त्रिवर्गशासन—(धर्म-अर्थ-कामविषयक महाशास्त्र) बनाया जिसमें एक लाख अध्याय थे। उसमेंके एक एक भागको लेकर मनुने धर्माधिकार, बृहस्पतिने अर्थाधिकार और नन्दीने कामसूत्र, इस प्रकार तीन अधिकार बनाये *। इसके बाद इन तीनों विषयोंपर उत्तरोत्तर संक्षिप्त ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। पुराणोंमें भी लिखा है कि प्रजाप्रतिके उक्त एक लाख अध्यायवाले त्रिवर्ग-शासनको नारद, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर, मनु, अन्यान्य महर्षि और विष्णुगुप्त (चाणक्य) ने संक्षिप्त करके पृथक् पृथक् ग्रन्थोंकी रचना की +। परन्तु इस समय उक्त सब साहित्य प्रायः नष्ट हो गया है। कामपुरुषार्थ पर वात्स्यायनका **कामसूत्र**, अर्थपुरुषार्थ पर विष्णुगुप्त या चाणक्यका **अर्थशास्त्र** और धर्मपुरुषार्थ पर मनुके धर्म-शास्त्रका संक्षिप्तसार '**मानव धर्मशास्त्र**'—जो कि भृगु नामक आचार्यका संग्रह किया हुआ है और मनुस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध है—उपलब्ध है।

उक्त ग्रन्थोंमेंसे राजनीतिका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' अभी १३–१४ वर्ष पहले ही उपलब्ध हुआ है और उसे मैसूरकी यूनीवर्सिटीने प्रकाशित किया है। यह अबसे लगभग २२०० वर्ष पहले लिखा गया था। सुप्रसिद्ध

---

* "प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच। तस्यैकदेशिकं मनुः स्वायंभुवो धर्माधिकारकं पृथक् चकार। बृहस्पतिरर्थाधिकारम्। नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक्कामसूत्रं चकार।"

—कामसूत्र अ० १।

+ ब्रह्माध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजं।
तन्नारदेन शक्रेण गुरुणा भार्गवेण च॥
भारद्वाजविशालाक्षभीष्मपाराशरैस्तथा।
संक्षिप्तं मनुना चैव तथा चान्यैर्महर्षिभिः॥
प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय च महात्मना।
संक्षिप्तं मनुना चैव तथा चान्यैर्महर्षिभिः॥
प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय च महात्मना।
संक्षिप्तं विष्णुगुप्तेन नृपाणामर्थसिद्धये॥

ये श्लोक हमने गुजरातीटीकासहित कामन्दकीय नीतिसारकी भूमिका परसे उद्धृत किये हैं; परन्तु उससे यह नहीं मालूम हो सका कि ये किस पुराणके हैं।

श्रीवीतरागाय नमो नमः ।

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचितं

नीतिवाक्यामृतम् ।

सटीकम् ।

१ धर्मसमुद्देशः ।

हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम् ।
हरीज्यं च ब्रुवे टीकां नीतिवाक्यामृतोपरि ॥ १ ॥

टीका——अहं ब्रुवे वच्मि । कां ? कर्मतापन्नां टीकां । क ? नीतिवाक्यामृतोपरि——नीतिवाक्यान्येवामृतं नीतिवाक्यामृतं तस्योपरि तदर्थमित्यर्थः। किं कृत्वा ? नत्वा । कं ? हरिं——वासुदेवं । किंविशिष्टं हरिं ? हरिबलं हरिर्वायुस्तस्येव बलं यस्यासौ हरिबलस्तं हरिबलं । पुनरपि कथंभूतं ? हरिवर्णं——हरिशब्देन मरकतमभिधीयते तद्वद्वर्णो यस्यासौ हरिवर्णस्तं हरिवर्णं । पुनरपि कथंभूतं ? हरिप्रभं——हरिरादित्यस्तद्वत् प्रभा तेजोलक्ष्मणा यस्यासौ हरिप्रभस्तं हरिप्रभं । पुनरपि कथंभूतं ? हरीज्यं — हरिरिन्द्रस्तस्येज्यः पूज्यो हरीज्यस्तं हरीज्यमिति ॥

नत्वा कर्त्रीं [illegible] दुर्बोध[illegible] ।
नीतिवाक्यामृतेऽमुष्मिन्[illegible] किञ्चिद्विवार्यते ॥ २ ॥

अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावतंसाग्रिमपरा-क्रमपालितकस्य कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमन्महेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थ-शास्त्रदुरवबोधग्रंथगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृत-रचनासु प्रवर्त्तितः, सकलपारिषदत्वान्नीतिग्रंथस्य नामादर्शनप्रतिबद्ध-श्रोतॄणां तत्तदभीष्टः श्रीकंठाच्युतविरंच्यर्हतां वाचनिकनमस्कृतिसूचनम्। तथा स्वगुरोः सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वकं शास्त्रस्य तत्कर्तृत्वं ख्याप-यितुं सकलसत्वकृताभयप्रदानं मुनिचंद्राभिधानः क्षपणकव्रतधर्त्ता नीति-वाक्यामृतकर्त्ता निर्विघ्नसिद्धिकरं सकलकल्मषहरं प्रकटार्थपंचकप्रपंचकं श्लोकमेकं जगाद—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् ।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥ १ ॥

टीका—अत्र तु श्रीमन्महेन्द्रपालदेवस्य परमेश्वरपार्वतीपतौ नितांत-भक्तितत्परतां विचिन्त्य प्रथमचराचरगुरुं प्रमथनाथमुररीकृत्य व्याख्या-यते। नयनं विजिगीषोस्त्रिवर्गेण संयोजनं नीतिः, नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु स्वेषु सदाचारेषु चतुर्वर्णाश्रमलक्षणो लोको यस्यां वा सा नीतिः, नीतेर्वाक्यानि वचनरचनाविशेषास्तान्येवामृतमिवामृतं श्रोतृश्रोत्रविवरान-वरतामन्दसुन्दरसुखसंदोहदायकत्वात्, राज्ञो वाऽनेकार्थसमुत्पन्नसंमोह-महामूर्च्छापरिहारित्वात्, नीतिवाक्यामृतमहं ब्रुवे—यथावत्प्रतिपादयामि। किं कृत्वा ? नत्वा मनोवचनसंहननजन्मना नमस्कारेण प्रणम्य। कं ? भवं भवन्त्यस्मादुत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपाणि चराचराणीति भवः सकल-नाकिनिकायनायकः पिनाकीति क्रियासंबंधः। किंविशिष्टं भवं ? सोमं—

१ शिवपक्षे सोमसंभवमित्यस्य सोमसं भवमिति पदद्वयम् ।

सहोमया गौर्या वर्तत इति सोमसं । उमाशब्दस्य बह्वर्थेषु वर्तमानत्वेऽप्यत्र गौर्येवोच्यते प्रस्तावादौचित्याद्वा, यतः प्रस्तावादौचित्याद्वुपमानदेशकालयुक्तिवशाच्छब्दार्थावगतिः, न तु शब्दात्केवलादेव । सोमसमाकारमिति—सहोमया कीर्त्या वर्तत इति सोमः । तथा हि—

गौरीश्रीभारतीकांतिकीर्तिदुर्गापुलोमजाः ।
उमाशब्देन कथ्यंते कार्यस्तुंगोपमार्चिषः ॥ १ ॥

सह मया लक्ष्म्याऽष्टाणिमादिगुणैश्वर्यरूपया वर्तते इति समः ।

चन्द्रे छन्दसि लक्ष्म्यां च तथा शंकानिषेधयोः ।
माने माशब्दसंबंधः कथ्यते शब्दचिन्तकैः ॥ १ ॥

सोमश्चासौ समश्च सोमसमः सोमसम आकारो यस्य तं कीर्तिलक्ष्मीसमावेशितशरीरावयवसंहतिं । सोमाभमिति—सोमस्येवाभा यस्यासौ सोमाभः चन्द्रकान्तिः । तथा हि—

ध्यायेद्दशभुजं शांतं कुन्देन्दुधवलं शिवं ॥ १/२ ॥

इत्यागमः । तथा भस्मावगुंठनात्पांडुरंगाभस्त्वं । सोमसमिति—सोमसंबंधात्सौत्रामणिप्रभृतिकोऽपि यज्ञस्ततः सोमशब्देनोपचारादभिधीयते । "षोऽन्तकर्मणि" धातोः सोमं स्यतीति वाक्ये आतोऽनुपसर्गात्कप्रत्यये कृते सति सोमसमिति सिद्धे सति तं सोमसं । श्रूयते हि दक्षाध्वरे दाक्षायिणीकोपितेन भगवता भवानीपतिना तच्छिरश्छेदः कृत इति । तथा च शिवपुराणे;—

" छिन्नं शिरो भगवताऽस्य महेश्वरेण
दक्षाध्वरस्य कुपितेन कृते भवान्या " इत्यादि ।

यथा च मार्कण्डेयः;—

चिच्छेद भगवान् क्रुद्धः शिरो यज्ञस्य शंकरः ॥ १/२ ॥

श्रुतावपि शाखाभेदतः पृथक् यज्ञशिरोद्वयमभिहितमिति । सोमदेवमिति;—

सोमेन दीव्यति द्युतिमान् भवति सोमेनोपलक्षितो देवः सोम-देवश्चन्द्रमौलिस्तं। मुनिमिति "मीञ् हिंसायां" मीनाति हिनस्ति काले कालाग्निरुद्ररूपेण चराचराणि भूतानीति मुनिस्तं। इत्यादिसंज्ञाशब्दानां निपातकालसिद्धिः। तमित्थंभूतं देवं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रवे। इत्येकः पक्षे महेश्वरः ॥

अथाच्युतं प्रति व्याख्या—तत्र विशेष्यं पदं सोमदेवमिति—सोम-संबंधात् सोमशब्देन यज्ञोऽप्युपचर्यते, सोमे यज्ञे दीव्यते देववाक्यैः स्तूयते यथा सोमदेवस्य यज्ञस्य देवप्रभुः क्रतुपुरुष इति यावत् तं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुव इति संबंधः। कथंभूतं? सोमं—सलक्ष्मीकं। सोमसमाकारं—उकारो ब्रह्मा मकारो महेश्वरस्तथा चागमः;—

अकारेण भवेद्विष्णुर्मकारेण महेश्वरः।
उकारश्च स्वयं ब्रह्मा प्रणवे त्रितयं स्थितम् ॥ १ ॥

एवं उश्च मश्च उं सह उंभ्यां वर्त्तत इति सों त्रयीमूर्त्तिः। यथा चागमः;—

यो ब्रह्मा स स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः।
एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ १ ॥

कालिदासोऽप्येवमाह—"**नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्य**" मित्यादि। असमाकारमिति—असमा महाप्रमाणा आकाराः प्रादुर्भावा मत्स्यकूर्मा-द्याकृतिग्रहणानि यस्य तत्तथा। सों चासौ असमाकारश्च सोमसमाकारस्तं सोमसमाकारं। सोमाभमिति—उमा अतसी तदवयवेषु पुष्पेष्वपि उमाशब्द उपचर्यते तथा सुरतित्रिचकिलप्राय इति, उमावदाभोमाभा सहोमाभया वर्त्तत इति सोमाभः कृष्णवर्णस्तं। सोमसंभवं—सोमाः सकीर्त्तिकाः संभवा वामनपरशुरामादयो जन्मावतारा यस्य स तथा तं।

---

१ विष्णुपक्षे सोमसमाकारमित्यस्य सों, असमाकारं इति पदद्वयम्।

२ कृष्णशब्दोऽयं द्विरुक्तः पुस्तके।

मुनिमिति—मिमीते इयत्तया परिच्छिनत्ति विक्रमक्रमेण त्रिभुवनमिति मुनिः । इति द्वितीयो वैष्णवः पक्षः ॥

अथ विरंचिपक्षे व्याख्यानं—तत्र मुनिमिति विशेष्यपदं । गम्यतेऽवबुध्यते जगतां नानारूपभूतता परमाणुर्यथावदुत्पत्तिरिति मुनिर्विधाता लोकानां । किं भूतं ? सोमं—सभारतीकं । सोमसमाकारमिति—सह ॐकारेण वर्त्तत इति सों सदा वेदाध्ययनादध्यापनात् व्याख्यानाच्च प्रणवपूर्वकत्वात्प्रवृत्तः सप्रणवः । तथा हि—

" उद्गीथः प्रणवो यासा " मित्यादि ।

" क्षरत्यनेकृतं ब्रह्म " त्याद्यपि वा ।

तदा तन्नयव्यापारः सों । असमाना अनन्यसदृशः अकाराः परमाणुभिरभिव्याप्ताः कार्यवस्तुकारणानि यस्य स तथा सा चोमा च समाकारश्च तं । सोमाभमिति—उमा कीर्तिः, आभा कान्तिः सह ताभ्यामुमाभाभ्यां वर्तते इति सोमाभ इति कान्तिकीर्तियुक्तस्तं । सोमस्य यज्ञस्य संभवः सम्बन्धो यस्य । तथा च—

सम्बन्धः सम्भवः प्रोक्ता उत्पत्तिरपि सम्भवः ॥ १ ॥

यदि वा सोमो यज्ञः सम्भवत्यस्मात् यज्ञानां तस्यैवादिकर्तृकत्वात् । अत एव सोमदेवमिति—सोमेन सोमवल्लीरसेन दीव्यति क्रीडति सोमदेवस्तं सोमदेवं । तथा च—

ययौ यज्ञे सुरैः सार्द्धं सोमं प्रीतः प्रजापतिः ॥ २ ॥

तं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे । इति तृतीयः पक्षो ब्राह्मः ॥

अथार्हत्पक्षे व्याख्या—सोमाभमिति विशेष्यपदं । सोमस्येवाभा यस्यासौ सोमश्चन्द्रः, आभा प्रभा एव सोमाभा इत्यष्टमतीर्थकरं चन्द्रप्रभस्वामिनं जिनं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे । किं भूतं ? सोमं सकीर्तिकं । सोमसमाकारमिति—सोमेन चन्द्रमसा समः सदृशः सकललोकलोचनानन्दनः प्रियदर्शनत्वात् उपमायां वा समशब्दः तत्र भव्यकुमुदानां च प्रतिबोधकत्वे निरूप्ये सोमसमः, न विद्यते कारा सकलसंसारदुःखकरैकरूपा

गुप्तिर्यस्यासवकार: सोमसमश्चासावकारश्च सोमसमाकारस्तं। सोमसं-भवमिति—सोमे सोमवंशे संभवति स तथा तं। तथा हि—

सोमवंशोद्भवं शुभ्रं जिनं चन्द्रप्रभं ब्रुवे ॥ १/२ ॥

सोमेन दीव्यतेऽवगम्यते "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था:" स तथा तं। मुनिमिति—मनुते जानाति सकल कल्पनाकलितचतुर्दशभुवनोदरवर्ति-त्रिकालविषयवस्तुविशेषानिति मुनिस्तं। इति चतुर्थ आर्हतः पक्षः ॥

अथ तदाराध्यक्षपणकपक्षे व्याख्या—तत्र सोमदेवाख्यं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यं ब्रुवे इति सम्बन्धः। किंभूतं ? सोमं—सोम इव सोमस्तं सोमं शं (शां) तं। सोमसमाकारमिति—सह उमया तपः-प्रभावजनितया कीर्त्या वर्तते सोमः कान्तः, समो विषमोन्नतह्रस्वदीर्घादि-दोषरहित आकारः शरीरसमुदायो यस्य स कान्तलक्षणकायस्तं। तथा सोमाभमिति—सा साहा (?) लाभलक्षणा श्रेयसी। तथा च—

सा तासां सम्पदं संज्ञा इति।

आ कीर्तिः कारुण्यता यथा—

"**लक्ष्मीर्विषादकारुण्यखेदमंत्रणकर्मसु**" उमित्योंकार....षु सम्ब-न्धदन्त्या इति ध्वनितश्च। सा च आ च उमा च, सोमाभिर्भातीति सो-माभस्तं। सोमसंभवमिति—सोमो रौद्रः संभवो जन्म यस्य। तथा च ज्योतिःशास्त्रं—

सौम्ये ग्रहबलशालिनि शान्तेऽह्नि शुभोदिते लग्ने
उत्पद्यन्ते धनधर्मवीर्यसौभाग्येन पुरुषाः।

मुनिमिति—मानयति पूजयति अर्हदाचार्योपाध्यायश्रमणानिति मु-निस्तं। इति पंचमोऽर्थः ॥

अथाचार्यकृतां मुनिनमस्कृतिमाह—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम्।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥ १ ॥

अहं ब्रुवे—वच्मि । किं तत् ? नीतिवाक्यामृतं—नयवचनपीयूषं । किं कृत्वा ? नत्वा । कं ? मुनिं । किमभिधानं ? सोमदेवं । किं विशिष्टं ? सोमसंभवं—सोमः कश्चित्पुरुषविशेषस्तस्मात्संभवो यस्यासौ सोमसम्भवस्तं सोमसंभवं । पुनरपि किंभूतं ? सोमं—उमाशब्देन कीर्तिरभिधीयते तया सह वर्तते इति सोमस्तं सोमं । पुनरपि किंभूतं ? सोमसमाकारं—सोमः कुबेरस्तद्वदाकारो मूर्तिलक्षणो यस्यासौ सोमसमाकारः, यतः सोमेन कुबेरेण साश्रिता सौम्यादिक् उत्तरोच्यते । तथा सोमाभं—सोमश्चन्द्रमास्तद्वदाभा कान्तिर्यस्यासौ सोमाभस्तं सोमाभम् ।

अथ राज्यनमस्कृतिमाह—

अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ।

टीका—अथ सोमदेवमुनिनमस्कृतेरनन्तरं, नमो नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? राज्याय । किंविशिष्टाय ? धर्मार्थकामफलाय । तथा च वल्लभदेवः—

गजाश्वपूर्वकं दानं कोशश्चापि निर्मलः ।
अन्तःपुरं मनोहारि न स्याद्राज्यं विना नृणां ॥ १ ॥

ननु कस्मादाचार्येण क्षपणकव्रतधारिणा सता तीर्थंकरान् परित्यज्य मुनेर्मनुष्यमात्रस्य राज्यस्य च नमस्कृतिः कृता ? तदत्र विषये आचार्यस्याभिप्रायः कथ्यते—एतेनाचार्येण वार्हस्पत्यं औशनस्यं च नीतिशास्त्रद्वयं विलोक्यैतन्नीतिवाक्यामृतं कृतं । यतो बृहस्पतिना मुनेर्नमस्कारः कृतः शुक्रेण तु राज्याय । तत्र तावद्बृहस्पतिकृता नमस्कृतिर्लिख्यते—

वाचा कायेन मनसा प्रणम्यांगिरसं मुनिम् ।
नीतिशास्त्रं प्रवक्ष्यामि भूपतीनां सुखावहम् ॥ १ ॥

अथ शुक्रः—

नमोस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने ।
सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ॥ १ ॥

---

१ नैव शुक्रनीतौ ।

एतस्मात्कारणादाचार्येणापि तीर्थंकरानुत्सृज्य "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति वचनमाश्रित्य मुने राज्यस्य च नमस्कृतिः कृता। तथा च भगवता व्यासेनोक्तं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ १ ॥ इति।

अथ धर्मलक्षणमाह—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ १ ॥

टीका—अभ्युदयशब्देनात्र स्वर्गः प्रोच्यते, यतो यस्मात् स्वर्गप्राप्तिर्भवति तथा निःश्रेयसस्य मोक्षस्य सिद्धिर्भवति स धर्मः। न पुनर्यः कौलनास्तिकैरुक्तः स्त्रीसेवामद्यपानादिलक्षणः। उक्तं च यतो नारदेन—

नास्तिकोक्तस्तु यो धर्मस्तं विद्यात्केवलं मलं।
सुरापानाद्यतः स्वर्गस्तत्रोक्तश्चाभिषेवणात् ॥ १ ॥

अथाधर्मस्य लक्षणमाह—

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥ २ ॥

टीका—अधर्मस्तु पुनरेतस्य पूर्वोक्तस्य विपरीतफलः। यत्र न स्वर्गसिद्धिर्न मोक्षसिद्धिश्च। तथापि स धर्मः कौलैर्नास्तिकैश्च कथ्यते परं न भवति यतः स मद्यमांसस्त्रीनिषेवणद्वारेण। तथा च नारदः—

मद्यमांसाशनासंगैर्यो धर्मः कौलसम्मतः।
केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ॥ १ ॥

अथ धर्माधिगमोपायानाह—

आत्मवत्परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपायाः ॥ ३ ॥

टीका—त्यागः कार्यः शक्तितः। उक्तं च यतः शुक्रेण—

---

१ नैतदुत्तरं समीचीनं। २—'नारदः' इति पुस्तके पाठः।

आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिना ।
क्लेशेन येन नो पीडा कुटुम्बस्य प्रजायते ॥ १ ॥
कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मं कुरुते कुधीः ।
न स धर्मो हि पापं तद्देशत्यागाय केवलं ॥ २ ॥

तथा शक्तितः शरीरस्य तपः कार्यं । तथा च गुरुः—

शरीरं पीडयित्वा तु यो व्रतानि समाचरेत् ।
न तस्य प्रीयते चात्मा तत्तुष्ट्यास्तप आचरेत् ॥ १ ॥

इत्येवं धर्माधिगमोपायाः सर्वेऽपि पूर्वोक्ताः शक्तितः कर्तव्या इति ।

अथ सर्वाचरणानां यत्प्रधानमाचरणं तदाह—

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्[1] ॥ ४ ॥

टीका—समताशब्देन निर्वैरता कथ्यते सा यस्य पुरुषस्य भवति शत्रूणामप्युपरि तत्तस्य परमाचरणं कृतं कथ्यते । यानीहान्यान्याचरणानि स्नानदानजपहोमपूर्वाणि शुभकृत्यानि तेषां मध्ये येषां निर्वैरता सर्वसत्वानामुपरि दया तत्प्रधानमाचरणं । तथा च नारदः—

यूकामत्कुणदंशान्यपि पाल्यानि पुत्रवत् ।
एतदाचरणं श्रेष्ठं यत्यागो वैरसम्भवः ॥ १ ॥

अथ वधात्मकानां पुरुषाणां यद्भवति तदाह—

न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥ ५ ॥

टीका—भूतानि चतुर्विधानि स्वेदजाण्डजजरायुजोद्भिजसंज्ञानि तानि येऽभिद्रुहन्ति व्यापादयन्ति तेषां काचिदपि क्रिया शुभापि क्रियमाणा निःश्रेयांसि कल्याणानि न प्रसूते न जनयति, कोऽर्थो व्यसनाद् व्यसनमुत्पद्यते । तथा च व्यासः—

अहिंसकानि भूतानि यो हिनस्ति स निर्दयः ।
तस्य कर्मक्रिया व्यर्था वर्द्धन्ते चापदः सदा ॥ १ ॥

---

[1] परमं चरणं इति मुद्रितपुस्तके पाठः ।

अथाहिंसकानां यद्भवति तदाह—

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥ ६ ॥

टीका—परत्र शब्देन सर्वोपि जनः कथ्यते, तत्र विषयेऽजिघांसुमनसामद्रोहचित्तानां यच्चित्तं दयान्वितं भवति तद्व्रतरिक्तमपि प्रव्रज्यारिक्तमपि स्वर्गार्थं भवतीत्यर्थः। तथा च व्यासः—

येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते।
अव्रता अपि ते मर्त्याः स्वर्गे यान्ति दयान्विताः ॥ १ ॥

अथासत्त्यागे कृते यद्भवति तदाह—

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥ ७ ॥

टीका—अत्रात्मशब्देन सकलमपि कुटुम्बं ग्राह्यं। तथा च शुक्रः—

आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात्तत्सुतादयः।
दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथाविद्यमानं यो याचते तत्स्वरूपमाह—

स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥ ८ ॥

टीका—स पुरुषः खलु निश्चयेन परिपन्थी शत्रुभूतः' यः किं कुर्यात्? यो जानन्नपि परस्य दारिद्र्यमविद्यमानमभिलषति याचते। तथा च बृहस्पतिः—

असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते।
साधुः स तस्य शत्रुर्हि, यद्दानौ दुःखमाप्नोति? ॥ १ ॥

अथ तद्वृथाशक्त्या यद्व्रतं क्रियते तदर्थमाह—

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥९॥

टीका—पुरुषेण नार्या वा तद्व्रतं नियमलक्षणं आचरितव्यं करणीयं, यस्मिन् कृते संशयतुलां सन्देहं नारोहतः न चटतः । के ? शरीरमनसी कायचित्ते । तथा च चारायणः—

अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियममेव वा ।
करोत्यार्तो भवेत्पश्चात् पश्चात्तापात्फलच्युतिः ॥१॥

अथ त्यागस्य माहात्म्यमाह—

ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥१०॥

टीका—ऐहिकं मर्त्यलोकोद्भवं, आमुत्रिकं स्वर्गलोकोत्पन्नं फलं यस्मिन् त्यागे कृते भवति स त्यागः । योऽन्यः स वित्तक्षय एव, ऐहिकामुत्रिकफलवर्जितो व्यसनेन यः क्रियते इति । तथा च चारायणः—

धूर्ते वंदिनि मल्ले च कुवैद्ये कैतवे शठे ।
चाटुचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥ १ ॥

अथापात्रदाने यद्भवति तदाह—

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ॥ ११ ॥

टीका—न केवलं मुर्ख एवापात्रं, कुभृत्ये कुवाहने कुशास्त्रे कुतपस्विनि कुविप्रे कुस्वामिनि यो व्ययः स भस्महोमविधिरेव । ऐहिकामुत्रिकवर्जितो निष्फल एव । तथा च नारदः—

कुभृत्ये च कुयाने च कुशास्त्रे कुतपस्विनि ।
कुविप्रे कुत्सिते नाथे व्ययो भस्मकृतं यथा ॥१॥

अथाचार्यमतेन पात्रस्वरूपमाह—

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥ १२ ॥

टीका—अत्र यद्धर्मपात्रं विद्याधिकमनुष्ठानसहितं दौहित्रादिलक्षणं

---

१ विचित्रभावैर्नयहेतुदर्शनैः सद्धर्ममार्गं प्रतिपादयन्ति ये ।
मातेव शिक्षामनुबद्धकारिणी तान् धर्मपात्रं प्रवदन्ति साधवः ॥

तत्पारत्रिकं। यत्पुनः कार्यपात्रं तत्प्रयोजनलक्षणमैहिकं च। यत्पुनः कामपात्रं तत्स्वकलत्रलक्षणमैहिकं पारत्रिकं च। तथा च वशिष्ठः—

स्वर्गाय धर्मपात्रं च कार्यपात्रमिह स्मृतं।
कामपात्रं निजा कान्ता लोकद्वयप्रदायकं॥ १॥

अथ कीर्तिदूषणमाह—

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न बिभर्ति, प्रतिरुणद्धि वा धर्मं भागीरथी-श्री-पर्वतवद्भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च॥ १३॥

टीका—प्रतिरुणद्धि निषेधति (ते) मद्यस्त्रीद्यूतकारेण तया ऐहिकामुत्रिके न भवतः। तथा च विदुरः—

आश्रितान् पीडयित्वा च धर्मं त्यक्त्वा सुदूरतः।
या कीर्तिः क्रियते मूढैः किं तयापि प्रभूतया॥ १॥

अनु च—

कैतवा यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति मद्यपाः।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो कीर्तिः साकीर्तिरूपिणी॥ १॥

अथार्थस्य विद्यमानस्य यद्दूषणं तदाह—

स खलु कस्यापि मा भूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम्॥ १४॥

---

१ प्रगल्भभृत्या वरकार्यकोविदाः प्रयोजिताः स्वाम्यनुकूलवर्तिनः।
महत्सुकार्येष्वनुयायिनो नरास्तान् कार्यपात्रं प्रवदन्ति पंडिताः॥

२ संभोगयोग्या ललना मनोज्ञा यदङ्गसङ्गाल्लभते मनस्तु।
सुखं हृषीकोद्भवसौख्यभाजां ताः कामपात्रं प्रवदन्ति सूरयः॥

३ पुंश्चल्यः ४ आज्ञाभंगः इत्यपि पाठः

टीका—यत्र यस्मिन्नर्थे विद्यमानेऽसंविभागः सामान्यभोजनाच्छादनादीनि न भवन्ति । केषां ? शरणागतानां समाश्रितानां, सोऽर्थो मनुष्याणां मा भूत् मा भवतु । तथा च वल्लभदेवः—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला ।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १ ॥

अथार्थलुब्धस्य यद्भवति तदाह—

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥ १५ ॥ *

टीका—एकान्तमनवरतं अर्थलुब्धस्य पुरुषस्यौचित्यं नास्ति । कोऽर्थो यद्यस्य योग्यं तल्लोभान्न करोति । तथा च गुरुः—

लोभात्समुद्रतरणं लोभात्पापनिषेवणं ।
ब्राह्मणोऽपि करोत्यत्र तस्मात्तं नाति कारयेत् ॥ १ ॥

अथ लुब्धस्य प्रशंसामाह—

स खलु लुब्धो सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥ १६ ॥

टीका—स खलु लुब्धो लोलुपी स स्यात् यः सत्सु विनियोगात् साधुजनेभ्यो दत्वार्थं पश्चादात्मना सह नयति । एतदुक्तं भवति—साधुजनदत्तं दातुर्दानमक्षयं स्यात् सर्वास्वपि योनिषु तदुपतिष्ठते तस्मान्नार्थलुब्धो लुब्ध इत्थंभूतो लुब्धः कथ्यते । तथा च वर्गः—

दत्तं पात्रेऽत्र यद्दानं जायते चाक्षयं हि तत् ।
जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुश्चैवोपतिष्ठते ॥ १ ॥

अथ याचकस्य यथान्यलाभक्षतिर्भवति तदाह—

---

* अस्मादग्रे 'दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनं औचित्यं' इत्यधिकः पाठः पुस्तकान्तरे

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥ १७ ॥

टीका—याचकस्यादाता पुरुषो यः प्रियं वक्ति सोऽन्यलाभान्तरायोऽन्यलाभविनाशकारीत्यर्थः । तथा च वर्गः—

प्रत्याख्यानमदातानां याचकाय करोति यः
तत्क्षणाच्चैव तस्याशा वृथा स्याच्चैव दुःखदा ॥ १ ॥

अथ दरिद्रस्य यद्भवति तदाह—

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ॥ १८ ॥

टीका—सदैव सर्वकालमपि दुःस्थितानां दरिद्राणां को नामाहो बन्धुः, न कोपीत्यर्थः । तथा च जैमिनिः—

उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे ।
गुप्तं करोति चात्मानं गृही याचनशंकया ॥ १ ॥

अथ याचकदूषणमाह—

नित्यमर्थयतो को नाम नोद्विजते ॥ १९ ॥

टीका—सर्वदा सर्वकालं प्रार्थयतां को नामाहो नोद्विजते नोद्वेगं करोति निजपुत्राणामपि । तथा च व्यासः—

मित्रैवं बन्धुवानौ वातिप्रार्थनार्दित कुर्यात् । ?
अपि वत्समतिपिबन्तं विषाणैरधिक्षिपति धेनुः ॥ १ ॥

अथ तपःस्वरूपमाह—

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ॥ २० ॥

टीका—इन्द्रियं च मनश्चेन्द्रियमनसी तयोर्नियमानुष्ठानं तदेव तपः, न केवलं लिंगधारणं । तथा च व्यासः—

---

१ अन्यत्रेति पाठान्तरं । २ लाभान्तराय इत्यन्यत्र । ३ दुःखस्थितानामिति मुद्रितपुस्तके । ४ अर्थयमानात् इति मुद्रितलिखितमूलपुस्तके ।

यदि वहसि च दण्डं नग्नमुण्डं कपालं
यदि वससि गुहायां वृक्षमूले शिलायां ।
यदि पठसि पुराणं वेदसिद्धान्ततत्त्वं
यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किंचित् ॥ १ ॥

तथा च विदुरः—

पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियं ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकं ॥ २ ॥

अथ नियमलक्षणमाह—

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥ २१ ॥

टीका—व्रतादेः प्रारब्धस्याचरणं, यत्किंचिद्भिक्षार्थं निषिद्धं तस्य वर्जनं च नियमः प्रोच्यते । तथा च नारदः—

यद्व्रतं क्रियते सम्यगन्तरायविवर्जितं ।
न भक्षयेन्निषिद्धं यो नियमः स उदाहृतः ॥ १ ॥

अथैतिह्यमाहात्म्यमाह—

विधिनिषेधावैतिह्यायत्तौ ॥ २२ ॥

टीका—विधिश्च निषेधश्च विधिनिषेधौ, आयत्तौ वशगौ । कस्य ? ऐतिह्यस्यागमस्य । विधानं विधिः, निषेधोऽकृत्यनिवृत्तिः, ताभ्यां यत्फलं भवति तदागमायत्तं शुभाशुभं । तथा च भागुरिः—

विधिना विहितं कृत्यं परं श्रेयः प्रयच्छति ।
विधिना रहितं यच्च यथा भस्महुतं तथा ॥ १ ॥

अन्यच्च—

निषेधं यः पुरा कृत्वा कस्यचिद्वस्तुनः पुमान् ।
तदेव सेवते पश्चात् सत्यहीनः स पापकृत् ॥ १ ॥

अथैतिह्यनिर्णयमाह—

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयमैतिह्यं यत्र न प्रमाणबाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥ २३ ॥

१—स्रवप्र० इति मु. पु. ।

टीका—ऐतिह्यशब्देनागम उच्यते। यत्र यस्मिन्नैतिह्ये प्रमाणबाधा-प्रमाणदूषणं न भवति तदैतिह्यं स आगमः सद्भिः शिष्टैः श्रद्धेयो मन्यते। प्रमाणशब्देन स्वदर्शनाभिप्रायः कथ्यते। तथा च यत्र पूर्वापरविरोधो न भवति। कोऽर्थो यत्र प्रथमं उक्त्वा दर्शनाभिप्रायं पश्चात्तं न दूषयति प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः सोऽपि श्रद्धेयः। तथा च नारदः—

स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात्स आगमः।
पूर्वापरविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ॥१॥

अथ चंचलमनसां यद्भवति तदाह—

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम्॥२४॥

टीका—वर्तनं वृत्तिः, अनियमितानीन्द्रियाणि मनोवृत्तिश्च येषां तेऽनियमितेन्द्रियमनोवृत्तयस्तेषामनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनां यदनुष्ठानं क्रियालक्षणं। तत् किंविशिष्टमिव? हस्तिस्नानमिव व्यर्थमित्यर्थः। यथा हस्ती सुस्नापितोऽपि भूयोपि प्रकृत्यात्मानं पांशुभिरुद्धूलयति तत्स्नानं व्यर्थतां नयति तथा चंचलेन्द्रियमनाः। तथा च सौनकः—

अशुद्धेन्द्रियचित्तो यः कुरुते कांचित्सत्क्रियां।
हस्तिस्नानमिव व्यर्थं तस्य सा परिकीर्तिता ॥१॥

अथ ज्ञानवानपि यः शुभं न करोति तदर्थमाह—

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः॥२५॥

टीका—यः प्रभूतशास्त्रज्ञोऽपि शास्त्रार्थं न करोति तस्य निष्फलं शरीरखेदाय केवलं। किमिव? दुर्भगाभरणमिव—यथा दुर्भगा स्त्री हारकेयूरादिभिरात्मानं शृंगारयति वल्लभसंयोगं न लभते तत्तस्य देहखेदावहं व्यर्थमित्यर्थः। तथा च राजपुत्रः—

१—हस्तिस्नानमिव विफलं मु. पु.। २—चरण० मु. पु.

यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च ।
तद्व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्भगाभरणं यथा ॥ १ ॥

परधर्मोपदेशकस्य स्वरूपमाह—

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥ २६ ॥

टीका—कथको देवायतनवाचकोऽन्येषां कथयति धर्मोपदेशं, स्वयं न करोति । तथा च वाल्मीकिः—

सुलभा धर्मवक्तारो यथा पुस्तकवाचकाः ।
ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ॥ १ ॥

अथ दानतपोभ्यां यद्भवति तदाह—

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥ २७ ॥

टीका—भवन्ति प्रवर्तन्ते । के ? कर्तृभूता लोकाः । किंविशिष्टाः ? परे स्वर्गलक्षणाः । पुनरपि कथंभूताः ? महीयांस उत्तमोत्तमाः । कस्य ? पुरुषस्य । किं कुर्वतः ? प्रयच्छतो ददतः । किमपि—कियन्मात्रमपि वित्तं । किं कुर्वतः ? तपस्यतस्तपः कुर्वाणस्य स्तोकमपि । तथा च नारायणः—

नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य देहिनः ।
सत्पात्रं वाथ कालो वा स स्याद्येन गतिर्वरा ॥ १ ॥

अथ संचयपराणां यद्भवति तदाह—

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥ २८ ॥

टीका—जायते सम्पद्यते । कोऽसौ ? मेरुः । किंविशिष्टः सन् ? संचीयमानो वृद्धिं नीयमानः । कः ? परमाणुरपि तिलतुषमात्रमपि । केन कृत्वा ? कालेन दिवसोच्चयेन । तथा च भागुरिः—

नित्यं कोशविवृद्धिं यः कारयेद्यत्नमास्थितः ।
अनन्तता भवेत्तस्य मेरोर्लक्ष्मी यथा तथा ॥ १ ॥

अथ धर्मश्रुतधनानां स्वल्पेनापि संग्रहेण नित्यं विहितेन यद्भवति तदाह—

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥ २९ ॥

टीका—धर्मश्च श्रुतं च धनं च धर्मश्रुतधनानि तेषां धर्मश्रुतधनानां मध्याल्लवोऽपि लेशोऽपि संगृह्यमाणः पुरुषेण प्रतिदिनं गच्छता कालेन समुद्रो भवति। कोऽर्थोऽनन्तो भवति। तथा च वर्गः—

उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुतधनानि च।
सुस्तोकान्यप्यनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ॥ १ ॥

अथ धर्माय ये निरुद्यमास्तानुद्दिश्याह—

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवंचनं भवति॥ ३०॥

टीका—आत्मा वंचितो भवति। केषां? अनाश्रयमाणानां। कस्मै? धर्माय धर्मार्थं। तथा वशिष्ठः—

मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मं समाश्रयेत्।
आत्मा प्रवंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ॥ १ ॥

अथ धर्मराशिविषये प्राह—

कस्य नामैकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः ॥ ३१ ॥

टीका—कस्य नामैकदैव हेलयेत्यर्थः। सम्पद्यते इति निश्चयः। तथा च भागुरिः—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखं।
न हेलया[1] सुखं नास्ति मर्त्यलोके भवेन्नृणां॥ १॥

अथालस्योपहतस्य मनोरथा यथा भवंति तथाह—

अनाचरतो[2] मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥ ३२ ॥

---

१ अजागृता मु-मू-पुस्तके। २ स्वयमनाचरतां इत्यपि पाठः मुद्रितपुस्तके। स्वयमनाचरतो इति मू-पु.।

टीका—अनाचरत उद्यममकुर्वाणस्य पुरुषस्य मनोरथा ये हृदि चिन्तितास्ते सुखाभिप्रायाः स्वप्नराज्यतुल्यास्तावन्मात्रसौख्यदा इत्यर्थः। तथा च वल्लभदेवः—

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ १॥

अथ यो धर्मफलं भजमानोऽप्यधर्मानुष्ठानं कुरुते तदर्थमाह—

धर्मफलमनुभवतोऽप्यधर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य॥ २३॥

टीका—यः पुरुषो धर्मफलं सेवमानः सन्, अधर्मानुष्ठानं करोति सोऽनात्मज्ञो मूर्ख इत्यर्थः। ननु कथं ज्ञायते पुरुषस्य धर्मफलं भुक्तिः? यश्चात्र हस्त्यश्वादिको विभवो भवति तेन ज्ञायते धर्मफलमेतत्, तज्ज्ञै-रन्यजन्मकृतं, तत्सेवमाना अपि मूर्खा न जानन्ति पापानुष्ठानं कुर्वन्ति। तथा च रैभ्यः—

अन्यजन्मकृताद्धर्मात्सौख्यं संजायते नृणां।
तद्विज्ञैर्ज्ञायते नाज्ञैस्तेन ते पापसेवकाः॥ १॥

अथ धर्मानुष्ठानार्थमाह—

कः सुधीर्भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति॥ २४॥

टीका—को नाम विद्वान् आत्महितं धर्मं अन्यदाक्षिण्यादनुतिष्ठति करोतीत्यर्थः। यस्मात्तत्फलमाप्नोति, किमिव? भेषजमिव औषधमिव यथौषधं परोपरोधात्कृतं चित्तानिष्टं न आरोग्यं कुरुते तथा धर्मोऽपि। तथा च भागुरिः—

परोपरोधतो धर्मं भेषजं च करोति यः।
आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां संप्रजायते॥ १॥

अथ धर्मानुष्ठाने कृते यद्भवति तदाह—

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं लोकस्य॥ २५॥

---

१ अः सु-पुस्तके।

टीका—लोकस्य जनस्य धर्मानुष्ठाने क्रियमाणे अप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं विघ्नं भवति पापानुष्ठाने न स्यात् । तथा च वर्गः—

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति क्वापि विलीनतां ॥ १ ॥

अथ धर्मप्रवृत्तस्य यद्भवति तदाह—

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ॥ ३६॥

टीका—पापकर्मणि प्रवृत्तस्य लोकस्य को नामाहो नोपाध्यायः नोपदेशदाता, अपि सर्वोऽपि जनः पापार्थं प्रेरयतीत्यर्थः । पुरश्चारी वा अग्रेसरः । अहमेतत्करोमि त्वमपि कुरु एवं जल्पत इत्यग्रेसरो भवति । तथा च रैभ्यः—

सुलभाः पापरक्तस्य लोकाः पापोपदेशकाः ।
स्वयं कृत्वा च ये पापं तदर्थं प्रेरयन्ति च ॥ १ ॥

अथ पापनिषेधार्थमाह—

कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः ॥३७॥

टीका—उत्कृष्टबुद्धिभिः पुरुषैरशुभं कर्म न समाचरणीयं न कर्तव्यं विद्यमानैः प्राणैः, किंविशिष्टैः ? कण्ठगतैरपि, कोऽर्थः ? यदि प्राणत्यागो भवति, किं पुनः स्वस्थचित्तैः । तथा च देवलः—

धीमद्भिर्नाशुभं कर्म प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।
इह लोके यतो निन्दा परलोकेऽधमा गतिः ॥ १ ॥

अथेश्वरा धूर्तैः स्वार्थार्थं पापमार्गे नियोज्यन्ते तदर्थमाह—

स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥ ३८ ॥

टीका—श्रीमन्तो धनिनो जनाः क्रियन्ते विधीयन्ते । किंविशिष्टाः ? दुरीहितवृत्तयः पापमार्गरताः । कैः ? धूर्तैर्वञ्चनपरैः । किमर्थं ? स्वव्यसनैतर्प-

---

१ विनायकाः पुस्तके पाठः । २ समाचरन्ति कुशलबुद्धयः इत्यपि पाठः । ३ सन्तर्पणाय टीकापाठः ।

णाय निजापन्नाशाय । [1] न तेषां सकाशादर्थं लभंते । कथं क्रियते यतः स्नानदानजपहोमतीर्थयात्रादिकं कष्टेन क्रियमाणं धर्ममार्गं दूषयित्वा, स्त्रीसेवादिकं सुखकारकं स्वमतिविहितव्याख्याने तथा प्रबोधयन्ति धनिनो यथा तेषां तत्सत्यं मत्वा धनानि लिप्स्यन्ते ।

यतो माक्षिका धारा विप्रुषो ब्रह्मबिन्दवः ।
स्त्रीमुखं बालवृद्धं च न दुष्यन्ति कदाचन ॥ १ ॥
स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
मासि मासि रजो यासां दुष्कृतान्यपि कर्षति ॥ २ ॥
सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाश्च कलं गिरं ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं तस्मान्मेध्यतमाः स्त्रियः ॥ ३ ॥
ब्राह्मणाः पादतो मेध्या गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।
अजाश्च मुखतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥ ४ ॥
स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य परमां सर्वार्थसत्करी-
मेनां ये प्रविहाय यान्ति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ।
तैर्दोषैर्विनिहत्य ते हततरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित् रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ ५ ॥
कामार्तां कामिनीं प्राप्तां पापं मत्वा त्यजन्ति ये ।
ते मृता नरकं यान्ति तन्निःश्वाससमाहताः ॥ ६ ॥
परदारविरक्तानां कुदाराणां नृणामिह ।
वेश्या साधारणा प्रोक्ता तस्मात्सेव्या प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
ब्रह्मचर्येण चेत्स्वर्गो नराणामिह जायते ।
ते षंढाः प्रथमं यान्ति ततोऽन्ये ब्रह्मचारिणः ॥ ८ ॥

इत्येवमादिभिरन्यैरपि धर्मविषये सुखावहैर्वाक्यैः स्नानदानजपहोमकृते धूर्तैः दुरीहितवृत्तयः क्रियन्त इति ।

अथ खलसंगेन यद्भवति तदाह—

१ अन्यथेति शेषः ।

खलसंगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् ॥ ३९ ॥

टीका—खलो दुर्जनस्तेन सह संगेन कृतेन तत्किं नामाहो न भवति यदनिष्टं पापलक्षणमित्यर्थः। तस्मात्खलसंगस्त्याज्यः। तथा च वल्लभदेवः—

असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियां।
दुर्योधनप्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥ १ ॥

अथ दुर्जनानां स्वरूपमाह—

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥ ४० ॥

टीका—दुर्जनाः खलाः स्वाश्रयमपि यस्मिन् गृहे जायन्ते तदपि दहन्ति, किं पुनरन्येषां साधूनां न दहन्ति। क इव ? अग्निरिव वैश्वानरवत्। यथा वैश्वानरो यत्र काष्ठे उत्पन्नस्तदपि दहति तथा दुर्जनाः स्वगृहं क्षयं कृत्वा ततश्च साधूनामपि गृहाणि नाशयन्ति। तथा च वल्लभदेवः—

धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यै—
षोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः।
दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठां
प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥ १ ॥

अथ तदात्वसुखलुब्धस्य यद्भवति तदाह—

वनगज इव तदात्वसुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ॥ ४१ ॥

टीका—अत्र तदात्वसुखशब्देन परस्त्रीस्पर्शः तत्कालिकसुखमभिधीयते। तत्र यो लुब्धः पुरुषः को नामाहो कासामापदां व्यसनलक्षणानां नास्पदं स्थानं भवति। क इव ? वनगज इवारण्यहस्तीव यथा

---

१ किं नाम न करोति इति ख-पुस्तके। खलसंसर्गः कं नामानर्थं न करोति इति ग-पुस्तके। २ अग्निवत् मु-मू-पुस्तके। ३ तादात्विकेति मू-पुस्तके।

वनहस्ती दृष्ट्वा कामैरानीतां वनकरेणुकां स्पर्शमात्रं सुखमनुभवन् बन्धनमाप्नोति तद्वत् पुरुषोऽपि यस्मात् परस्त्रीस्पर्शमात्रं सुखं लभते । तथा च नारदः—

> करिणीस्पर्शसौख्येन प्रमत्ता वनहस्तिनः ।
> बन्धमायान्ति तस्माच्च तदात्वं वर्जयेत् सुखम् ॥ १ ॥

अथ धर्मातिक्रमेण यद्भवति तदाह—

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥ ४२ ॥

टीका—धर्मातिक्रमेण चौर्यादिभिरकृत्यैर्यद्धनं प्राप्यते तदपरे पुत्रकलत्रादयो भक्षयन्ति, उपार्जकस्तु पुनः केवलं उत्कृष्टं पापस्य भाजनं पापस्थानं भवति । क इव ? सिंहवत् यथा सिंहः सिंधुरं गजं हत्वा अन्येषां शृगालादीनां भोज्यं करोति केवलं स्वयं पापवान् भवति तथा पुरुषोऽपि । तथा च विदुरः—

> एकाकी कुरुते पापं फलं भुंक्ते महाजनः ।
> भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ १ ॥

अथाधार्मिकस्य यद्भवति तदाह—

बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम् ॥ ४३ ॥

टीका—अत्रायतिशब्देन परिणाम उच्यते तस्मिन् परिणामे पुरुषस्य न किंचिच्छुभं भवति । किंविशिष्टस्य पुरुषस्य ? अधार्मिकस्य ।

---

१ क्रमालब्धं धनं मू-पुस्तके । २ नयन्ति मु-पुस्तके । ३ शुभं फल मू-पुस्तके । ४ अधर्मरतस्य टीकापाठः ।

कस्येव ? कुटुम्बिन इव कर्षकस्येव । किंविशिष्टस्य ? बीजभोजिनो वप्तुं योग्यस्य भक्षकस्य न किंचिदन्नं भवति । आयत्यां शरदि वसन्ते वा । तथा च भागुरिः—

पापासक्तस्य नो सौख्यं परलोके प्रजायते ।
बीजाशिहालिकस्येव वसन्ते शरदि स्थिते ॥ १ ॥

अथ कामार्थत्यागेन केवलं धर्माश्रितस्य यद्भवति तदाह—

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्व क्षेत्रं परित्यज्या-रैण्यं कृषति ॥ ४४ ॥

टीका—यः पुरुषः कामार्थौ त्यक्त्वा धर्ममेकं करोति । स किं कुरुते ? पक्वं लवनयोग्यं क्षेत्रं त्यक्त्वारण्यकर्षणं करोति । कोऽर्थो यौ कामार्थौ पक्वक्षेत्रसमौ तौ ज्ञेयौ । यः पुनः धर्मः सोऽरण्यकर्षणसमो न तस्य धर्मस्यापि माहात्म्यं मन्यते कामार्थाभ्यां विना । तदर्थमाह—अरण्यकर्षणादपि सस्योत्पत्तिर्भवति परं कालक्रमेण तत्रारण्यस्यानावृष्टिरिति उपद्रवो यदि न भवति । यौ पुनः कामार्थौ तौ सद्यः सुखफलौ । तस्मात् कामार्थाभ्यां सह धर्मः कर्तव्यः सुखार्थिभिः । तथा च रैभ्यः—

कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते ।
तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्य एव सुखार्थिभिः ॥ १ ॥

अथ सुमतिर्यथा भवति तथाह—

स खलु सुधीर्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥ ४५ ॥

टीका—स पुरुषः खलु निश्चयेन सुधीः सुमतिर्विज्ञेयः । यः किं करोति ? योऽनुभवति सेवते । किं तत् ? सुखं । केन कृत्वा ? अमुत्र सुखाविरोधेन । अमुत्रशब्देन परलोकोऽभिधीयते । तस्य येन सुखेनानुभूतेन विरोधो न भवति तथा तदनुभवितव्यं । यत्पुनः परदारचौर्यादिकं तेन

---

१ परित्यज्योषरं इति मु–पुस्तके । २ सुखीति मु–मू–पुस्तके ।

परलोके विरोधः स्यात् नरकपातो भवतीत्यर्थः । स्नानदानस्वकलत्रादिकं सुखमनुभवितव्यमेव । तथा च वर्गः—

सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते ध्रुवं ।
धीमता तन्न कर्तव्यं कौलनास्तिककीर्तितम् ॥ १ ॥

अथान्यायसुखलेशेन यद्भवति तदाह—

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्र चानवधिर्दुःखानुबन्धः ॥ ४६ ॥

टीका—हे जनाः! एतदाश्चर्यमिह जगति अपरं अपूर्वं न दृश्यते मूर्खजनानां, यत् किंचिदन्यायचौर्यादिभिरुपार्जनं कृत्वा तेन यं सुखलवमनुभवति तस्यानवधिरनन्तो दुःखानुबन्धो दुःखपरिणामः । क ? इहास्मिन् जगति । अमुत्र च परलोके च । कथंचिद्यदि तावद्राजा जानाति तदा दण्डयति । अथवा परलोकेऽपि धर्मराजो निग्रहं करोति तस्मादन्यायोपार्जना न कर्तव्या । तथा च वशिष्ठः—

चित्रमेतद्धि मूर्खाणां यदन्यायार्जनात्सुखम् ।
अल्पं प्रान्तं विहीनं च दुःखं लोकद्वये भवेत् ॥ १ ॥

अथान्यजन्मकृतयोर्धर्माधर्मयोः किं लिंगं तदर्थं व्याख्यायते—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिंगं ॥४७॥

टीका—उत्कर्षशब्देन वृद्धिरुच्यते । अपकर्षशब्देन हानिश्च । उत्कर्षश्चापकर्षश्चोत्कर्षापकर्षौ ताभ्यां ज्ञायते । किं तत् ? लिंगं चिह्नं । कयोः ? धर्माधर्मयोः । केषां ? नराणां । कैः कृत्वा ? सुखदुःखादिभिः । यदा पुरुषाणां सुखं परं भवति तदा ज्ञायते एतैरन्यजन्मनि धर्मः कृतः । यदा पुनः दुःखोत्कर्षो भवति तदा ज्ञायते एतैः पापं कृत्वा धर्मः कृतः । तथा च दक्षः—

---

१ चेति मूलपाठः पुस्तके । २ पापकर्म । ३ सुखादिभिरिति मु—पुस्तके ।

धर्माधर्मौ कृतं पूर्वं प्राणिनां ज्ञायते स्फुटं ।
विरुद्धया सुखदुःखस्य चिह्नमेतत्परं तयोः ॥ १ ॥

अथ धर्माधिष्ठातुर्माहात्म्यमाह—

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातुः ॥४८॥

टीका—अत्राधिष्ठातृशब्देनैके आत्मानं कथयन्ति । अन्ये प्राक्तनं कर्म । तस्याधिष्ठातुरदृष्टस्य परोक्षस्य तत्किंचिद्वस्तु पदार्थः स कोऽपि नास्ति यत्र नैश्वर्यं प्रभुत्वे समर्थता सर्वमपि शुभाशुभं स करोति स न केनापि निवार्यते । हि यस्मादर्थे स्फुटार्थे वा । तथा च भृगुः—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति॥१।

इति धर्मसमुद्देशः ।

--

१ नास्ति तद्वस्तु यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठात्र्याः इति मु-पुस्तके ।

२ अर्थसमुद्देशः ।

अथार्थसमुद्देशो लिख्यते, तत्रादावेवार्थस्य स्वरूपमाह—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥ १ ॥

टीका—कथ्यते, नान्यो यः कृपणैर्गर्तेषु स्थापितस्तिष्ठति । उक्तं च वल्लभदेवेन—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किम तेनैव धनेन धनिनो वयं ॥ १ ॥

तथा च—

येन धर्मस्य कृते प्रयुज्यते येन कामस्य च भूमिमध्यगम् ।
तत्कदर्यपरिरक्षितं धनं चौरपार्थिवगृहेषु भुज्यते ॥ १ ॥
संचितमृतुषु नैव भुज्यते, याचितं गुणवते न दीयते ॥

अथ यादृक् पुमानर्थस्य भाजनं भवति तदाह—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥ २ ॥

टीका—स पुरुषः सर्वकालमर्थस्य धनस्य भाजनं स्थानं भवति । यः किं कुर्यात् ? योऽर्थानुबन्धेनागामिकसूत्रन्यायेनार्थमनुभवति सेवते । तथा च वर्गः—

अर्थानुबन्धमार्गेण योऽर्थं संसेवते सदा ।
स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ॥ १ ॥

अर्थानुबन्धलक्षणमाह—

अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥ ३ ॥

१-२ न धनेति पाठः पुस्तके । ३ लब्धेति, मू-पुस्तके ।

टीका—सामादिभिरुपायैस्तावत् पुरुषेणार्थ उपार्जनीयः । उक्तं च यतो हारीतेन—

असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थं साधनं परं ।
सामादिभिरुपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत् ॥ १ ॥

तथा च लब्धोऽर्थो यथा भवति तथा रक्षणीयो यत्नेन यतस्तस्य बहवो हिंसका भवन्ति । तथा च व्यासः—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथार्थोऽपि च मानवैः ॥ १ ॥

तथा रक्षितो वृद्धिं नेयः । यस्तं सद्व्यवहारैः कुसीदादिभिर्वृद्धिं नयति स तस्य भाजनं भवति । उक्तं च यतो गर्गेण—

वृद्धे तु परिदातव्यः सदार्थो धनिकेन च ।
ततः स वृद्धिमायाति तं विना क्षयमेव च ॥ ३ ॥

इत्यर्थानुबन्धः ।

अथ सामादिभिरुपार्जितोऽर्थोऽपि यथा नाशमायाति तथाह—

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति॥४॥

टीका—तीर्थभूतं पुरुषलक्षणं आगामिकसूत्रे वदिष्यति । यो धनी तीर्थलक्षणं पुरुषमर्थेन न सम्भावयति स सर्वात्मना निश्चितं विनश्यति । किं कुर्वन् ? असंभावयन् अनियोजयन् । किं तत् ? तीर्थं पात्रं । केन ? अर्थेन वित्तेन । कथं विनश्यति ? मधुच्छत्रवत् मधुच्छत्रशब्देन मधुजालकमुच्यते । तस्य तीर्थं भ्रमराः । माक्षिकोऽर्थः । तेन यत् भ्रमरान् न संभावयति तत्सर्वात्मना विनश्यति तथा मदनमपि न भवति सूक्ष्मोत्पन्नकीटैर्भक्ष्यते । यस्य पुनर्भ्रमरा मधु पिबन्ति अन्यच्च श्रावयन्ति तच्छेषं सिक्थकसंज्ञं भवति । एवं धनी पुमानपि सत्पात्रेषु धनं (न) नियोजयति तस्य तत्प्रभावाच्छेषमपि वित्तं भृत्योपभोग्यं भवति । तथा च वर्गः—

१ छमेति ख–पुस्तके ।

यो न यच्छति पात्रेभ्यः स्वधनं कृपणो जनः ।
तेनैव सह भूपालैश्चौराद्यैर्वा स हन्यते ॥ १ ॥

केचित् मधुच्छत्रशब्देन बालकजालं कथयंति । तस्य तीर्थभूतानि पात्राणि, अर्थभूतो गन्धः । तेभ्यः पात्रेभ्यस्तीर्थभूतेभ्यो गन्धरूपेणार्थं प्रयच्छन् प्रददत् बालकजालमपि विनश्यति ।

अथ तीर्थलक्षणमाह—

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥ ५ ॥

टीका—ये पुरुषाः समवायिनो धर्मकृत्येषु सहाया भवन्ति येषां सकाशात् धर्मकार्यं निरूपितं भवति ते धर्मसमवायिनः प्रोच्यन्ते । ये च सर्वकृत्येषु सहाया भवन्ति, येषां सकाशात् महदपि कृत्यं सिद्धिं गच्छति ते कार्यसमवायिनः । तत्र सर्वेऽपि तीर्थं भण्यते । तान् योऽर्थो न संभावयेत् तेभ्यः योऽर्थं (तमर्थं) नियोजयेत् । तस्य वृद्धिर्धर्मवृद्धिश्च भवति । तथा च बृहस्पतिः—

तीर्थेषु योजिता अर्था धनिनां वृद्धिमाप्नुयुः ।
अतीर्थेषु पुनर्लोभं योजिता व्याललोभतः ! ॥ १ ॥

अथ येषां धनिनां धननाशो भवति तानाह—

तादात्विकमूलहरकदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

टीका—एतेषां तादात्विकमूलहरकदर्याणां संज्ञा आगामिकसूत्रेषु वदिष्यति । किं बहुना, एतेषां धनिनां प्रत्यवायोऽर्थनाशः सदैव भवतीति । तथा च शुक्रः—

अचिन्तितार्थमश्नाति योऽन्योपार्जितभक्षकः ।
कृपणश्च त्रयोऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ॥ १ ॥

अथ तादात्विकलक्षणमाह—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥ ७ ॥

टीका—य उपार्जनां कृत्वा अनुचितं व्ययति, कोऽर्थः ? असद्व्ययं करोति, न जानाति ममैतत्प्रयोजनमर्थेन भविष्यति । आगतेरभ्यधिकं ददातीत्यर्थः । स धनी तादात्विक उच्यते । तथा च शुक्रः—

आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपंचमः ।
तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि चेत्स्थितः ॥ १ ॥

अथ मूलहरलक्षणमाह—

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ॥ ८ ॥

टीका—यः पुनर्धनी पितृपैतामहमर्थं अन्यायेन द्यूतवेश्यादिना व्ययति नान्यदुपार्जयति स मूलहरः प्रोच्यते । तथा च गुरुः—

पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत् ।
अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद्ध्रुवम् ॥ १ ॥

अथ कदर्यलक्षणमाह—

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ॥ ९ ॥

टीका—यः पुनर्भृत्यानात्मानं च पीडयति, विभवे विद्यमानेऽपि भृत्येभ्यो न प्रयच्छति, न च स्वयं भक्षयति स कदर्यः । स च त्रयाणामप्यधर्मः । तस्य द्रव्यं राजा तस्करा वा हरन्ति । तथा च हारीतः—

अथ तादात्विकमूलहरयोर्यद्भवति तदाह—

तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ॥ १० ॥

टीका—आयतिशब्देन परिणाम उच्यते । तस्यामायत्यां परिणामे कल्याणं शुभं न भवति । कयोः ? तादात्विकमूलहरयोः । एतदुक्तं भवति, यन्मूलहरः पितृपैदामहमर्थं अन्यायेन भक्षयति यच्च तादात्विकोऽनुचितं

---

१ नैष पद्यो मुद्रितपुस्तके । २ अनुभवति इत्यपि पाठः मु. पुस्तके । ३ संचितं क्षुद्रवारेण जांप्यते याचितं द्विनवरेण दीयते । श्लोकस्थानेऽयं पाठः पुस्तके ।

व्ययं करोति तत्तयोरपि द्वयोर्दरिद्रता भवति द्वौ दौःस्थ्यं व्रजतः। तथा च कपिपुत्रः—

आगमाभ्यधिकं कुर्याद्यो व्ययं यस्य मक्षति।
पूर्वजोपार्जितं नान्यदर्जयेच्च स सीदति ॥ १ ॥

अथ कदर्यस्य यद्भवति तदाह—

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥ ११ ॥

टीका—कदर्यस्य तु पुनर्यो धनसंचयः स किंविशिष्टो? निधिः। केषां? राजदायादतस्कराणां। अन्यतमस्य एकस्य। एतदुक्तं भवति भूपेन गोत्रजेन तस्करेण वाह्रियते इति। तथा च वल्लभदेवः—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १ ॥

तथा च शुक्रः—

शेषो धारयते पृथ्वीं सन्निधानां सदोष्मणां
कृपणैर्निहितानि च तस्य शक्तिर्न चान्यथा ॥ १ ॥

इत्यर्थसमुद्देशः।

---

३ कामसमुद्देशः ।

अथ कामसमुद्देशः कथ्यते । तत्रादावेव कामस्य लक्षणमाह—

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ॥१॥

टीका—कामशब्देन स्त्रियामभिलाषः कथ्यते । यतो यस्मादभिलाषात् सर्वेन्द्रियप्रीतिर्जायते स कामः, न केवलं रतिलक्षणः। किंविशिष्टा सर्वेन्द्रियप्रीतिः ? अभिमानिकरसानुविद्धा । आभिमानिकरसशब्देन निरर्गलता प्रोच्यते तयानुविद्धा यासौ स्नेहलक्षणसर्वेन्द्रियप्रीतिः कामाभिलाषो भवति, तदाह—यस्याः नायिकायाः कलशब्दं श्रुत्वा कर्णाभ्यां निरर्गला प्रीतिर्जायते, तस्या सुकोमलाङ्गस्पर्शेन च निरर्गला प्रीतिर्भवति । तथा यस्या रूपावलोकनेन नेत्रयोर्निरर्गला प्रीतिः । तथा यस्याः परिमलाढ्याङ्गस्या घ्राणात् घ्राणस्य निरर्गला प्रीतिः । तथा तस्या अधरपानात् जिह्वाया अमृतपानादिवं निरर्गला प्रीतिर्भवति स कामः पंचप्रकारेण नैकेनापि हीयते । तथा च राजपुत्रः—

> सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च ।
> स च कामः परिज्ञेयो यत्तदन्यद्विचेष्टितम् ॥ १ ॥

तथा च—

> इन्द्रियाणामसन्तोषं यः कश्चित् सेवते स्त्रियं ।
> स करोति पशोः कर्म नररूपस्य मोहनं ॥ २ ॥

अपि च—

> यदिन्द्रियविरोधेन मोहनं क्रियते जनैः ।
> तदन्धस्य पुरे नृत्यं सुगीतं बधिरस्य च ॥ ३ ॥

अथ यथा कामसेवनेन पुमान् सुखी भवति तथाह—

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्[1] ॥ २ ॥

टीका—धर्मार्थयोरविरोधेनानुकूलतया कामं सेवेत। कोऽर्थः? यथा धर्मक्षतिर्न भवति परदारान् वर्जयेदित्यर्थः। यथार्थस्य क्षतिर्न भवति तथा वेश्यासक्तिर्वर्जनीया। एवं वर्तमानः स्वकलत्रसेवमानः सुखी भवति। तथा च हारीतः—

परदारांस्त्यजेद्यस्तु वेश्यां चैव सदा नरः।
न तस्य कामजो दोषः सुखिनो न धनक्षयः॥ १॥

अथ यथा त्रिवर्गः सेव्यस्तथाह—

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ॥ ३ ॥

टीका—वा विकल्पेन, समं एकहेलं त्रिवर्गं सेवेत। यदि धर्मार्थपीडनं पृथक्कामसेवनेन भवति। अथवा धर्मसेवनेन कामार्थाभ्यां पीडनं भवति। अथवार्थसेवनेन धर्मकामाभ्यां पीडनं भवति। त्रयोऽपि सेव्याः। कथं? सत्रिभागं प्रहरं यावत् धर्मचिन्ता कार्या, सत्रि[भा]गं प्रहरमर्थचिन्ता, ततः कामचिन्तेति। तथा च नारदः—

प्रहरं सत्रिभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत्।
द्वितीयं तु ततो वित्तं तृतीयं कामसेवने॥ १॥

अथ त्रिवर्गमध्यादेकेनात्यतिसेवनेन यद्भवति तदाह—

एको ह्यत्यासेवितो[2] धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥ ४ ॥

टीका—एतेषां त्रयाणां मध्यादेकोऽप्यतिसेवित आत्मानं वृद्धिं नयति इतरौ तु पीडयति। एतदुक्तं भवति यदि धर्मः सततं सेव्यते ततोऽर्थकामौ न भवतः। उक्तं च यतो बृहस्पतिना—

धर्मसंसक्तमनसां कामे स्यात्सुविरागता।
अर्थे चापि विशेषेण यतः स स्याद्धर्मतः॥ १॥

---

१ 'न निःसुखः स्यात्' मु-मू-पुस्तके। २ ह्यत्यासक्त्या मु-पुस्तके।

तथार्थः केवलं सेव्यमानो धर्मकामौ पीडयति। तथा कामोऽप्यतिसेवितः स धर्मार्थौ पीडयति। कथं ? केवलं धर्मासक्तोऽर्थोपार्जनादिकं व्यवसायं न करोति स्त्रीविषयविरक्तो भवति। यद्यर्थासक्तो भवति तद्धर्मं न करोति तदासक्तश्च निष्कामो भवति। तथा कामासक्तो धर्मं न करोति धनक्षयं च करोति। तथा च वशिष्ठः—

एको हि सेव्यमानस्तु त्रिवर्गं च प्रपीडयेत्।
द्वावन्यौ सेवयेद्यस्मिंस्तांश्च तांश्च यथोदितान्॥ १॥

अथ कष्टेन यद्धनोपार्जनं क्रियते तदर्थमाह—

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम्॥५॥

टीका—आत्मसुखं निरुन्धानस्य महता क्लेशेन युक्तस्य पुरुषस्य यद्धनोपार्जनं। किंविशिष्टं ? परार्थं भारवाहसदृशं व्यर्थमित्यर्थः। यथा कश्चित् पुरुषः पशुर्वान्यस्यार्थे शिरसा पृष्ठ्या वा भारं वहति न तद्भोक्तुं लभते केवलं क्लेशभागी स्यात्। तथा च व्यासः—

अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण च।
शत्रूणां प्रतिपातेन मात्मन्[1]! तेषु मनः कृथाः॥ १॥

अथ विभूतीनां साफल्यं यथा भवति तथाह—

इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः॥ ६॥

टीका—सम्पदः कथ्यन्ते याः पुनः सेविता अपि तुष्टिं न जनयन्ति ता असम्पदस्तस्य। एतदुक्तं भवति, यकाभिर्विभूतिभिर्विद्यमानाभिर्ये कृपणा न गीतश्रवणेन, न प्रियतमास्पर्शेन, न मिष्टान्नास्वादनेन, न स्वरूपस्त्रीवेश्यास्वकलत्ररूपावलोकनेन सुखमनुभवन्ति। कर्पूरप्रभृतिसुगन्धवस्तूनां नाघ्राणं कुर्वन्ति तथा निष्फलास्तेषां। तथा च व्यासः—

यद्धनं विषयाणां च नैवाल्हादकरं परं।
तत्तेषां निष्फलं ज्ञेयं षंढानामिव यौवनम्॥ १॥

---

१ 'मात्म' इति पुस्तके पाठः

तथा यकाभिर्विभूतिभिर्विद्यमानाभिर्मनसस्तुष्टिर्न भवति ताश्चापि निष्फलाः पुसां। कोऽर्थः? विद्यमाने धने यः सेवाक्लेशेन खेदं जनयति प्रवासेन वा तस्यापि ता निष्फलाः। तथा च चारायणः—

सेवादिभिः परिक्लेशैर्विद्यमानधनोऽपि यः।
सन्तापं मनसः कुर्यात्तस्योषरवर्षणम्॥ १॥

अथाजितेन्द्रियाणां यथा स्वल्पापि कार्यसिद्धिर्न भवति तदाह—

नाजितेन्द्रियाणां कापि कार्यसिद्धिरस्ति॥ ७॥

टीका—अजितेन्द्रियाणां पुरुषाणां कापि स्वल्पापि कार्यसिद्धिर्न विद्यते। कथं, यो गीतलालसो भवति स गीतं शृण्वन् स्वकृतेषु विलंम्बं करोति विलम्बे कृते कार्यनिष्फलता स्यात्। उक्तं च शुक्रेण—

यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम्॥ १॥

एवं यः प्रियालिङ्गनलालसः, तथा मिष्टान्नास्वादरतः, तथा रूपाढ्यस्त्रियामवलोकनरतः, तथा परिमलाघ्राणनिरतश्च। तथा च ऋषिपुत्रकः—

स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्तचेतसः।
क्षिप्रमक्रियमाणेषु तेषु तेषां न तत्फलम्॥ १॥

अथ पुरुषाणां यथेन्द्रियजयो भवति तदाह—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः॥ ८॥

टीका—इष्टे वल्लभे वस्तुनि अनासक्तो भवति युक्तमात्रं निषेवते न तत्रैवासक्तिं करोति स जितेन्द्रियः कथ्यते। संसारस्य फलं यद्यप्येतदिष्टनिषेवणं युक्तं तथाप्यधिकमयुक्तं, यतोऽजीर्णे पथ्यमप्यन्नं व्याधये मरणाय वा भवति। तथा विरुद्धे पदार्थे याऽप्रवृत्तिरप्रवर्तनं यस्य

१ यस्य मु-पुस्तके। २ रिति मु-पुस्तके।

पुरुषस्य भवति सोऽपि जितेन्द्रियः। अविरुद्धशब्देन शिष्टाचारः कथ्यते। तथा च भृगुः—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं येन स्यात् स्वविनिर्जयः ॥ १ ॥

अथान्येन पदार्थेन यथा स्यादिन्द्रियजयस्तदर्थमाह—

अर्थशास्त्राध्ययनं वा * ॥ ९ ॥

टीका—वा विकल्पेन यदि शिष्टमार्गो न ज्ञायते तदर्थं शास्त्राध्ययनं कुर्यात् येन जितेन्द्रियता भवति। तथा च वर्गः—

नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि।
वशगानि शनैर्यान्ति कशाघातैर्हया यथा ॥ १ ॥

अथ शब्दच्छलेन कामदूषणमाह—

योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत् ॥१०॥

टीका—यो नरोऽनंगेन कामदेवेन जीयते स कथं केन प्रकारेण अरातीन् परान् जेतुं समर्थो भवति न कथंचिदेवेत्यर्थः। किंविशिष्टानरातीन्? पुष्टाङ्गान् पुष्टानि बलवन्ति राज्याङ्गानि येषां ते पुष्टाङ्गास्तान्। पुष्टांगशब्देन स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं दुर्गं कोशो बलं सुहृदो राज्याङ्गानि न शरीराणीत्यर्थः। तथा च भागुरिः—

ये भूपाः कामसंसक्ता निजराज्याङ्गदुर्बलाः।
दुष्टाङ्गास्तान् पराहन्युः पुष्टाङ्गा दुर्बलानि च ॥

अथ कामासक्तस्य यद्भवति तदाह—

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥ ११ ॥

---

१ मार्गस्थो नावसीदतीत्यन्यत्रपाठः। * अस्मादग्रे 'कारणे कार्योपचारात्' इति मु-पुस्तके २ 'नरीन' इति पुस्तके पाठः

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्, चिकित्सितं शुभकर्मोपदेशः। कस्य? कामासक्तस्य पुरुषस्य। कोऽर्थः? न किंचिद्धितं शृणोति। तथा च जैमिनिः—

न शृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च।
कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति॥ १॥

अथ स्त्रीसमासक्तस्य यद्भवति तदाह—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः॥१२॥

टीका—यस्य पुरुषस्य स्त्रीविषयेऽत्यासक्तिर्भवति तस्य तावद्धनं न भवति तस्यामासक्तेर्व्यवसायं न करोति तेन विना दरिद्रता भवति। उक्तं च कामन्दकिना—

नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने।
नाशमायान्ति सुव्यक्तं यौवनेन समं श्रियः॥ १॥

तथा च धर्मश्च न भवति देवकृत्यस्य पितृकार्यस्य वा पुनः तथा च शरीरं न भवति, अतिवीर्यक्षयात् क्षयव्याधिश्च संजायते। तथा च वल्लभदेवः—

यः संसेवयते कामी कामिनीं सततं प्रियां।
तस्य संजायते यक्ष्मा[1] धृतराष्ट्रपितुर्यथा॥ १॥

अथ विरुद्धकामवृत्तेर्यद्भवति तदाह—

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति॥ १३॥

टीका—यः पुमान् विरुद्धवृत्तिः स समृद्धोऽपि लक्ष्मीवानपि चिरकालं न नन्दति न पुनर्लक्ष्मीवान् भवति। विरुद्धकामशब्देन परदारसेवा कथ्यते तया यो वर्तेत इति। तथा च ऋषिपुत्रकः—

परदाररतो योऽत्र पुरुषः संप्रजायते[2]।
..॥ १॥

---

१ क्षयरोगः। २ अस्मादग्रेतनः पाठः पुस्तके नास्ति।

अथ धर्मार्थकामानामेककालप्राप्तानां यः प्रथमं सेव्यस्तमाह—

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥ १४ ॥

टीका—धर्मार्थकामनामेतेषां त्रयाणां यो पूर्वः प्रथमः स गरीयान् गुरुतरः। एतदुक्तं भवति, अर्थाद्धर्मः प्रथमं प्रोक्तः स तस्मात् प्रधानतरः, तस्मात् क्रमेण ते सेव्यास्त्रयोऽपि गृहस्थेन। कथं, सत्रिभागं प्रहरं यावत् धर्मचिन्ता कर्तव्या ततः सत्रिभागं प्रहरं यावदर्थचिन्ता ततः कामचिन्ता। तथा च भागुंरिः—

धर्मचितां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत्।
ततो वित्तार्जने तावन्मात्रं कामार्जने तथा ॥ १ ॥

अथ कालापेक्षया त्रयाणां मध्ये यः प्रथमं कार्यस्तदर्थमाह—

कालासहत्वे पुनरर्थ एव ॥ १५ ॥ *

टीका—कालासहत्वात् असहिष्णुतया कालस्य धर्मादर्थो गुरुः। यतोऽर्थबाह्यो धर्मो न भवति। यदि पुनर्धर्मकामयुक्तः पुरुषो भवति तदार्थः कार्यः यतोऽर्थो मूलं धर्मकामयोस्तं विना तौ न भवतः, तस्मात्त्रयाणामप्येतेषामर्थो गुरुतरः सत्रिभागं प्रहरं यावदर्थश्चिन्तनीयस्ततो धर्मस्ततः काम इति। तथा च नारदः—

धर्मकामौ न सिध्येते दरिद्राणां कथंचन।
तस्मादर्थो गुरुस्ताभ्यां संचिन्त्यो ज्ञायते बुधैः ॥ १ ॥

इति कामसमुद्देशः।

---

* अस्मादग्रे "धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्" इत्यपि सूत्रं वर्तते मुद्रितपुस्तके

४ अरिषड्वर्ग-समुद्देशः ।

अथ भूपतीनां शरीरस्थः शत्रुषड्वर्गो यथा भवति तथाह—

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥ १ ॥

टीका—अयुक्त्यान्यायेन सेविताः सन्तः काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्षाः, एतेषां षण्णां वर्गः संघातोऽन्तरङ्गः शरीरस्थः शत्रुषड्वर्गो वैरि-लक्षणो ज्ञेयः। केषां? क्षितीशानां। कोऽर्थः? यच्छत्रवः कुपिता वंचिता एते इत्यर्थः ? ।

अथ यथा कामो दुरभिसन्धिर्भवति तदाह—

परपरिगृहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥ २ ॥

टीका—परैरन्यैर्या परिगृहीता वेश्यादयः, तथा या अनूढाः कुमारिकास्तासु विषये यः कामः स दुरभिसन्धिर्न सुखदो भवति। तथा च गौतमः—

> **अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते**
> **तस्य कामः प्रदुःखाय बन्धाय मरणाय च ॥ १ ॥**

अथ क्रोधो यथारिः संजायते तदाह—

अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः ॥ ३ ॥

टीका—यः परस्य शत्रोः शक्तिं न जानाति, आत्मनो वा विचारं न करोति तस्यापायस्य विनाशस्य हेतुः कारणं स क्रोधः। तथा च भागुरिः—

अविचार्यात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
यः कोपं याति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥ १ ॥

अथ लोभो यथा भवति तदाह—

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ॥ ४ ॥

टीका—यद्दानयोग्येषु न दीयते स लोभः कस्माद्यतो वित्तक्षतिर्भवति स तावद्वित्तलोभः। तथा परधनं यच्चौर्यादिभिर्गृह्यते लोभः स एव। तथा चात्रिः—

परस्वहरणं यत्तु तद्धनाढ्यः समाचरेत्।
तृष्णायार्हेषु ? चादानं स लोभः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अथ मानो यथा भवति तदाह—

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥

टीका—यो दुरभिनिवेशोऽव्यवहारो न शिष्टाचारस्तस्य योऽसौ अमोक्षोऽपरित्यागः स मानः। तथा यथोक्ताग्रहणं वा मानः यथोक्तं शास्त्रे शिष्टैर्यथा प्रोक्तं तन्न गृह्यते स मानः। तथा च व्यासः—

पापकृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम्।
यत्तन्मानाभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च ॥ १ ॥

अथ मदो यथा भवति तदाह—

कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥

टीका—यच्चात्मना कुलेन बलेन वाप्यैश्वर्येण रूपेण विद्यया वा अहंकारकरणं अहंकारः क्रियते। अथवैतेषां पंचानामेकतमेनापि परस्यान्यस्य प्रकर्षणं क्रियते। निबन्धनं निराकरणं च स मदः। तथा च जैमिनिः—

---

१ दानार्थेषु मु.। २ अकारणं परधनग्रहणं वा मु—मू.।

कुलवीर्यस्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः ।
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ॥ १ ॥

अथ हर्षो यथा भवति तथाह—

*** निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन [1]वा मनःप्रतिरंजनो [2]हर्षः ॥ ७ ॥**

टीका—निर्निमित्तं अन्यस्य दुःखोत्पादनं क्रियते तत्र या प्रीतिः सोऽपि हर्ष इति । तथा च भारद्वाजः—

प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्वान्यस्य हृष्यति ।
आत्मनोऽनर्थसंदेहैः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः ॥ १ ॥

इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः ।

---

* हर्ष लक्षणाभिधायकं सूत्रं पुस्तके न विद्यते अतो मुद्रितपुस्तकस्थं सूत्रं संयोजितं वृत्तिरपि त्रुटितरूपैव । १ स्वस्यानर्थसंशयेन वा. मू. । २ मनःप्रीतिजननो. मू—पुस्तके ।

५ विद्यावृद्धसमुद्देशः ।

अथ राजा यादृशो भवति तदाह—

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा ॥ १ ॥

टीका—अनुकूले मित्रस्वरूपः प्रतिकूले शत्रुस्वरूपः । तयोर्द्वयोः शक्रधर्मराजस्थानं यथासंख्येन भवति स राजा नान्यः । तथा च भार्गवः—

> **वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः ।**
> **अभिषेको व्रणस्यापि व्यञ्जनं पङ्कमेव वा ॥ १ ॥**

अथ राज्ञो यथा धर्मो भवति तदाह—

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः ॥ २ ॥

टीका—राज्ञो भूपतेर्योऽसौ दुष्टानां पापानां निग्रहो दण्डः । तथा शिष्टपरिपालनं[१] च साधुजनरक्षणं च स धर्मः । नान्यो दानादिकः[२] । तथा च वर्गः—

> **विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनं ।**
> **दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः ॥ १ ॥**

अथ व्रतचर्यादिभिरनुष्ठितैर्भूपतीनां न धर्मो यथा भवति तथाह—

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकं[३] ॥ ३ ॥

टीका—यत्पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकं धर्मः, अन्यदपि व्रतचर्यादिलक्षणं तद्भूपतीनामधर्माय भवति । तथा च भागुरिः—

---

१ प्रतिपालनं मू–पुस्तके । २ दानाधिकः पुस्तके पाठः । ३ जटाधारणं वा मु–मू–पुस्तके ।

ब्रतचर्यादिको धर्मो न भूपानां सुखावहः ।
तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षणेन च ॥ १ ॥

अथ राज्ञो यथा योग्यं कर्म राज्यं भवति तदाह-—

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यं ॥ ४ ॥

टीका—राज्ञो भूपतेर्यत्पृथ्वीपालनोचितं योग्यं कर्म षाड्गुण्यलक्षणं तद्राज्यमुच्यते न विलासाद्यं तस्माद्भूपतिना षाड्गुण्यनिरतेन सदैव भाव्यं न केवलं विलासरतेन । तथा च वर्गः—

षाड्गुण्यचिन्तनं कर्म राज्यं यत्संप्रकथ्यते ।
न केवलं विलासाद्यं तेन बाह्यं कथंचन ॥ ११ ॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनाः सदा ।
षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं स चिरेण प्रणश्यति ॥ २ ॥

अथ भूयोऽपि भूपतेर्यादृग्राज्यं [शब्दः] तदाह—

वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ॥५॥

टीका—न केवलं भूपतेः प्रजापालनं राज्यमुच्यते । चकाराद्वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथिवी राज्यमुच्यते । वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमा ब्रह्मचारिप्रभृतयस्ते विद्यन्ते यस्यां सा वर्णाश्रमवती । पुनरपि किंविशिष्टा पृथ्वी ? धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला धान्यं सस्यं, हिरण्यं द्रव्यं, पशवश्चतुष्पदाद्याः, कुप्यं सुवर्णरूप्याभ्यामन्यत् । एतेषां पदार्थानां वर्षणं वृष्टिस्तस्याः प्रदानं या करोति सा पृथिवी उच्यते । एतदुक्तं भवति—एतैः (एतेषां) पदार्थैः (पदार्थानां) या वर्षणं करोति—एते पदार्था यस्या भूमेः सकाशान्नित्यं यस्य राज्ञः समुत्पद्यन्ते तद्राज्यमिति । तथा च भृगुः—

वर्णाश्रमसमोपेता सर्वकामान् प्रयच्छति ।
या भूमिर्भूपते राज्यं प्रोक्ता सान्या विडम्बना ॥ १ ॥

अथाश्रमलक्षणमाह—

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ॥ ७ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथापकुर्वाणकस्य ब्रह्मचारिणो लक्षणमाह—

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥ ८ ॥

टीका—स्नानं कुर्यात् । अत्र स्नानशब्देन यज्ञावभृथस्नानमुच्यते । एतदुक्तं भवति, वेदानपि पठित्वा तत्रस्थोऽपि विवाहं न करोति पश्चात् गुरोः सुश्रूषां करोति नान्यैर्ब्रह्मचारिभिरिव गृहं याति यज्ञावभृथमुच्यते । तत्कृत्येनोपकुर्वाणसंज्ञां प्राप्नोति । उपकुर्वाणकशब्देन यज्ञावभृथस्नानं । तथा च वर्गः—

वेदानधीत्य यः कुर्याद्विवाहं यज्ञमेव वा ।
उपकुर्वाणकीं संज्ञां ब्रह्मचारी लभेत सः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मचारिण उपकुर्वाणसंज्ञा यथा भवति तदाह—

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः ॥ ९ ॥

टीका—गतार्थमेतत्

अथ नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणो लक्षणमाह—

---

१ ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे ।
चत्वारोऽगे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥ १ ॥

अथवा—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिसृताः ॥ १ ॥

२ वेओ किल सिद्धंतो तस्सट्ठा णवपयत्थछद्दव्वं ।
गुणमग्गणठाणावि य जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥ १ ॥

उपासकाध्ययनादिशास्त्रं वा । ३ अस्यार्थः स्वयमाचार्येणोत्तरप्रबन्धेन वक्ष्यते ।

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारंकर्म ॥ १० ॥

टीका—यस्य ब्रह्मचारिणः प्राणान्तिकं मृत्युपर्यन्तं कलत्ररहितं क्रियाकांडं भवति स नैष्ठिकः प्रोच्यते । निष्ठाशब्देन कष्टमभिधीयते तया दीव्यति नैष्ठिकः । तथा च भारद्वाजः—

कलत्ररहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते ।
कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ॥ १ ॥

अथ पुत्रस्य लक्षणमाह—

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥ ११ ॥

यः पुत्र उत्पन्नो जातः कुलं पुनीते पवित्रतां नयति स्नानदानव्रतादिभिः स पुत्रः प्रोच्यते । तथा च भागुरिः—

कुलं पाति समुत्थो यः स्वधर्मं प्रतिपालयेत्
पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायणः ॥ १ ॥

अथ कृतुपदस्य ब्रह्मचारिणो लक्षणमाह—

कृतोद्वाहः कृतुप्रदाता कृतुप्रदः ॥ १२ ॥

टीका—यो ब्रह्मचारी कृतोद्वाहः सन् ऋतुकालाभिगामी केवलं सन्तानाय भवति स कृतपदसंज्ञो भवति । तथा च वर्गः—

सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेद्दतौ ।
कृतुपदः स सर्वेषामुत्तमोत्तमसवेवित् ॥ १ ॥

अथापुत्रस्य ब्रह्मचारिणो यद्भवति तदाह—

अपुत्रो ब्रह्मचारी पितॄणामृणभाजनम् ॥ १३ ॥

---

१ प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पंचापनयादयः ।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥ १ ॥

२ पुत्रः पुपुषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः ।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥ १ ॥

३ नेदं सूत्रं मु–मू–पुस्तके ।

टीका—यो ब्रह्मचारी पुत्ररहितो भवति स पितॄणामृणभाजनं भवति ततश्च पुनर्नरकं प्राप्नोति । तथा च ऋषिपुत्रकः—

पिता पुत्रमुखं दृष्ट्वा मुच्यते पैतृकादृणात् ।
अपुत्रश्च पुनर्याति पुसंज्ञं नरकं नरः ॥ १ ॥

अथाध्ययनरहितस्य ब्रह्मचारिणो यद्भवति तदाह—

अनध्ययनो ब्रह्मणः ॥ १४ ॥

टीका—अनध्ययनो वेदरहितः स ब्रह्मणः पितामहस्य ऋणभाजनं भवति । तथा च ऋषिपुत्रकः—

ब्रह्मचारी न वेदं यः पठते मौख्यमास्थितः ।
स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुसीदकम् ॥ १ ॥

अथायजनब्रह्मचारिणो यद्भवति तदाह—

अयजनो देवानां ॥ १५ ॥ *

टीका—यो ब्रह्मचारी अयजनो भवति यजनं न करोति स देवानां ऋणभाजनं भवति । तथा च ऋषिपुत्रः—

नाग्नेः परिग्रहो यस्य विद्यते ब्रह्मचारिणः ।
ऋणभागी स देवानां जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणोऽपुत्रस्यापि यद्भवति तदाह—

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥ १६ ॥

टीका—वै शब्दः समुच्चये । नैष्ठिकस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ब्रह्मचारिण आत्मा एव पुत्रः । एतदुक्तं भवति—यथाऽपुत्रः पुत्रार्थं चिन्तयति पुत्रं प्राप्नोति । तथा नैष्ठिकोऽपि चात्मावलोकनपरोऽपुत्रदोषं न प्राप्नोति । पुनर्नरकं न पश्यतीत्यर्थः । तथानध्यनायजनदोषमपि न प्राप्नोति । तथा च ऋषिपुत्रकः—

---

* अस्मादग्रे " अहन्तकरो मनुष्याणां"इत्यपि पाठ उपलभ्यते मुद्रितपुस्तके

तेनाधीतं च यष्टं च पुत्रस्यालोकितं मुखं ।
नैष्ठिको वीक्ष्यते यस्तु परमात्मानमात्मनि ॥ १ ॥

अथ नैष्ठिकस्यात्मावलोकनेन सपुत्रवेदाध्ययनयजनानि येन कारणेन तदाह—

अयमात्मात्मानमात्मनि संदधानः परां पूततां सम्पद्यते १७

टीका—अयं आत्मा सर्वव्यापी[1] ब्रह्ममयो[2] यस्तस्मिन्नात्मनि आत्मना आत्मानं चित्स्वरूपं संदधानो धारयमाणः सम्पद्यते गच्छति। कां? परां उत्कृष्टां पूततां । एतदुक्तं भवति चतुर्विधब्रह्मचर्यफलमाप्नोति । तथा च नारदः—

आत्मावलोकनं यस्य जायते नैष्ठिकस्य च ।
ब्रह्मचर्याणि सर्वाणि यानि तेषां फलं भवेत् ॥ १ ॥

इति चतुर्विध ब्रह्मचारिसमुद्देशः ।

अथ गृहस्थो यादृशो भवति तदाह—

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥ १८ ॥

टीका—यो नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं करोति स गृहस्थः नान्यो नित्यनैमित्तिकवर्जितः । अत्र नित्यानि स्वाध्यायपितृतर्पणवासुदेवपूजन स्नानदानपूर्वाणि । नैमित्तिकानि संक्रान्तिवैधृतिव्यतीपातचन्द्रक्षयपूर्वाणि । तथा च भागुरिः

नित्यनैमित्तिकपरः श्रद्धया परया युतः ।
गृहस्थः प्रोच्यते सद्भिरशृङ्गः पशुरन्यथा ॥ १ ॥

---

१ स्वशरीरे सर्वव्यापी न तु सर्वजगति युक्तिविरुद्धत्वात् ।

२ एगो मे सासदो आदा णाणदंलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।

३ इत्यादिपरमागमप्ररूपिते स्वात्मबोधे लीनो न तु ब्रह्माद्वैतोक्तब्रह्मस्वरूपमयः । तस्य युक्तिविरुद्धत्वात् विषयौ चेतौ मार्तंडेऽवलोकनीयौ ।

अथ नित्यानुष्ठानस्य लक्षणमाह—

ब्रह्मदेवपितृतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥ १९ ॥

टीका—यत्स्वशक्त्या ब्रह्मणः पूजा क्रियते तथाभीष्टदेवतार्चनं तथा पितृत्तर्पणं तथा कालप्राप्तब्राह्मणतर्पणं तथा भूतयज्ञः। भूतयज्ञशब्देन वैश्वदेवबलिप्रदानमुच्यते एतानि कुर्वाणो गृहस्थो नित्यानुष्ठानी भवति। तथा च वर्गः—

पितृदेवमनुष्याणां पूजनं ब्राह्मणैः सह।
बलिप्रदानसंयुक्तं नित्यानुष्ठानमुच्यते ॥ १ ॥

अथ नैमित्तिकानुष्ठानस्य लक्षणमाह—

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥ २० ॥

टीका—दर्शशब्देनामावास्या प्रोच्यते। पौर्णमासी प्रसिद्धा एते द्वे अपि आद्ये, प्रथमे यासां तिथीनां ता दर्शपौर्णमास्याद्यास्तासु तिथिषु। देवतासमुद्देशेन यत् क्रियते धर्मफलं तन्नैमित्तिकं। तथा च भागुरिः—

हुतवहकमलजगिरिजागजवदनभुजंगगुहदिनेशशिवाः।
दुर्गायमविश्वाच्युतमदनेश्वरचण्डिकास्थितिपतयः ॥ १ ॥
पितरोऽमावस्यां यान्ति तिथिपूजात्र या कृता
तेषां तन्नैमित्तिकं प्राह यच्चानित्यं च पर्वभवं ॥ २ ॥

अथान्यदपि चतुर्विधगृहस्थलक्षणमाह—

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः ॥ २१ ॥

---

१ गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवन्ति। तत्रार्हत्पूजेज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुखं कल्पवृक्षोऽष्टान्हिक ऐन्द्रध्वज इति। तत्र नित्यमहो नित्यं यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद्गन्धपुष्पाक्षतादिनिवेदनं, चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति। चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणा पूजा सैव महामहः सर्वतोभद्र इति। कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थैः सन्तर्प्य चक्रवर्तिना क्रियमाणो महः। अष्टान्हिकं

एकाग्निमाहरेद्यस्तु भार्यया परया युतः ।
वैवाहिकः स विज्ञेयो वर्तमानगृहे स्थितः ॥ १ ॥
अग्निहोत्रपरो यस्तु केवलं यजनं विना ।
शालीनः स च विज्ञेयः पंचवैश्वानरार्चनात् ॥ २ ॥
एकवन्हिपरो वाथ पंचवन्हिपरोऽपि वा ।
यः शूद्रार्थं न गृह्णाति शुक्लो जायावरो हि सः ॥ ३ ॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्यजते यः सदक्षणैः ।
अघोरः स च विज्ञेयः सौम्यरूपवपुर्धरः ॥ ४ ॥

इति चतुर्विधगृहस्थसमुद्देशः ।

अथ वानप्रस्थलक्षणमाह—

प्रतीतं । ऐन्द्रध्वज इंद्रादिभिः क्रियमाणः । बलिस्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रय-स्वामिनः पूजाभिषेककरणं । पुनरप्येषां विकल्पा अन्येऽपि पूजाविशेषाः सन्तीति । वार्तासिमषिकृषिवाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्याऽर्थोपार्जनमिति । दत्तिर्दयापात्रसमसकलभेदाच्चतुर्विधा । तत्र दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यः त्रिशुद्धिभिरभयदानं । पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादि-पूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञानसंयमोपकरणादिदानं च । समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानं । स्वसमानाभावे मध्यपात्रस्यापि दानं । सकलदत्तिरात्मीयस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं च समर्प्य प्रदानं, अन्वयदत्तिश्च सैव । स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययन-मध्यापनं स्मरणं च । संयमः पंचाणुव्रतप्रवर्तनम् । तपोऽनशनादिद्वादशविधानु-ष्ठानम् । इत्यार्यषट्कर्मनिरता गृहस्था द्विविधा भवन्ति जातिक्षत्रियास्तीर्थ-क्षत्रियाश्चेति । तत्र जातिक्षत्रियाः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्रभेदाच्चतुर्विधाः । तीर्थ-क्षत्रियाः स्वजीवनविकल्पादनेकधा भिद्यन्ते ।

जैनमतानुसारेण गृहस्थानां विकल्पा उक्तप्रकारेण प्रतिपत्तव्याः। नेदं गृहस्थ-भेदप्रतिपादकं सूत्रं मु–लि–मूलपुस्तके । अस्य ग्रंथस्य टीकाकर्ता कश्चिद्जैन-विद्वानस्तीति निश्चितं । अतस्तेन स्वमतानुसारेण बहूनि सूत्राणि विरचय्य संयोजितानि । तानि च तत्र तत्र निवेदयिष्यामः ।

यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥ २२ ॥

टीका—यो गृहस्थः सन् खलु निश्चयेन विधिमनुष्ठानं, जानपदं लोकसंभवं ग्राम्यभोजनाच्छादनादिकं तथान्यदपि सांसारिकं चतुष्पदादि-पुत्रपौत्रादिकं सर्वं परित्यज्य सकलत्रः सपत्नीको विकलत्रो वा वनं गच्छति वानप्रस्थः। तथा च देवलः—

सकलत्रोऽथवाप्येको गृहस्थो यो वनं व्रजेत्।
त्यक्तग्राम्यविधिः सर्वो वानप्रस्थः स उच्यते ॥ १ ॥
जटित्वमग्निहोतृत्वं भूशय्याजिनधारणं।
वने वासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता ॥ २ ॥
प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिःस्नानं ब्रह्मचारिता
देवतातिथिपूजा च धर्मोयं वनवासिनः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्विधस्य वानप्रस्थस्य लक्षणमाह—

* वालिखिल्य औदम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः ॥ २३ ॥

टीका—अरणीं केवलां गृह्य विभार्यो यो वनं व्रजेत्।
जुहुयान्नूतनं वन्हि वालिखिल्यो वनेचरः ॥ १ ॥
सभार्यो यो वनं गच्छेत् गृहीत्वा वन्हिपंचकं।
औदुम्बरः स विज्ञेयो वानप्रस्थो मनीषिभिः ॥ २ ॥
कन्दमूलफलाशीर्यस्त्रिकालं स्नानमाचरेत्।
साग्निकोऽतिथिपूजाढ्यः स च वैश्वानरः स्मृतः ॥ ३ ॥
यावन्मात्रं भवेद्भोज्यं तावन्मात्रमुपार्जयेत्।
नीवाराज्यं च साग्निकः सद्यःप्रक्षालको भवेत् ॥ ४ ॥

---

१ परमतानुसारेणेदं लक्षणं विज्ञायते। जैनमतानुसारेण त्विदं 'वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति।—चारित्रसारे। * इदं चिन्हांकितं सूत्रं. मु–मू–पुस्तके नास्ति परं टीकाकर्तुरिदं।

इति चतुर्विधवानप्रस्थसमुद्देशः।

अथ यतिलक्षणमाह—

यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते यतिः॥ २४॥

टीका—यो देहमात्रारामः शरीरमात्रेणात्मनं रमते नान्यत्किंचिदानन्दार्थं विलोकयति। सम्यग्विद्याशब्देन ज्ञानमभिधीयते सा एव नौर्यानपात्रं तामभ्यस्यन् संसारनदीपारगमनाय यो योगस्तदर्थं यतते यत्नं करोति स यतिः। तथा च हारीतः—

आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः।
संसारतरणार्थाय योगभाग्यतिरुच्यते॥ १॥

अथ चतुर्विधयतिलक्षणं—

*** कुटीरकबव्होदकहंसपरमहंसा यतयः॥ २५॥**

टीका—**त्रिदण्डी सशिखी यस्तु ब्रह्मसूत्री गृहच्युतः।**
सकृत् पुत्रगृहे स्नाति यो यतिः स कुटीचरः॥ १॥

---

* यतिभेदप्रतिपादकं सूत्रं टीकाकर्त्रा विरचितं, नेदं सूत्रं मु–लि–मूल पुस्तके। जैनमतानुसारेण तु यतीनां इमे चत्वारो भेदाः। भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहवो भवन्ति। अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति। तत्रानगाराः सामान्यसाधव उच्यन्ते। यतय उपशमक्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते। मुनयोऽवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते। ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधा राजब्रह्मदेवपरमभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणऋद्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्धयौषधिऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ताः कथ्यन्ते। परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते। अपि च—

देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धि–
रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः।
राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति–
प्राप्तो बुद्धयौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण॥ १॥

कुटीचरस्य रूपेण ब्रह्मभिक्षाकृताशनः ।
बव्हूदकः स विज्ञेयो विष्णुजापपरायणः ॥ २ ॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे स्थाने चैव त्रिरात्रकं ।
दण्डभिक्षां चरेत्तत्र पुटिकां वा समाचरेत् ॥ ३ ॥
विप्राणामावसथेषु विधूमेषु गताग्निषु ।
हंसस्य जायते ज्ञानं यदा स्यात्परमो हि सः ॥ ४ ॥
चतुर्वर्णप्रभोक्ता स्यात्स्वेच्छया दण्डधृत्तदा ।
सर्वारम्भपरित्यागो भैक्षास्य वृक्षमूलतः ॥ ५ ॥
निष्परिगृहीताद्रोहः समता सर्वजन्तषु ।
प्रियाप्रियापरिष्वङ्गः सुखदुःखाविकीरिता ॥ ६ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता ।
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणा ध्याननित्यता ॥ ७ ॥
भावसंशुद्धिरित्येषा परिव्राड्धर्म उच्यते ।

चतुर्विधयतिसमुद्देशः ।

अथ राज्यस्य मूलं यद्भवति तदाह—

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ॥ २६ ॥

टीका—क्रमशब्देन पितृपैतामहिकं राज्यमुच्यते । विक्रमः शौर्यं । एतत् वृक्षस्येव राज्यमूलं[1] । यथा वृक्षेण मूलेन सता सर्वशाखादिपुष्पफलं भवति तथा च राज्यस्य क्रमविक्रमाभ्यां सहितस्य सर्वं हस्त्यश्वधनधान्यादिकं भवति । तथा च शुक्रः—

क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य तु यथा तरोः ।
समूलस्य भवेद्वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥ १ ॥

अथ यथा क्रमसम्पत्तिर्भवति तथाह—

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥ २७ ॥

---

१ राज्यमूलं मु—पुस्तके ।

टीका—आचारो लोकव्यवहारस्तेन वर्तमानस्य नयवृद्धौ राज्यवृद्धि-र्भवति । तथा च शुक्रः—

लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः ।
तद्वृद्धया वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतं ॥ १ ॥

अथ यथा विक्रमस्यालङ्कारो भवति तदाह—

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥ २८ ॥

टीका—अनुत्सेकशब्देनागर्वोऽभिधीयते स विक्रमस्य शोभां जनयति । न कनकादिभूषणं । तथा च गुरुः—

भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः ।
सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥
योऽमात्यान्मन्यते गर्वान्न गुरून् न च बान्धवान् ।
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा ॥ २ ॥

अथ भूपस्य राज्यलाभो यथा भवति तदाह—

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण[2] राज्यस्य दुष्करः परिणामः २९

टीका—क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेणैकतमस्वीकारेण राज्यस्य दुष्करो न शक्यते परिणामः परिणतिः । एतदुक्तं भवति पराक्रमरहितं क्रमागतं पितृपैतामहिकमपि राज्यं विनश्यति । यदि बलेन परराज्यं गृहीतं परिणामं न याति भूयोऽपि तथा कार्यं, क्रमेण यथा गच्छति । तथा च शुक्रः—

राज्यं हि सलिलं यद्वद्बलेन समाहृतं ।
भूयोऽपि तत्ततोभ्येति लब्ध्वाकालस्य संक्षयं ? ॥ १ ॥

---

१ अस्य स्थाने ' नयवृद्धिर्दं ' इति पाठः पुस्तके । २ अन्यतमेति पाठः मु—पुस्तके सोपि समीचीन एव ।

अथवा पितृपैतामहिकेऽपि राज्ये प्राप्ते पराक्रमं त्यक्त्वा भीरुत्वं प्रतिगृह्णाति तस्यापि राज्यस्य परिणामः परिणतिर्दुष्करा भवति । कोर्थः ?[1] राज्यभ्रंशो भवतीति । तथा च नारदः—

पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः
अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ॥ १ ॥

अथ क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं राजा यथा भवति तथाह—

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥ ३० ॥

टीका—यो बुद्धिमान् राजा भवति स क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं स्थानं भवति। आहार्यबुद्धिर्वा तथा आहार्यबुद्धिर्यो भवति सोऽपि क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं भवति। आहार्या बुद्धिर्यस्यासौ आहार्यबुद्धिः। अमात्यदत्तोपदेश इत्यर्थः। तथा च शुक्रः—

स बुद्धिसहितो राजा नीतिशौर्यगृहं भवेत्।
अथवामात्यबुद्धिस्तु बुद्धिहीनो विनश्यति ॥ १ ॥

अथ बुद्धिमान् यथा राजोच्यते तदाह—

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥ ३१ ॥

टीका—यो शास्त्रानुगतबुद्धिर्भवति स बुद्धिमान् न शिल्पादिभिर्यथा प्राकृतो जनः। तथा गुरुः—

शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्।
शास्त्रबुद्ध्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥ १ ॥

अथ शास्त्ररहितबुद्धेः शूरस्यापि नृपस्य यद्भवति तदाह—

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ॥ ३२ ॥

टीका—शास्त्ररहितस्य केवलं पौरुषयुक्तस्य चिरं प्रभूतकालं कुशलं न भवति केनापि वध्यते दुष्टोऽयमिति। तथा च शुक्रः—

---

१ 'नय' पुस्तके पाठः

पौरुषान्मृगनाथस्तु हरिः स प्रोच्यते जनैः ।
शास्त्रबुद्धिविहीनस्तु यतो नाशं स गच्छति ॥ १ ॥

अथ शास्त्ररहितस्य नृपतेर्यद्भवति तदाह—

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः[1] प्रज्ञावानपि भवति विद्विषां वशः ॥३३॥

टीका—यथा शस्त्ररहित आयुधवर्जितः पुमान् शूरोऽपि चौरादीनां गम्यो भवति तथा शास्त्ररहितः शूरोपि पुमान् प्रज्ञावानपि सर्वेषां[2] चौरादीनां गोचरो गम्यो भवति तथा च गुरुः—

नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रज्ञावानपि हन्यते ।
परैः शस्त्रविहीनस्तु चौराद्यैरपि वीर्यवान् ॥ १ ॥

अथ शास्त्रं पुरुषस्य यथा भवति तदाह—

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥३४॥

टीका—अर्थशब्देन प्रयोजनमभिधीयते । यत्प्रयोजनं लोचनाभ्यां न दृश्यते तस्य दर्शनार्थं तृतीयं लोचनं शास्त्रं भवति । एतदुक्तं भवति, तत्प्रयोजनं शास्त्रदृष्टया ज्ञेयं, युक्तमयुक्तं भवति न वेति निश्चयः कार्यः । तथा च गुरुः—

अदृश्यो निजचक्षुर्भ्यां कार्ये सन्देहमागते ।
शास्त्रेण निश्चयः कार्यस्तदर्थं च क्रिया ततः ॥ १ ॥

अथ शास्त्रहीनः पुमान् यथा भवति तदाह—

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥ ३५ ॥

टीका—येन पुरुषेण शास्त्रं पठितं न भवति स लोचनसहितोऽप्यन्ध एव ज्ञेयः । तथा च भागुरिः—

शुभाशुभं न पश्येच्च यथान्धः पुरतः स्थितं ।
शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विन्दति ॥ १ ॥

---

१ अशास्त्रज्ञ इति मु–पुस्तके । २ सर्वेषां गोचरं मु–मू.–पुस्तके ।

अथ मूर्खः पुमान् यथा भवति तदाह—

न ह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति ॥ ३६ ॥

टीका—अस्मिन् जगति अज्ञानान्मूर्खादन्यो द्वितीयः पशुर्नास्ति। यतः पशुस्तृणानि भक्षयति ततो मूत्रपुरीषक्रियां करोति तथा मूर्खोऽपि खानपानाद्यं मूत्रपुरीषे च केवलं करोति, धर्माधर्मौ न जानाति। तथा च वशिष्ठः—

मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवर्जिताः।
धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः ॥ १ ॥

अथ भुवनं यादृशेन राज्ञा वृद्धिं न याति तथाह—

वरमराजकं भुवनं न तु[2] मूर्खो राजा ॥ ३७ ॥

टीका—वरं अराजकं भूपतिहीनं भुवनं न तु मूर्खभूपालाधिष्ठितं। तथा च गुरुः—

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम्।
मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्ति संक्षयं ॥ १ ॥

अथ कुमारो यथा पदवीमाप्नोति तदाह—

असंस्कारं[3] रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥ ३८ ॥

टीका—यस्य राजपुत्रस्य सुजातस्यापि कुलीनस्यापि संस्कारः कौशल्यं न भवति तं नायकत्वे यौवराज्यपदे नामनन्ति न वाञ्छन्ति सर्वाः प्रकृतयः यत् युवराजोऽयं भवतु। कथं, रत्नमिव परं संस्काररहितं, यावच्छाणो लीढं (न) क्रियते सुजातमपि समुद्रोत्पन्नमपि। नायकत्वे न मन्यते यथा रत्नमसंस्कृतं।

---

१ अन्यः इति मु—पुस्तके पाठान्तरं। २ त्विति मु—मू—पुस्तके नास्ति। ३ अकृतसंस्कारं मु—पुस्तके। ४ नीतिमन्तः इति मू—पुस्तके।

अथ दुर्विनीताद्राज्ञः सकाशात् प्रजानां यद्भवति तदाह—

न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ॥३९॥

टीका—प्रजानां लोकानां दुर्विनीताद्राज्ञः सकाशात् अन्य उत्पातो विनाशलक्षणो नास्ति न विद्यते । उत्पातैर्भूमिकम्पादिभिः किञ्च प्रजाक्षयो भवति तेषां सकाशादपि अधिक उत्पातो दुश्चेष्टितस्य भूपतेः सकाशाद्भवति । तथा च हारीतः—

उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शांतिकैर्याति सौम्यतां ।
नृपदुर्वृत्त उत्पातो न कथंचित्प्रशाम्यति ॥ १ ॥

अथ दुर्विनीतस्य नृपतेर्लक्षणमाह—

यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः ४०

टीका—यो राजा युक्तायुक्तयोर्योग्यायोग्ययोः पदार्थयोः विषयेऽविवेकी विवेकहीनो बुद्ध्या न जानाति, अयोग्यानां प्रसादं करोति, योग्यानामपमानं करोति स दुर्विनीतः । तथा यो विपर्यस्तमतिर्विपरीतबुद्धिर्वा यः शिष्टानामाचारं न मन्यते पापानां करोति स विपर्यस्तमतिः । तथा च नारदः—

युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः ।
दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

अथ द्रव्यस्य लक्षणमाह—

यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद्द्रव्यं ॥ ४१ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् पुरुषद्रव्ये सद्भिः शिष्टैराधीयमाना नियोज्यमाना गुणाः संक्रामन्ति स्थिराः स्युस्तद्द्रव्यं राजार्हः स्यात् । तथा च भागुरिः—

---

१ न पुनरिति मु–पुस्तके । २ युक्तायुक्तयोगवियोगयोरविवेकमतिर्वा स दुर्विनीतः इति मु–पुस्तके सूत्रं । ३ अविवेकमतिरिति मू–पुस्तके पाठः । ४ विपर्यायमतिर्वेति मु–पुस्तके ।

योज्यमाना उपाध्यायैर्यत्र पुंसि स्थिराश्च ते ।
भवन्ति नरि द्रव्यं तत्प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ॥ १ ॥

अथ द्रव्यप्रकृतेर्यदि तदद्रव्यप्रकृतिर्भवति तस्य राजकुलस्य यादृग्भवति तदाह—

यतो द्रव्यप्रकृतेरप्यस्ति पुरुषः संकीर्णगजवत् ॥ ४२ ॥

टीका—यतः कारणात् द्रव्यप्रकृतेरुत्तमपुरुषस्य सर्वगुणयुक्तस्य सकाशात् कश्चित् पुरुषः संकीर्णगजसदृशो भवति मिश्रगुणः । यथा भद्रमन्दरमृगजात्यो मिश्रगुणो गजः स राजार्हो न भवति तथा सोऽपि द्रव्यप्रकृतिः पुरुषो द्रव्यप्रकृतिना जातोऽपि । तथा च वल्लभदेवः—

शिष्टात्मजो विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्यस्वभावकः ।
न स्याद्राज्यपदार्होऽसौ गजो मिश्रगुणो यथा ॥ १ ॥

तथा च गुरुः—

यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते ।
सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हं कृत्यसाधनं ॥ १ ॥

अथ द्रव्यभूतस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं ॥ ४३ ॥

टीका—हि यस्मात्कारणात् यत्पुरुषद्रव्यं भवति तत् क्रियां राजलक्षणां विनयति भोग्यतां नयति । नाद्रव्यं, गुणच्युतं । तथा च भागुरिः—

गुणाढ्यैः पुरुषैः कृत्यं भूपतीनां प्रसिद्ध्यति ।
महत्तरमपि प्रायो निर्गुणैरपि नो लघु ॥ १ ॥

अथ बुद्धिगुणानां लक्षणमाह—

सुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणाविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ॥ ४४ ॥

---

१ द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपीति मु–पुस्तके । २ भिनिवेशविद्या इति बुद्धिगुणा, मु–पु. स्यष्टौ बुद्धिगुणा इति मू–पुस्तके ।

टीका—एते अष्टावपि बुद्धिगुणाः । एतेषां व्याख्यानं स्वयमाचार्येण कृतं । तद्यथा—

श्रोतुमिच्छा सुश्रूषा ॥ ४५ ॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥ ४६ ॥

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानं ॥ ४७ ॥

धारणमविस्मरणम्[1] ॥ ४८ ॥

मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥ ४९ ॥

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥ ५० ॥

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यभावसंभावनया[2] व्यावर्तनमपोहः ॥ ५१ ॥

अथवा ज्ञानसामान्यमूहो[3] ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥ ५२ ॥

विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वाभिनिवेशः ॥ ५३ ॥

अथ विद्यानां स्वरूपमाह—

याः[4] समधिगम्यात्मनो हितमेवैत्यहितं चापोहति ताः विद्याः ॥ ५४॥

टीका—याः समधिगम्य ज्ञात्वा आत्मनो हितमवैति[5] उपार्जयति, अहितं चापोहति नाशं नयति ता विद्याः कथ्यन्ते शेषाश्चाविद्याः । तथा च भागुरिः—

---

१ कालान्तरेष्वविस्मरणशक्तिर्धारणेति मू–पुस्तके सूत्रं, कालान्तरादविस्मरणं इति मु–पुस्तके । २ प्रत्यवायेति मु–मू–पुस्तके । ३ सामान्यज्ञानमूहो विशेषज्ञानमपोह इति मु–मू–पुस्तके पाठः। ४ यामिति मु–पुस्तके। ५ सा विवेत्यपि.

यस्तुविद्यामधीत्याथ हितमात्मनि संचयेत् ।
अहितं नाशयेद्विद्यास्ताश्चान्याः क्लेशदा मताः ॥ १ ॥

अथ राजविद्यानां संज्ञाः संख्याश्चाह—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः

आन्वीक्षिकीमभ्यस्यतो राज्ञो यद्भवति तदाह—

अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याणां[1] बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते, समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम्[2] ॥ ५६ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

त्रयीं पठन् वर्णाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥ ५७ ॥

टीका—गतार्थमेतत् । तथा—

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्ता सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥ ५८ ॥

टीका—गतार्थमेतत् । तथा—

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफला विभूतयः * ॥ ५९ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

---

१ कार्याकार्याणामिति मु–मू–पुस्तके । २ प्रज्ञावानित मु–पुस्तके ।

* अस्मादग्रे " सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी । बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वम्) । प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्वमवलम्बते । रजः फलं चाफलं च परिहरति । तमोभिर्नाभिभूयते । इत्यपि पाठो मूललिखितपुस्तके मुद्रितपुस्तके च वर्तते ।

अथ चतसृणामपि विद्यानां प्रयोजनमाह—

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालनदुष्टनिग्रहः ॥ ६० ॥

टीका—गतार्थमेतत् । तथा च गुरुः—

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥ १ ॥

अथ राजा यथा विद्यां जानाति तथाह—

चेतयते च विद्यावृद्धसेवायाम् ॥ ६१ ॥

वृद्धशब्देन धर्मशास्त्राणि प्रोच्यन्ते, न बलिपलितभाजः । तथा च नारदः—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १ ॥

अथ राजाऽजातविद्यावृद्धसंयोगो यथा भवति तथाह—

अजातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरंकुशो गज इव सद्यो विनश्यति ॥ ६२ ॥

टीका—यो राजा अजातवृद्धसेवी भवति स निरंकुश उन्मार्गगामी भवति ततोऽकुशरहितो गज इव सद्यः शीघ्रं विनश्यति । तस्माद्राज्ञा विद्या ज्ञातव्या वृद्धाश्च सेवनीयाः । तथा चर्षिपुत्रः—

यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते ।
स शीघ्रं नाशमायाति निरंकुश इव द्विपः ॥ १ ॥

अथ राज्ञो विशिष्टसङ्गेन यद्भवति तदाह—

---

१ नेदं सूत्रं मुद्रितपुस्तके । २ उत्सहते चेति मु-पुस्तके, यतते इति मू-पुस्तके ।

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥ ६३ ॥

टीका—अनधीयानोऽप्यपठन्नपि विद्याः शिष्टजनसेवनात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति उत्तमं विवेकं लभते जानातीत्यर्थः। तथा च व्यासः—

विवेकी साधुसङ्गेन जडोऽपि हि प्रजायते।
चन्द्रांशुसेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ॥ १ ॥

अथ भूपस्य साधुसंगाद्यद्भवति तदाह—

अन्यैव काँचित्खलु छायोपजलतरूणाम् ॥ ६४ ॥

टीका—उप-समीपे जलस्य, स्थितानां तरूणां काचिदपूर्वा छाया कान्तिर्भवति। तथा च बल्लभदेवः—

अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः।
साधुसंगाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः ॥ १ ॥

अथ राज्ञां यादृशा उपाध्याया भवन्ति तानाह—

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥ ६५ ॥

टीका—राज्ञां भूपतीनां उपाध्याया गुरवः कीदृशा भवन्ति योग्या वंशवृत्तविद्याभिजनशुद्धाः, वंशोद्भवाः स्ववंशे पूर्वेषां ये पाठकाः, क्रमागता इत्यर्थः। तथा वृत्तशब्देन चारित्रमभिधीयते। तथा विद्याधिकाः। तथाभिजनशब्देन कुलीनता प्रोच्यते स्ववंशेऽपि ये जारचौराद्या न भवन्ति ते भूपतीनां विद्याधिगमे योग्याः। तथा नारदः—

पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुक्ताः।
विद्याकुलीनतायुक्ता नृपाणां गुरवश्च ते ॥ १ ॥

अथ शिष्टानां प्रणतस्य नृपतेर्यद्भवति तदाह—

१ अनधीयानोऽप्यानवीक्षिकी विशिष्ट० इत्यादि पाठान्तरं मु–पुस्तके।
२ काचिदिति पाठः मु–मू–पुस्तके नास्ति।

शिष्टानां नीचैराचरन्नरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥६६॥

टीका—(यो नरपतिः शिष्टानां नीचैराचरन् इह लोके) माहात्म्यमवाप्नोति स्वर्गेऽपि देवैः पूज्यते । तथा च हारीतः—

> **साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले ।**
> **स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ॥ १ ॥**

अथ राजा यादृशो भवति तदाह—

राजा हि परमं[4] दैवतं नासौ कस्मैचित्प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः[5] ॥ ६७ ॥

टीका—योऽसौ राजा स किंविशिष्टः ? परमं दैवतं कर्तारमित्यर्थः । तेन कस्यचिन्नम्रतां न गच्छति । अन्यत्र गुरुजनेभ्यः पूज्यान् मुक्त्वा मातृपितृपूर्वकान् । तथा च भृगुः—

> **अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च**
> **तेजसास्य नृपस्तेन कस्यचिन्न नतिं व्रजेत् ॥ १ ॥**

अथाशिष्टसकाशाद्विद्याया यद्भवति तदाह—

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥ ६८ ॥

टीका—वरं प्रधानमज्ञानं मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया दुर्जनसुश्रूषया विद्याया आप्तिः । तथा च हारीतः—

> **वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया ।**
> **पांडित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥ १ ॥**

अथ शिष्टसंगाद्दोषमाह—

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥ ६९ ॥

---

१ शिष्टेष्विति मु. मू. पुस्तके । २ रिह परत्र च महीयते मु–पुस्तके, परलोके इति मू–पुस्तके पाठः । ३ कंसस्थः पाठः कल्पितः, । ४ परं देवं मू–पुस्तके टीकायां च ५ देवगुरुजनेभ्यः मू–पुस्तके.

टीका—अलं पर्याप्तं तिष्ठतु तदमृतं, यत्रास्ति विषसंसर्गः। कालकूटमध्यगतं। एतदुक्तं भवति, अमृतमपि कालकूटमिश्रं मारयति, विद्यामृतमपि कालकूटलक्षणात्पापजनात्तं (?) तत्किंचित् पापं करोति येन मृत्युमवाप्नोति। तथा च नारदः—

नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते।
दुःखावहं परे लोके नो चेद्विषमिव स्मृता (तम्)॥ १॥

अथ गुरूणां शिष्या यादृशा भवन्ति तानाह—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥ ७० ॥

टीका—ये शिष्याश्छात्रा भवन्ति ते प्रायेण बाहुल्येन गुरूणां शीलमनुसरन्ति तेन व्यवहरन्ति तस्मात् सुशीला गुरवः कार्याः। तथा च वर्गः—

यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक्कुचेष्टा प्रजायते।
यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तद्गन्धमावहेत्॥ १॥

अथ सुकुलशीलगुरूसेवनाद्यद्भवति तदाह—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥ ७१ ॥

टीका—शुभो वा यदि वा निकृष्टः तस्मात्सुमतिरुपाध्यायः कार्यः। तथा च वर्गः।

कुविद्यां वा सुविद्यां वा प्रथमं यः पठेन्नरः।
तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते॥ १॥

अथ राजा स्वल्पज्ञानो यथा भवति तदाह—

अन्ध इव वरं परप्रणेयो राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः॥ ७२॥

१ अत्रत्यः पाठो व्युच्छिन्न इवाभाति।

टीका—वरं श्रेष्ठं जात्यन्धो राजा अन्येन नीयमानः कुमार्गे न गच्छति परप्रणेयो यतः। यः पुनः ज्ञानलवः स्तोकं जानाति न प्रभूतं स दुर्विदग्धो भवति विदग्धतां न वेत्ति नित्यं षाड्गुण्यविषये विपर्यस्तमाचरन्नुन्मार्गेण गच्छति, अन्यायी भवतीत्यर्थः। तथा च गुरुः—

मंत्रिभिर्मंत्रकुशलैरन्धः संचार्यते नृपः।
कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥ १ ॥

अथ दुर्विदग्धस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

नीलीरक्ते[2] वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते[3] ॥ ७३ ॥

टीका—अहो को नाम जनो दुर्विदग्धे दुश्चेष्टिते भूपाले ज्ञानलवाश्रये रागान्तरमन्यभावं तस्य कर्तुं समर्थः, अपि तु न कश्चित्। कस्मिन्निव? नीलीरक्ते वस्त्र इव, यथा नीलीवस्त्रे नान्यो लभते (रागः[4]) न तु उत्सारयितुं शक्यते तथा भूपस्यापि। तथा च नारदः—

दुर्विदग्धस्य भूपस्य भावः शक्येत नान्यथा।
कर्तुं वर्णोऽत्र यद्वच्च नीलीरक्तस्य वाससः ॥ १ ॥

अथ यथार्थवादिनां विदुषां यद्भवति तदाह—

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ।७४।

टीका—यदि न राजा गुणान् द्वेष्टि निन्दति तदा यथार्थवादः स्फुटवचनानि परुषाण्यपि सुखावहानि तद्विदुषां पण्डितानां श्रेयस्कराणि तस्य राज्ञो भवन्ति। किं? यदि न स्यात् यदि राजा गुणहन्ता न भवति गुणशीलो भवति। तथा च हारीतः—

श्रेयस्कराणि वाक्यानि स्युरुक्तानि यथार्थतः।
विद्वद्भिर्यदि भूपालो गुणद्वेषी न चेद्भवेत् ॥ १ ॥

---

१ 'ण' इति पाठः पुस्तके। २ नीले इति मु–पुस्तके। ३ आदत्ते इति मू–पुस्तके। ४ कल्पितोऽयं पाठः।

अथ विद्वद्भिः स्वामिनो यथा भाव्यं तथाह—

वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ॥ ७५ ॥

टीका—साधुजनस्य वरमात्ममृत्युः (किन्तु) गुणप्रद्वेषिणोऽपि नृपतेः (अहितोपदेशो न वरं)। तथा च व्यासः—

अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः ।
यथात्मदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुत : ॥ १ ॥

इति विद्यावृद्धसमुद्देशः ।

१-२ कंसस्थः पाठः कल्पितः । ३ पाठोयं पुस्तके नास्ति । मूललिखित पुस्तकेऽपि नास्ति केवलं मुद्रित-पुस्तके एव ।

६ आन्वीक्षिकी-समुद्देशः ।

अथाध्यात्मयोगलक्षणमाह—

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥ १ ॥[1]

टीका—आत्मा चिद्रूपः, मनः प्रसिद्धं, मरुतः शरीरस्था वायवः, तत्त्वं पृथिव्यादि तेषां समं एकहेलया समतालक्षणः स हि स्फुटं अध्यात्मयोगः कथ्यते । तथा चर्षिपुत्रकः—

आत्मा मनो मरुत्तत्त्वं सर्वेषां समता यदा ।
तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः स्मृतः ॥ १ ॥

तथा च व्यासः—

न पद्मासनतो योगो न च नासाग्रवीक्षणात् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥ १ ॥

अथ अध्यात्मज्ञस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहजशारीरमानसागन्तुभिर्दोषैर्न बाध्यते ॥ २ ॥

टीका—यो राजाध्यात्मज्ञो भवति, तस्य किं स्यात्, एतेन दोषचतुष्टयेन स राजा न बाध्यते नाश्लिष्यते । केन केन तावत् सहजेन सत्वं मुक्त्वा रजसा तमसा च, कश्चित् प्रकृत्या राजसो भवति, कश्चित्तामसः, कश्चिदुभाभ्यां सहितः स्यात्, स ताभ्यां न बाध्यते । तथा शारीराश्च ये दोषा रोगसम्भवगलगण्डादयः । तथा मानसाश्च ये दोषाः परकलत्रादयस्तैरपि न बाध्यते । तथागन्तुकैर्भीतिभिरपि न बाध्यते । तथा च नारदः—

---

१ समसमायोग इति मु–मू–पुस्तके ।

अध्यात्मज्ञो हि महीपालो न दोषैः परिभूयते ।
सहजागन्तुकैश्चापि शारीरैर्मानसैस्तथा ॥ १ ॥

अथात्मनः क्रीडास्थानान्याह—

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः॥३॥

टीका—(इन्द्रियाणि मनो विषयो ज्ञानं) भोगायतनं विलासस्थानं, एतैः सर्वैरासमन्ताद्रमते इत्यारामः क्रीडां करोतित्यर्थः। तथा च विभिटीकः—

इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषया भोग एव च ।
विश्वरूपस्य चैतानि क्रीडास्थानानि कृत्स्नशः ॥ १ ॥

अथात्मनः स्वरूपमाह—

यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः स आत्मा ॥ ४ ॥

टीका—यस्य स्वरूपं न निश्चीयते यद्येवं तर्हि आत्मना स प्रत्ययो न ज्ञायते " किं वा शुक्लः किं वा नील इति " स आत्मा ? तथा च श्रुतिः—

" यथा महाराजनं वासो यथा यांड्राविकं यथेन्द्रगोपो-
ग्निर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तेवं भवा स्यु श्रीर्भवति"

अथात्मनः प्रतिष्ठार्थमाह—

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ॥ ५ ॥

टीका—अत्र नास्तिका अप्येवं वदन्ति आत्मा नास्तीति । तद्यथा। आत्मनः प्रेत्यभावो न भवति प्रेत्यभावशब्देनाहंप्रत्ययोऽभिधीयते स यदि न भवति तदेतेषां दीक्षितानां खलु निश्चयेन विफलं व्यर्थं सर्वमनुष्ठानं

---

१ इत्यात्माराम इति पाठो लिखितमुद्रितमूलपुस्तकद्वयात् संयोजितः । २ कंसस्थः पाठः कल्पितः । ३ यस्मिन् सुख्यहं दुःख्यहमिच्छावानहमित्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्यय आत्मग्राही प्रतिप्राणिसंविदितरूपो भवति स आत्मा ।—मार्तंडे

स्नानदानजपहोमादिकं, तदेवं[1] न भवति,[2] आत्मास्त्येव । तथा च याज्ञवल्क्यः ।

> आत्मा[3] सर्वस्य लोकस्य सर्वं भुंक्ते शुभाशुभं ।
> मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्माहं कलेवरम् ॥ १ ॥

अथ मनःस्वरूपमाह—

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः[4] ॥ ६ ॥

टीका—यतो यस्मात्स्मृतिर्भवति मयैतत्कृत्यं कृतं करिष्यते वा । तथा प्रत्यवमर्षणं चिन्ता । तथोहापोहनं, ऊहा संदिग्धस्य पर्यालोचनं, अपोहस्तस्य निश्चयः । शिक्षालापग्रहणं यदि कश्चिच्छिक्षां ददाति, अथवात्मालापं करोति तस्य यद्ग्रहणमवधारणं तन्मनो भवति । तथा च गुरुः—

> ऊहापोहौ तथा चिन्ता परालापावधारणं ।
> यतः संजायते पुंसां तन्मनः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

अथेन्द्रियाणां स्वरूपमाह—

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ॥ ७ ॥

टीका—विषयाणामनुभवनं विषयानुभवनं विषयसेवनं तदिन्द्रियद्वारेण सहाय्येनात्मनो भवति । तथा च रैभ्यः—

> इन्द्रियाणि निजान् ग्राह्यविषयान् स पृथक्पृथक् ।
> आत्मनः संप्रयच्छन्ति सुभृत्याः सुप्रभोर्यथा ॥ १ ॥

अथ विषयाणां संज्ञामाह—

शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा[5] हि विषयाः ॥ ८ ॥

---

१ आत्माभावे । २ अतः । ३ श्लोकोऽयं 'याज्ञवल्क्यस्मृतौ' नास्ति । ४ सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गा हि मणोवलंबेण । इत्यन्यत्र । ५ स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्था इति तत्वार्थे ।

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ ज्ञानस्य स्वरूपमाह—

समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानं ॥ ९ ॥

टीका—यज्ज्ञानं तत्किंविशिष्टं ? विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधः । विप्रकृष्टशब्देन परोक्षमभिधीयते, सन्निकृष्टः प्रत्यक्षस्ताभ्यामवबोधः प्रकाशस्तज्ज्ञानं । केन तौ द्वावपि ज्ञेयौ ? ध्यानेन्द्रियद्वारेण योऽसौ परोक्षः[1] स ध्यानद्वारेण समाधिना ज्ञेयः । एतत्पृच्छकस्य भवति, एतैरहोभिः ? । यः पुनः प्रत्यक्षः[2] स इन्द्रियद्वारेण यथा श्रोत्रेण ज्ञायते एतद्गीतं, सम्प्रत्यये तत्तथा विषयी ? । एतेषां चतुर्णामपि स्वरूपमागामिकसूत्रैर्वदिष्यत्याचार्यः ।

अथाभ्यासस्य स्वरूपमाह—

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥ १० ॥

टीका—क्रियाया अतिशयः पुनः पुनरावर्तनं येन परिपाकः परिणतिर्भवति साभ्यासेन भवति । अभ्यसनमभ्यासः । एतदुक्तं भवति विद्यामभ्यस्य यः परिणतिं श्रयति शिल्पं तावत्कदाचित्त्यजति तत्पूज्यो भवति ततः सुखी स्यात्, एतस्मात् कारणादभ्यासः सुखहेतुः । तथा च हारीतः—

अभ्यासाद्धार्यते विद्या विद्यया लभ्यते धनम् ।
धनलाभात्सुखी मर्त्यो जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथाभिमानस्य लक्षणमाह—

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मनो[3] यदुत्कृष्टत्वसम्भावनमभिमानः ॥ ११ ॥

टीका—प्रश्रयो विनयः सत्कारः पूजा इत्यादिभिरन्यैश्च स्पष्टवाक्यप्रसादनस्तुत्यादिभिर्वचनैर्लोभस्तेनात्मनो य उत्कर्ष आनन्दस्तेन या संभावना

१ देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थः । २ सम्बद्धवर्तमानोऽर्थः । ३ आत्मोत्कर्षसंभावनमिति मु–मू–पुस्तके ।

साधुमध्ये भवति तदभिमानमुच्यते द्वितीयं सुखकारणं । तथा च नारदः—

सत्कारपूर्वो यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः ।
अभिमानं ततो धत्ते साधुलोकस्य मध्यतः ॥ १ ॥

अथ सम्प्रत्ययलक्षणमाह—

अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥ १२ ॥

टीका—अतद्गुणे वस्तुनि निर्गुणे पदार्थे तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः स्वशक्त्या गुणप्रतिष्ठया सम्प्रत्यय उच्यते तृतीयं सुखकारणं । एतदुक्तं भवति श्रोत्रेण एतद्ग्राह्यं सुन्दरं, एतदसुन्दरं । तथा त्वचा एतन्मृदुरे-तत्कठोरं। तथा दृष्ट्या एतद्भव्यमेतदभव्यं । तथा जिव्हयैतन्मधुरमेत-त्कटुकं। तथा घ्राणेनैतत्सुगन्धमेतद्दुर्गन्धमिति । तथा च नारदः—

परोक्षो यो भवेदर्थः स ज्ञेयोऽत्र समाधिना ।
प्रत्यक्षश्चेन्द्रियैः सर्वैर्निजगोचरमागतः ॥ १ ॥

अथ सुखस्य लक्षणमाह—

सुखं प्रीतिः ॥ १३ ॥

टीका—यत्र मनस इन्द्रियाणां प्रीतिरानन्दो भवति तत्सुखं । तथा च हारीतः—

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्रानन्दः प्रजायते ।
दृष्टे वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥

अथासुखस्यापि स्वरूपमाह—

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिवृत्तिः ॥ १४ ॥

टीका—नास्ति सुखं लोकानां पुत्रकलत्रधनधान्यसमुत्थं भवति तत् यस्मिन् पुत्रे मनसा वैराग्यं भवति कलत्रे वा, धने वा, धान्ये वा तत्सुखमपि दुःखं भवति । तथा च वर्गः—

सम्बृद्धस्यापि मर्त्यस्य मनो यदि विरागकृत्।
दुःखी स परिज्ञेयो मनस्तुष्ट्या सुखं यतः ॥ १ ॥

अथ सुखस्य कारणान्याह।

[१]अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥ १५ ॥

टीका—एतानि चत्वारि नरस्य सुखकारणानि। एकं तावदभ्यासो यः स्वकर्मणः। तथाभिमानं अभि-समन्तान्मानं सन्मानं तद्राजादीनां सकाशात्। तथा सम्प्रत्ययः सम्प्रत्ययशब्देनात्मनः प्रतिष्ठाकारणमुच्यते, अयोग्यमपि। विषयाः प्रसिद्धास्तेषां सेवनं। तत्र तावदभ्यासस्य सुखकारणमुच्यते—

अभ्यासाच्च भवेद्विद्या तथा च निजकर्मणः।
तथा पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात्सर्वदा सुखी ॥ १ ॥

अथ मानस्य—

सन्मानपूर्वको लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः।
मानहीनः प्रभूतोऽपि साधुभिर्न प्रशस्यते ॥ १ ॥

अथ विषयः—

सेवनं विषयाणां यत्तन्मितं सुखकारणं।
अमितं च पुनस्तेषां दारिद्र्यकारणं परं ॥ १ ॥

तथा च हारीतः—

अविद्योऽपि गुणान्मर्त्यैः स्वशक्त्या यः प्रतिष्ठयेत्।
तत्सुखं जायते तस्य स्वप्रतिष्ठासमुद्भवम् ॥ १ ॥

अथ विषयस्वरूपमाह—

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥ १६ ॥

---

१ लिखितमुद्रितमूलपुस्तके तु सुखासुखलक्षणकथके सूत्रे पूर्वमुक्ते पश्चात् सुखकारणसूत्रं तत्पश्चात् सुखकारणानां लक्षणसूत्राणि चोक्तानि अत्र तु वैपरीत्येन।

टीका—येन भावेन कृतेनेन्द्रियाणां तर्पणं भवति मनसश्च तुष्टिर्भवति स भावो विषय उच्यते। तच्चतुर्थं सुखकारणं। तथा च शुक्रः—

मनसश्चेन्द्रियाणां च सन्तोषो येन जायते।
स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः॥ १॥

अथ दुःखस्य लक्षणमाह—

दुःखमप्रीतिः॥ १७॥

टीका—यस्मिन् वस्तुनि दृष्टे आच्छादिते वाऽप्रीतिर्वैराग्यं भवति तद्दुःखमभिधीयते श्रेष्ठेऽपि च वस्तुनि। तथा च शुक्रः—

यत्र नो जायते प्रीतिर्दृष्टे वाच्छादितेऽपि वा।
तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते॥ १॥

अथ सुखस्य लक्षणमाह—

तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः॥ १८॥

टीका—यत्र यस्मिन् पदार्थे दृष्टे वा मृते वा मनसः क्लेशः न भवति तद्दुःखमपि अदुःखमेव।

..।
कथं कारयेद्व्याधिः स नश्यति विनौषधं॥ १॥

अथ चतुर्विधस्य दुःखस्य स्वरूपमाह—

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं[2] चेति॥ १९॥

टीका—एतस्य चतुर्विधस्य दुःखस्याचार्येणापि व्याख्या कृता।

सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति॥ २०॥

दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसम्भूतं॥ २१॥

आगन्तुकं वर्षातपादिजनितं॥ २२॥

---

१ शुक्रनामाङ्किता ये श्लोकाः पूर्वमग्रे च उक्तास्ते प्रायेण शुक्रनीतौ दृष्टिपथं नायाताः। २ अन्तरंगजं चेति मु—मू—पुस्तके।

(यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यकारजं । न्यक्कारोऽपराधचौर्यादिको यः तेन कदाचिद्धन्यते कदाचिद्विध्यते स तं ?)*

न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥ २३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ पुरुषस्य यथा लोकद्वयनाशो भवति तदाह—

न तस्यैहिकामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥ २४ ॥

टीका—क्लेशः कष्टं, आयासः खेदः, ताभ्यां यः पुरुषो विक्लवप्रकृतिर्नष्टमतिर्भवति । तत्र क्वापि नास्ति न विद्यते किं तत् फलं । किंविशिष्टं ? ऐहिकमिहजन्मभवं तथामुत्रिकं वा पारलौकिकं । तथा च व्यासः—

> जीयते क्लेशखेदाभ्यां सदा कापुरुषोऽत्र यः ।
> न तस्य मर्त्ये यो लाभः कुतः स्वर्गसमुद्भवः ॥ १ ॥

सुवंशस्य पुरुषस्य माहात्म्यमाह—

स किं पुरुषो यस्य महाभियोगे सुवंशधनुष इव नाधिकं जायते बलम् ॥ २५ ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य महाभियोगे आपत्काले अधिकं बलं पौरुषं न जायते स पुरुषः स्त्रीति मन्तव्यः । कस्येव ? सुवंशधनुष इव । एतदुक्तं भवति—यत्सुवंशधनुर्भवति तस्य शराक्षेपकाले दृढता भवति कुवंशजस्य पुनः शिथिलता । तथा च गुरुः—

> युद्धकाले सुवंश्यानां वीर्योत्कर्षः प्रजायते ।
> येषां च वीर्यहानिः स्यात्तेऽत्र ज्ञेया नपुंसकाः ॥ १ ॥

---

* कंसस्थः सूत्रपाठः गद्यपाठश्च केवलं टीका-पुस्तके वर्तते न ज्ञायते कथमयं पाठो मध्ये पतितः ।

अथाभिलाषस्य स्वरूपमाह—

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा ॥ २६ ॥

टीका—आगामिक्रिया भविष्यत्कृत्यं तस्य हेतुः कारणमभिलाषः कथ्यते, वा विकल्पेनेच्छा वेति। तथा च गुरुः—

भाविकृत्यस्य यो हेतुरभिलाषः स उच्यते।
इच्छा वा तस्य सन्धा या भवेत्प्राणिनां सदा ॥ १ ॥

अथात्मनः प्रत्यवायेषु यत्पुरुषेण कर्तव्यं तदाह—

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा २७

टीका—आत्मनः सकाशात् ये प्रत्यवाया दोषा भवन्ति तेषां प्रत्यावर्तनं व्याघोटनं तस्य हेतुः कारणं द्वेषो जुगुप्साऽनभिलाषो वा वांञ्छा वा। तथा च गुरुः—

आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निंद्या विबुधैर्जनैः।
अथवा नैव कर्तव्या वाञ्छा तेषां कदाचन ॥ १ ॥

अथोत्साहस्य स्वरूपमाह—

हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साहः ॥ २८ ॥

टीका—यस्मिन् कर्मणि क्रियमाणे हितस्याभीष्टस्य प्राप्तिर्भवति। तथाहितस्यानिष्टस्य परिहारस्त्यागो भवति स उत्साहो हृदयानन्दः कथ्यते। तथा च वर्गः—

शुभाप्तिर्यत्र कर्तव्या जायते पापवर्जनम्।
हृदयस्य परा तुष्टिः स उत्साहः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

अथ प्रयत्नस्य स्वरूपमाह—

प्रयत्नः परनिमित्तको भावः ॥ २९ ॥

टीका—परार्थेऽन्यकृते यो भावश्चित्तं मयास्यैतदवश्यं कर्तव्यमिति स प्रयत्नः। तथा च व(ग)र्गः—

परस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते ।
प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा ॥ १ ॥

अथ संस्कारस्य स्वरूपमाह—

सातिशयलाभः संस्कारः ॥ ३० ॥

टीका—यः सातिशयः सातिरेको लाभो भवति जनान्नृपतेर्वा स संस्कारः प्रतिष्ठासंज्ञः । अत्रापि गर्गः—

सन्मानाद्भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते ।
महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ॥ १ ॥

अथ शरीरस्य स्वरूपमाह—

भोगायतनं शरीरम् ॥ ३१ ॥

टीका—भुज्यन्ते इति भोगाः शुभाशुभाः तेषामायतनं गृहमेतच्छरीरं । तथा च हारीतः—

सुखदुखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले ।
तेषां गृहं शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते ॥ १ ॥

अथ लोकायतिकस्य स्वरूपमाह—

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥ ३२ ॥

टीका—यल्लोकायतं नास्तिकदर्शनं तदनुष्ठानं च। तत्किं विशिष्टं? ऐहिकव्यवहारप्रसाधनं केवलं मद्यमांसस्त्रीसेवानिमित्तं न परत्रार्थं । तथा च गुरुः—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः प्रव्रज्या नग्नमुण्डता ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीवितेऽदो मतं गुरुः ॥ १ ॥

अथ भूपतेर्लोकायतिकशास्त्रज्ञस्य यद्भवति तदाह—

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥ ३३ ॥

टीका—किल लोकायतं निषिद्धं साधूनां यतस्तेन ज्ञातेन निर्दयता भवति तथापि राज्ञा बोद्धव्यं यतस्तेन ज्ञातेन जारचौरमर्यादाभेदकानामुपरि निर्दयत्वं करोति राष्ट्रक्षेमाय। तथा च शुक्रः—

दयां करोति यो राजा राष्ट्रसन्तापकारिणां।
स राज्यभ्रंशमाप्नोति राष्ट्रोच्छेदादिसंशयं ॥ १ ॥

अथैकान्तत्वदूषणमाह—

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥ ३४ ॥

टीका—यतीनामपि संन्यस्तानामपि एकान्ततो नैरन्तर्येण क्रियमाण क्रिया नानवद्या, अपि तु साध्वपवादाय तेषामपि क्रियावसानमस्ति। तथा च वर्गः—

अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्ततः क्रिया।
यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतश्च्युतिः ॥ १ ॥

अथैकान्तेन कारुण्यपरस्य यद्भवति तदाह—

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः॥३५॥

टीका—एकान्तेन नैरन्तर्येण यो राजा कारुण्यपरो दयापरो भवति स हस्तगतमपि वित्तं रक्षितुं न क्षमः। तथा च शुक्रः—

दया साधुषु कर्तव्या सीदमानेषु जन्तुषु।
असाधुषु दया शुक्रः स्वचित्तादपि भ्रश्यति ॥ १ ॥

अथ प्रशमैकचित्तस्य भूपतेर्यद्भवति तदाह—

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ॥ ३६ ॥

टीका—केवलमक्रोधो यस्य चित्ते वसति तं तथाभूतं को नामाहो न परिभवति। अपि तु सर्वेऽप्यवज्ञया पश्यन्ति। तथा च भृगुः—

सदा तु शान्तचित्तस्य पुरुषः सम्प्रजायते।
तस्य भार्यापि नो पादौ प्रक्षालयति कर्हिचित् ॥ १ ॥

अथ भूपैर्यादृश्यशैर्भाव्यं तदाह—

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषणं न महीपतीनां ॥३७॥

टीका—अपराधकारिषु अनिष्टकारिविषये क्षमा शान्तता भूषणं यतीनां सन्यस्तानां न महीपतीनां तस्मात्पार्थिवेन दुष्टनिग्रहः कार्यः। तथा च—

यो राजा निग्रहं कुर्यात् दुष्टेषु स विराजते
प्रसादे च यतस्तेषां तस्य तद्दूषणं परं ॥ १ ॥

अथ यथा निन्द्यः पुरुषो भवति तदाह—

धिक्तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ॥ ३८ ॥

टीका—(यस्य पुरुषस्यात्मशक्त्या कोपप्रसादौ न) भवतः स धिक् निन्द्यः स पुरुषो न भवति षण्ढ एव। तथा च व्यासः—

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति प्रजाः षण्ढमिव स्त्रियः ॥ १ ॥

अथ विक्रमरहितस्य भूपतेर्यद्भवति तदाह—

स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥ ३९ ॥

टीका—एव शब्दो निश्चये। स राजा जीवन्नपि मृत एव। यः किं न-कुर्यात् न विक्रामति न पराक्रमं करोति, केषु? प्रतिकूलेषु अहितेषु। तथा च शुक्रः—

परिपन्थिषु यो राजा न करोति पराक्रमम्।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि पराक्रमरहितस्य भूपस्य यद्भवति तदाह—

भस्मनीव निस्तेजसि को नाम निःशङ्कः पदं कुर्यात् ॥४०॥

टीका—निस्तेजसि भूपतौ शौर्यरहिते राज्ञि नाम अहो को न कुर्यात् पदं परिभवं निःशङ्कः सन्। अपि तु सर्वोऽपि हीनोऽपि। कस्मिन्निव? भस्मनीव तस्माद्भूपेन पराक्रमवता भाव्यं। तथा च शुक्रः—

शौर्येण रहितो राजा हीनैरप्यभिभूयते ।
भस्मराशिर्यथानग्निर्निःशंकैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥ १ ॥

अथ धर्मप्रतिष्ठामाह—

तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥ ४१ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् पापे कृते परिणामे महान् धर्मानुबन्धो भवति धर्मप्राप्तिर्भवति तन्न पापं, पापमपि स धर्मः, किल वधबन्धादिभिः पापं भवति परं तेषां निग्रहे कृते यथोक्त स एव धर्मः । तथा च बादरायणः—

त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १ ॥
पापानां निग्रहे राजा परं धर्ममवाप्नुयात् ।
न तेषां च वधबन्धाद्यैस्तस्य पापं प्रजायते ॥ २ ॥

अथ राज्ञो दुष्टनिग्रहमकुर्वाणस्य यद्भवति तदाह—

अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम् ॥ ४२ ॥

टीका—अन्यथा पुनर्वर्तमानस्य दुष्टानां निग्रहमकुर्वाणस्य तदेव राज्यद्वारेण नरकम् । तथा च हारीतः—

चौरादिभिर्जनो यस्य मैथिल्येन प्रपीड्यते ।
स्वयं तु नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ नियोगिनो यद्भवति तदाह—

बन्धनान्तो नियोगः ॥ ४३ ॥

टीका—योऽसौ नियोगो राजाधिकारः स बन्धनान्तो बन्धनादात्मी-भवति । तथा च गुरुः—

न जन्म मृत्युना बाह्यं नोच्चैस्तु पतनं विना ।
न नियोगच्युतो योगो नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥ १ ॥

अथ खलमैत्र्याद्यद्भवति तदाह—

विपदन्ता खलमैत्री ॥ ४४ ॥

टीका—यासौ खलमैत्री दुर्जनसङ्गतिः सा विपदन्ता व्यसनदायिनी भवति। तथा च वल्लभदेवः—

असत्संगात्पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः।
लोहसंगाद्यतो वह्निस्ताड्यते सुघनैर्घनैः॥ १॥

अथ स्त्रीषु विश्वासे कृते यद्भवति तदाह—

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः॥ ४५॥

टीका—स्त्रीषु विषये योऽसौ विश्वासः स मृत्युपर्यन्तो भवति। तथा च विष्णुशर्मा—

नीयमानः खगेन्द्रेण नागः पौण्डरिकोऽब्रवीत्।
स्त्रीणां गुह्यमाख्याति तदन्तं तस्य जीवितम्॥ १॥

इत्यान्वीक्षिकीसमुद्देशः।

---

७ त्रयी-समुद्देशः ।

अथ त्रय्याः स्वरूपमाह—

चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीतिहासपुराणमीमांसान्यायधर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥ १ ॥

गतार्थमेतत् ।

अथ त्रयीतो यज्ज्ञायते तदाह—

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥ २ ॥

टीका—त्रयीतः सकाशात् वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः, आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतयस्तेषां ये आचारा व्यवहारा धर्माधर्मलक्षणास्तेषां या व्यवस्थितिः सा ज्ञायत इति । तथा च शुक्रः—

मन्वाद्याः स्मृतयो याश्च त्रय्यङ्गत्वाः प्रकीर्तिताः ।
वर्णाश्रमाणामाचारस्तासु धर्माश्च केवलं ॥ १ ॥

अन्यदपि त्रयीतो यद्भवति तदाह—

स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥ ३ ॥

टीका—यस्यास्त्रयीतः सकाशात् सर्वे समवायिनो लिङ्गिनः शैवबौद्धकौलनास्तिकाः स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या निजदर्शनभक्तिसेवनाल्लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते सम्बन्धानामागममनुभवन्ति ? नान्यं दर्शनधर्मं कुर्वन्ति । तथा च गुरुः—

परदर्शनलिंगं च यत्र लिंगी समाश्रयेत् ।
देशे तत्र हि रोगाः स्युः स च संयाति रौरवम् ॥ १ ॥

अथ स्मृतिवेदानां लक्षणमाह—

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥ ४ ॥

टीका—यानि धर्मशास्त्राणि स्मृतयः प्रोच्यन्ते ताभिर्वेदार्थसंग्रह-कार्यस्तस्मात्ता वेदा एव ज्ञातव्या एवं निश्चयः । तथा च गुरुः—

दुर्बोधांश्चरणान् ज्ञात्वा मन्दबुद्धिरेव यत् ।
तेषामर्थं समादाय मुनिभिः स्मृतयः कृताः ॥ १ ॥

अथ विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः प्रोच्यते—

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥ ५ ॥

टीका—विप्रादीनां त्रयाणां वर्णानां अध्ययनं वेदानां यजनमग्निष्टो-मादिकं, स्वशक्त्या दानं सामान्यं तुल्यं त्रिभिरपि कर्तव्यम् । तथा च हारीतः—

वेदाभ्यासस्तथा यज्ञाः स्वशक्त्या दानमेव च ।
विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियवैश्यानामपि ब्राह्मण्यं यद्भवति तदाह—

त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ ६ ॥

टीका—यत्क्षत्रियवैश्ययोरपि ब्राह्मण्यमुक्तं तत्पूर्वस्तत्रापेक्षया न तु जात्या, यदि पुनः क्षत्रियो वैश्यो वा ब्राह्मणो भवति तदा श्रुतिस्मृतीनाम प्रमाणता भवति तत्कथमुक्तमाचार्येण यतस्तेनैतदुक्तं अध्ययनं यजनं दानं ब्राह्मणक्षत्रियविशां समानो धर्मः, एतदर्थमुक्तं, स्वाध्यायो यजनं दानं विप्रवैश्यनराधिपैः कर्तव्यं ब्राह्मणेन तु याजनाध्यापनार्जनम् ।

---

१ ब्राह्मणं मुक्त्या टीका-पुस्तके पाठः ।

अथ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यबाह्यं केवलं ब्राह्मणानां यत् भवति तदाह—

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥ ७ ॥

टीका—ब्राह्मणानामयं विशेषो यदध्यापनं कुर्वन्ति तथा याजनं यजमानानां तथा च प्रतिग्रहमपि, एतत् कर्मत्रयं न क्षत्रियवैश्यानां, ब्राह्मणस्य षट्कर्माणि। तथा च हारीतः—

> **यजनं याजनं चैव पठनं पाठनं तथा।**
> **दानं प्रतिग्रहोपेतं षट्कर्माणि द्विजन्मनां ॥ १ ॥**

अथ क्षत्रियाणां यत्कर्म भवति तदाह—

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥ ८ ॥

(भूतानां प्राणिनां संरक्षणं, शस्त्रेणाजीवनं, सत्पुरुषाणां सज्जनानां उपकारः) दीना अन्धपंगुरोगिपूर्वकास्तेषामुद्धरणं निर्वाहणं यथा भवति तथा कार्यमितिक्षत्रियाणां धर्मः। तथा च पाराशरः—

> **क्षत्रियेण मृगाः पाल्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः।**
> **अनाथोद्धरणं कार्यं साधूनां च प्रपूजनम् ॥ १ ॥**

अथ वैश्यधर्ममाह—

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम् ॥ ९ ॥

टीका—वैश्यानां तावद्वार्ताजीवनं वार्ताशब्देन कृषिकर्मपशुपालनपूर्वकं कर्म प्रोच्यते। तथावेशिकपूजनमकपटं यज्ञार्थं। तथा सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिकर्माणि—सत्रं नित्यान्नदानं स्वशक्त्या, तथा प्रपा

---

१ पण्यवार्ताजीवनं वैश्यानामित्येवं रूपं सूत्रं मुद्रित-पुस्तके। २ सर्वेषां प्राणिनां दुःखाद्बिभ्यतामभयप्रदानं। ३ अन्नप्रदानस्थानं।

जलदानं, पुण्यं धर्मक्रिया, आरामः पुष्पादिसंजनना एतेषां कर्मणां करणं। तथा च शुक्रः—

कृषिकर्म गवांरक्षा यज्ञाद्यं दम्भवर्जितम्।
पुण्यानि सत्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥

अथ शूद्रकर्माण्याह—

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणां ॥ १० ॥

टीका—त्रिवर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तेषामुपजीवनं शुश्रूषा। कारुशब्देन नीचतमाः प्रजाः कथ्यन्ते तेषां कर्म। कुशीलवा नर्तकादयश्चारणास्तेषां कर्म कार्यं। तथा पुण्यपुटवाहनं पुण्यपुटका भिक्षुकास्तेषामुपसेवनं शूद्रैः कार्यम्। तथा च पाराशरः—

वर्णत्रयस्य शुश्रूषा नीचचारणकर्म च।
भिक्षूणां सेवनं पुण्यं शूद्राणां न विरुद्ध्यते ॥ १ ॥

अथ शूद्रा यादृशा भवन्ति तदाह—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥ ११ ॥

टीका—ये सच्छूद्राः शोभनशूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयना एकवारं कृतविवाहाः, द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च हारीतः

द्विभार्यो योऽत्र शूद्रः स्याद्वृषलः स हि विश्रुतः।
महत्वं तस्य नो भावि शूद्रजातिसमुद्भवः ? ॥ १ ॥

अथ शूद्रोऽपि देवद्विजादीनां शुश्रूषाया योग्यो यथा भवति तथाह—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥ १२ ॥

टीका—यः शूद्रोऽपि स देवद्विजतपस्विशुश्रूषायोग्यः, यस्य किं शूद्रस्याचारानवद्यत्वं व्यवहारनिर्वाच्यता, तथोपस्करो गृहपात्रसमुदायः

४ कारु-कुशीलव-कर्म शकटोपवाहनं च शूद्राणामिति सूत्रं मुद्रित-पुस्तके।

स शुचिर्निर्मलः, तथा शरीरशुद्धिर्यस्य प्रायश्चित्तेन कृतासीत्। एषापि शूद्रं करोति, किंविशिष्टं ? देवद्विजतपस्विभक्तियोग्यं। तथा च चारायणः—

गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥ १ ॥

अथ सर्वेषां वर्णानां यः समानो धर्मस्तमाह—

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥ १३ ॥

टीका—आनृशंस्यमक्रूरत्वं, अमृषाभाषित्वं सत्यवादिता, परस्वनिवृत्तिरन्यायेन परार्थग्रहणं, इच्छानियमः स्वेच्छाप्रवृत्तिव्रतं, प्रतिलोमाविवाहः स्वजातिसम्बन्धः, निषिद्धासु च स्त्रीष्वसतीषु विषये ब्रह्मचर्यमिति समानस्तुल्यो धर्मः सर्वेषां वर्णानां। तथा च भागुरिः—

दयां सत्यमचौर्यं च नियमः स्वविवाहकम्।
असतीवर्जनं कार्यं धर्मैः सर्वैः रितौरतां ? ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि तुल्यधर्मे कृते विशेषमाह—

आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥ १४ ॥

टीका—य एव पूर्वोक्तः सर्वेषां वर्णानां तुल्यो धर्मः सर्वसाधारणस्तुल्यो निश्चयेन। कथं ? आदित्यावलोकनवत् यथा आदित्यः सर्वैर्विप्रान्त्यजैरपि दृश्यते, तथैष धर्मः सर्वैरपि कार्यः। तथा विशेषानुष्ठाने तु नियमः परं विशेषानुष्ठानं यद्वर्णानां तत्र नियमः। तत्र कार्यं पूर्वैरात्मीयमनुष्ठानं यदुक्तं तत्कार्यमन्यत्। तथा च नारदः—

यस्य वर्णस्य यत्प्रोक्तमनुष्ठानं महर्षिभिः ।
तत्कर्तव्यं विशेषोऽयं तुल्यधर्मो न केवलं ॥ १ ॥

अथ यतीनां यः स्वो धर्मस्तमाह—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥ १५ ॥

टीका—यतीनां लिङ्गिनां निजागमोक्तमनुष्ठानं कृत्यं यत्स धर्मः आत्मीय इति । तथा च चारायणः—

स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत्स धर्मो निजः स्मृतः ।
लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्मलक्षणः ॥ १ ॥

अथ यतीनां परमागमानुष्ठानेन यद्भवति तदाह—

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥ १६ ॥

टीका—निजदर्शनव्यतिक्रमेण धर्मविलोमतया सर्वेषां लिङ्गिनामात्मीयागमे यदुक्तं प्रायश्चित्तं भवति । तथा च वर्गः—

स्वदर्शनविरोधेन यो धर्माधर्ममाचरेत् ।
स्वागमोक्तं भवेत्तस्य प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ १ ॥

अथाभीष्टदेवप्रतिष्ठापनमाह—

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ॥१७॥

टीका—यः पुरुषो यस्य देवस्य श्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् । तथा च भागुरिः—

यस्योपरि भवेद्भक्तिर्विबुधस्य नृणामिह ।
स देवस्तैः प्रतिष्ठाप्यो नान्यः स्याच्छ्रेयसे यतः ॥ १ ॥

अथाभक्त्या पूजितो देवो यत्करोति तदाह—

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय ॥ १८ ॥

टीका—भक्तिं विना कृतोपचारः कृतपूजितविधानो देवः सद्यः तत्क्षणात् शापायानिष्टप्रदो भवति । तथा च बादरायणः—

अभक्त्या पूजितो देवस्तत्क्षणे विघ्नमाचरेत्।
तस्माच्छ्रद्धासमोपेतैः पूज्यो भक्त्या......॥ १ ॥

अथ सर्वाश्रमवर्णानां यद्भक्त्या प्रायश्चित्तविशुद्धिर्भवति तदाह—

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः ॥ १९ ॥

टीका—वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः, आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थ-वानप्रस्थयतयस्तेषामेकतमस्यापि प्रच्यवने ज्यात्यादिकविनाशे जाते त्रयीतो वेदत्रयोक्तवचनात्[1] विशुद्धिर्भवति वेदोक्तप्रायश्चित्ते कृते। तथा च चारायणः—

वर्णाश्रमाणां नाशे तु जाते जातिपूर्वके।
वेदत्रयोक्तवाक्येन तेषां शुद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥

अथ प्रजानां भूपतेश्च त्रिवर्गप्राप्तिर्यथा भवति तथाह—

स्वधर्मासंकरः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते ॥ २० ॥

टीका—असंकरोऽविप्लवः, केषां ? स्वधर्माणां। कासां ? प्रजानां। उपसन्धत्ते नियोजयति। कं? राजानं। केन त्रिवर्गेण धर्मार्थकामशब्देन।
तथा च नारदः—

न भूयाद्यत्र देशे तु प्रजानां वर्णसंकरः।
तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ॥ १ ॥

अथ राज्ञो राजत्वं यथा न भवति तदाह—

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ॥ २१ ॥

टीका—स किं राजा कुत्सितो राजा, स किंविशिष्टः स्यात् ? यो न रक्षति पालयति काः प्रजा लोकान्। तथा च व्यासः—

यो न राजा प्रजाः सम्यग्भोगासक्तः प्ररक्षति।
स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः ॥ १ ॥

---

[1] स्वधर्मशास्त्रोक्तप्रायश्चित्तविधानेन।

अथ स्वधर्ममतिक्रामतां पार्थिवो गुरुरित्याह—

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥ २२ ॥

टीका—स्वधर्ममतिक्रामतां परित्यजतां सर्वेषां वर्णाश्रमाणां पार्थिवो गुरू राजा निषेधयिता यथोचितधर्मेण । तथा च भृगुः—

उन्मत्तं यथा नाम महामन्तो निवारयेत् ।
उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वच्चैव जनं नृपः ॥ १ ॥

अथ पार्थिवस्य धर्मं परिपालयतो यद्भवति तदाह—

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मषष्ठांशमवाप्नोति ॥ २३ ॥

टीका—यो राजा धर्मविप्लवं रक्षति स सर्वेषां वर्णाश्रमाणां धर्मस्य षष्ठांशं प्राप्नोति । तथा च मनुः—

वर्णाश्रमाणां यो धर्मं नश्यन्तं च प्ररक्षति ।
षष्ठांशं तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि राज्ञः परिपालनविषयं प्राह—

उञ्छषड्भागप्रदानेन तपस्विनोऽपि राजानं संभावयन्ति । २४।

टीका—ये तपस्विनो वनवासिनो भवन्ति शिलोञ्छवृत्त्या जीवन्ति तेऽपि षड्भागं भूपतेः प्रयच्छन्ति, कस्मात् ? यतस्तेऽपि शिलोञ्छवृत्तिं कुर्वाणाः सूक्ष्मजीवानां स्वेदजानां वधं कुर्वन्ति ततः षड्भागं स्वधर्मस्य भूपतेः प्रयच्छन्ति तेन च तेषां स दोषो न भवति एवं तेषां षड्भाग-प्रदानं तेन भूपते रक्षा भवति । तथा च पाराशरः—

षड्भागं योऽत्र गृह्णाति कर्षुकीणां तपस्विनाम् ।
तान्न पालयते यश्च स तेषां पापभाग्भवेत् ॥ १ ॥

---

१ गजं । २ हस्तिपकः (महावतेति) ३ "उञ्छ कणश आदाने" पर्वतारण्यादिषु प्रतिनियतस्वामिकातिरिक्तेषु भूभागेषु गृहीतसस्येषु क्षेत्रेषु अप्रतिहतावकाशेषु यत्र यत्र कणोपलब्धिः स्यात्तत्र तत्र कणशसमुच्चयनं उञ्छस्तस्य षड्भागप्रदानेन । ४ वर्धयन्ति ।

अथ भूपतेस्तपस्विधर्मषड्भागेन गृहीतेन यद्भवति तदाह—

तस्यैतद्भूयाद् योऽस्मान् रक्षति ॥ २५ ॥

टीका—तस्य भूपतेः श्रेयसः षड्भागो भूयात् योऽस्मान् रक्षति यतस्ते मुनयः क्रियावसाने एवं वदन्ति तस्य एतदस्य मदीयस्य षड्भागः स्यात् धर्मस्य योऽस्मान् रक्षति। एवं तस्मिन् तैः शिलोञ्छवृत्तिषड्-भागः प्रदत्तो भवति। तथा च हारीतः—

मुनीनां वनसंस्थानां फलमूलाशिनामपि
षड्भागस्तपसस्तेषां राजा प्राप्नोति रक्षणात् ॥ १ ॥

अथ मंगलामंगलविषये निश्चयमाह—

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥ २६ ॥

टीका—तदमंगलमपि अनिष्टमपि मंगलं शुभप्रदमिति यतः श्राव-काणां क्षपणकदर्शनं श्वेतपटावलोकनं च कार्यारम्भेषु शुभावहमन्येषाम-मंगलं। एवं अन्येऽपि पदार्थाः काणखंजादयो ज्ञेयाः, तथा यदि प्रियतमा भवन्ति तद्दोषाय न भवन्ति। तथा च भागुरिः—

यद्यस्य वल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयास्यति।
कृत्यारम्भेषु तत्तस्य सुनिन्द्यमपि सिद्धिदं ॥ १ ॥

अथ यत्पुरुषेण कर्तव्यं तदाह—

संन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ॥ २७ ॥

टीका—संन्यस्ता यतयोऽग्निपरिग्रहा याज्ञिकास्तानुपासीत सेवेत, कस्मात् यतस्ते परिणतबुद्धयो भवन्ति पारत्रिकोपदेशं प्रयच्छंति। अन्ये तु पुनः सेविताः स्वचेष्टिताभिप्रायान् वदन्ति। तथा च वल्लभदेवः—

यादृक्षांणां शृणोत्यत्र यदृक्षांश्चावसेवते।
तादृक्चेष्टो भवेन्मर्त्यस्तस्मात् साधून् समाश्रयेत् ॥ १ ॥

---

१ मिथ्येयं वाक्या। २ यादृक्षार्थं इति सुष्ठु दृश्यते।

अथ स्नातेन यत्कर्तव्यं तदाह—

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ॥ २८ ॥

टीका—स्नानं कृत्वा गृहस्थेनाभीष्टं मुक्त्वा नान्यत्किंचित्स्प्रष्टव्यं यतोऽनिष्टस्पर्शनात् श्रेयो नश्यति । तथा वर्गः—

स्नात्वा त्वभ्यर्चयेद्देवान् वैश्वानरमतः परं ।
ततो दानं यथाशक्त्या दत्वा भोजनमाचरेत् ॥ १ ॥

अथ देवाश्रयगतेन गृहस्थेन यत्कर्तव्यं तदाह—

देवागारे गतः सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीः पश्येत् ॥ २९ ॥

टीका—देवागारं देवायतनं तत्र गतो गृहस्थस्तत्रस्थान् सर्वान् यतींस्तापसान् पश्येत् प्रणमेदित्यर्थः । आत्मसम्बन्धिनीर्या जरतीर्वृद्धास्त्रियस्ताः प्रणमेत् । तथा च हारीतः—

देवायतने गत्वा सर्वान् पश्येत् स्वभक्तितः ।
तत्राश्रितान् यतीन् पश्चात्ततो वृद्धाः कुलस्त्रियः ॥१॥

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः[1], राजशासनस्य[2] मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥ ३० ॥

गतार्थमेतत् ।

अथ विप्रादीनां स्वभावमाह—

दीना प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ॥ ३१ ॥

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥ ३२ ॥

---

१ यतः देवाकारं आपितः पाषाणोऽपि नावमन्यते जनैः इति शेषः किं पुनर्मनुष्यो अवमन्तव्य इति वक्तव्यमपि तु नेत्यर्थः । २ राजाज्ञायाः मृत्तिकायामिव ।

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम् ॥ ३३ ॥

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीवलानाम् ॥ ३४ ॥

गतार्थमेतत्।

अथ विप्रादीनां यथा कोपोपशमो भवति तथाह—

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥ ३५ ॥

प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम् ॥ ३६ ॥

प्राणावसानः कोपो क्षत्रियाणाम् ॥ ३७ ॥

प्रियवचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम् ॥ ३८ ॥

विश्वस्तैः सह व्यवहारो वणिजां निधिः ॥ ३९ ॥

टीका—ब्राह्मणानां यः कोपः स दानावसानः प्रकुपितस्यापि विप्रस्य यदि भोजनाद्यं कोपार्हे किंचित्प्रदीयते तत्सद्यः कोपो विनश्यति। तथा च गर्गः—

सूर्योदये यथा नाशं तमः सद्यः प्रयात्यलम्।
तथा दानेन लब्धस्य कोपो विप्रस्य गच्छति ॥ १ ॥
दुर्जने सुकृतं यद्वत्कृतं याति च संक्षयं।
तद्वत्कोपो गुरूणां स प्रणामेन प्रणश्यति ॥ २ ॥
उदुम्बरफलानां च यद्वद्बीजं प्रणश्यति।
फलेन सहितं तद्वत्कोपो भूपस्य तत्समः ॥ ३ ॥
यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्वियोगजः।
प्रियालापेन तद्वद्वणिजां नश्यति ध्रुवं ॥ ४ ॥
विश्वस्तैर्मित्रवर्गैश्च व्यवहारस्तु यो भवेत्।
वणिजां स निधिः प्रोक्तः शुद्धहेममयो ग्रहः ॥ ५ ॥

तथा च वल्लभदेवः—

द्वे मानेऽभीष्टवाणिज्यं गांधिकं पण्यगोष्ठिकं।
निक्षेपः क्रयमिथ्या च वणिजां निधयोऽत्र षट् ॥ १ ॥

पूर्णो पूर्णमाने परिचितजनकयो मिथ्या।
वणिग्जनो विकोटीशः कुरुते नात्र संदेहः ॥ २ ॥
निक्षेपे गृहपतिते श्रेष्ठी स्तौतीष्टदेवतां नित्यं।
निक्षेपोऽसौ म्रियते तुभ्यं दास्यामि चाभीष्टं ॥ ३ ॥
गोष्ठिककर्माणि युक्तः श्रेष्ठी चिन्तयाति चेतसा हृष्टः।
वसुधा वसुसम्पूर्णा मयाद्य लब्धा किमन्येन ॥ ४ ॥
पण्यानां गांधिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः।
श्रेष्ठी प्रोवाच पुत्राणां यत्रैकेन शते भवेत् ॥ ५ ॥

अथ वैश्यानां यथा कोपोपशमो भवति तथाह—

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः ॥ ४० ॥

टीका—वैश्यानां कर्षकाणां उद्धारकदानं कोपोपशमाय। तथा च भृगुः—

अपि चेत्पैत्रिको वैरो विशां कोपं प्रजायते।
उद्धारकप्रलाभेन निःशेषो विलयं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ नीचजात्यानां यथा कोपोपशमो भवति तदाह—

दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ॥ ४१ ॥

टीका—नीचजात्यानां चातुर्वर्ण्याधःस्थितानां रजकादीनां कोपोपशमाय, किं ? वशीकरणं दण्डभयं रौद्रभयं। तथा च गर्गः—

सर्वेषां नीचजात्यानां यावन्नो दर्शयेद्भयं।
तावन्नो वशमायान्ति दर्शनीयं ततो भयम् ॥ १ ॥

इति त्रयीसमुद्देशः।

८ वार्ता-समुद्देशः ।

अथ वार्तासमुद्देशो लिख्यते तत्रादावेव वार्तास्वरूपमाह—

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ॥ १ ॥

टीका—यत्कृषिकर्म तथा पशुपालनं च वणिज्या च वणिक्क्रिया सा वार्ता कथ्यते । गतार्थमेतत् ।

अथ वार्तायां वृद्धिं गतायां राज्ञो देशे यद्भवति तदाह—

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ॥ २ ॥

टीका—यत्र राष्ट्रे कृषिकर्म प्रवर्तते शारदग्रैष्मिकं तथा पशवः चतुष्पादाद्याः पुष्टिं यान्ति न चौरादिभिः ह्रियन्ते । तथा वणिजां व्यवहारो विघ्नरहितः प्रवर्तते तत्र भूपतेर्हस्त्यश्वहिरण्यादिकमसंख्यं भवति तत्प्रभावात्सर्वाः समृद्धयो धर्मार्थकामलक्षणा भवन्ति । तथा च शुक्रः—

कृषिद्वयं वणिज्याश्च यस्य राष्ट्रे भवन्त्यमी ।
धर्मार्थकामा भूपस्य तस्य स्युः संख्यया विना ॥ १ ॥

अथ गृहस्थस्य संसारसुखं यथा भवति तथाह—

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ॥ ३ ॥

टीका—तस्य गृहस्थस्य खलु निश्चयेन सुखं भवति । यस्य किं, यस्य गृहे सदैव कृषिकर्म क्रियते तथा धेनवो महिष्यो भवन्ति शाकवाटो व्यञ्जनार्थं भवति तथा उदपानं कूपिका स्यात् । तथा च शुक्रः—

कृषिगोशाकवाटाश्च जलाश्रयसमन्विताः ।
गृहे यस्य भवन्त्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ॥ १ ॥

---

१ राज्ञामिति पाठान्तरम् ।

अथ विसाध्यराज्ञो यद्भवति तदाह—

विसाध्यराज्ञस्तंत्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयः ॥ ४ ॥

टीका—यो राजा तंत्रपोषणे नित्यं विसाधनं करोति तस्य नियोगिनां कर्माधिष्ठितानां महानुत्सवं वृद्धापनकं भवति यतस्ते वित्तं भक्षयन्ति तस्य राज्ञः पुनः कोशक्षयो भवति । तथा च नारदः—

ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः ।
नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥ १ ॥

अथ तस्य भूपतेर्नित्यं व्ययेनागतिं विना यथा कोशक्षयो भवति तदाह—

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥ ५ ॥

टीका—यो नित्यं व्ययं करोति न किंचिदुपार्जयति तस्य सुमहानपि कोशः शनैः शनैः क्षयं याति । आस्तां तावत्कोशो मेरुरपि नित्यं हिरण्यव्ययेन स्वल्पेनापि क्षयं याति तस्मादायानुरूपो व्ययः कार्यः । तथा च शुक्रः—

आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्धपंचमः ।
स दरिद्रत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ॥ १ ॥

अथ राज्ञो विसाधनव्ययस्य[1] यद्भवति तदाह—

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति[2] ॥ ६ ॥

टीका—यत्र राजा नित्यमेवान्नं विसाधयति तत्र सदैव दुर्भिक्षं यतः प्रभूतेनान्नेन तत्र पोषणं भवति ततो दुर्भिक्षं जायते तस्माद्भुजा प्रभूतो धान्यसंग्रहः कार्यः । तथा च नारदः—

---

१ धान्यसंग्रहमकृत्वाधिकव्ययकर्तुः । २ धान्यसंग्रहं न करोति आगतेरधिकं व्ययति ।

दुर्भिक्षेऽपि समुत्पन्ने यत्र राजा प्रयच्छति।
निजार्थ्येण निजं सस्यं तदा लोको न पीड्यते ॥ १ ॥

अथ राज्ञोऽर्थतुष्टेर्यद्भवति तदाह—

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ॥ ७ ॥

टीका—एतत् किल श्रूयते समुद्रे नवनदीशतैः सह गंगा प्रविशति तथा सिन्धुश्च। एवं सोऽष्टादशभिः शतैर्नदीनां गतपिपासो न भवति यदा तु तस्याभ्यधिका तृड् भवति तदा कुतोऽन्यानि (अन्यत्र) जलानि विद्यन्ते तदर्थं। एवं राजापि यदा तु षड्भागाभ्यधिको तुष्टिं करोति तदा कुतो राष्ट्रे वित्तानि तद्दोषेण राष्ट्रं प्रणश्यति ततो राज्यं च। तथा च शुक्रः—

षड्भागाभ्यधिको दण्डो यस्य राज्ञः प्रतुष्टये।
तस्य राष्ट्रं क्षयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वयं जीवधनमपश्यतो यद्भवति तदाह—

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासा-प्रतीकारात्पापं च ॥ ८ ॥

टीका—जीवधनशब्देन गोमहिष्यादिकं कथ्यते। तत्त्रयमपश्यतः स्वामिनो महती हानिर्भवति तथा मृतैर्मनस्तापो भवति तेषां बुभुक्षा-पिपासाप्रतीकारात् तस्य पापं भवति ततः स्वामिना जीवधनं स्वयं निरीक्षणीयं। तथा च शुक्रः—

चतुष्पदादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति।
तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

अथ स्वामिना यत्कर्तव्यं तदाह—

वृद्धबालव्याधितक्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ॥९॥

---

१ 'जैनमतानुसारेण तु चतुर्दशनदीसहस्रैः' इति। २ क्षुत्तृषां इति पाठान्तरम्।

टीका—वृद्धाननाथान्, बालान् मातृपितृविहीनान्, व्याधिग्रस्तानशरणान् तथा क्षीणान् दुर्बलान् पशून् दृष्ट्वा सुबान्धवानिव पोषयेत् स्वर्गार्थं। तथा च व्यासः—

अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि।
दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम्॥ १॥

अथ पशूनामकालमरणं यथा भवति तदाह—

अतिभारो महान् मार्गश्च पशुनामकाले मरणकारणम्॥१०॥

टीका—पशूनां वृषाश्वगजानां योऽसौ प्रभूतो भारः प्रभूतमार्गगमनं च अकालेऽप्रस्तावेऽवेलायां तेषां मृत्युकारणं मृत्युसमयः। तथा च हारीतः—

अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणं।
तस्मादर्हभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत्॥ १॥

अथ देशान्तराद्भाण्डानि यथा नागच्छन्ति तदाह—

शुल्कवृद्धिर्बलात्पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः॥ ११॥

टीका—यत्र स्थाने शुल्कवृद्धिः प्रभूतदानग्रहणं तथा च बलात्कारेणाल्पमूल्यं दत्वा भांडं गृह्यते तत्र भाण्डं देशान्तरान्न प्रविशति। तथा च शुक्रः—

यत्र गृह्णन्ति शुल्कानि पुरुषा भूपयोजिनाः।
अर्थहानिं च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रयां॥ १॥

भूयोऽपि भाण्डं नागच्छति तन्निदर्शनमाह—

काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते॥ १२॥

टीका—काष्ठपात्री काष्ठदण्डिका या भवति तस्यामेकः पदार्थो रध्यते न द्वितीयः। एवं यत्र स्थानेऽधिकं शुल्कं गृह्यते। तथा बला-

त्कारणार्थहानिः क्रियते राजपुरुषैस्तत्र भाण्डविक्रेता भूयो न स आगच्छति। तथा च शुक्रः—

> शुल्कवृद्धिर्भवेद्यत्र बलान्मूल्यं निपात्यते।
> स्वल्पेऽपि तत्र न स्थाने प्रविशेद् भाण्डविक्रयी ॥ १ ॥

अथ स्थाने व्यवहारदूषणं यथा भवति तदाह—

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥ १३ ॥

टीका—तुला प्रसिद्धा, मानं कुण्डवादि तयोरव्यवस्था अयथोचितकरणं, गुरुलघुत्वेन यत्र वाणिज्यं करोति तत्र व्यवहारः साधूनां नश्यति। तथा च वर्गः—

> गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामानसमुद्भवम्।
> द्विप्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ॥ १ ॥

अथ वणिग्जनकृतस्यार्थस्य यद्भवति तदाह—

वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीडयति ॥ १४ ॥

टीका—स्थितान् तत्स्थाननिवासिनः आगन्तुकान् यतोभ्यागतान् सर्वान् पीडयति निर्धनान् करोति। कोऽसौ? अर्थः। किंविशिष्टः? वणिग्जनकृतः। यद्येवं तर्हि किं क्रियते देशकालभांडापेक्षया नृपपंचकुलकृतोऽत्रस्थानामागन्तुकानां निरपवादो भवति। तथा च हारीतः—

> वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽनुज्ञातश्च नियोगिभिः।
> भूपस्यं पीडयेत्सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि ॥ १ ॥

अथ अर्घविषये नियममाह—

देशकालभांडापेक्षया यो वाऽर्थो भवेत् ॥ १५ ॥

टीका—देशापेक्षया तत्र देशे तस्य भाण्डस्योत्पत्तिर्जाता न वेति, कालशब्देनात्र समयः कथ्यते स ज्ञेयः, अत्र समये वास्य भाण्डस्य

प्रवेशो देशान्तरराज्ञातो न वेति एषा देशकालापेक्षया अनया वार्ष्य-साम्यता।

अथ पण्यतुलामानविषये वणिग्जनस्य भूभुजा यत् कृत्यं तदाह—

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥ १६ ॥

टीका—पण्यशब्देन भांडविषयेन कथ्यते (?)। तत्र वणिजो वि-कृतिं कुर्वन्ति स्वल्पमूल्ये तत्सदृशं भांडं मिश्रतां नयंति। तथा तुलाद्वयं कुर्वन्ति मानद्वयं च तत्सर्वं राज्ञा तेषां बोद्धव्यं। तथा च शुक्रः—

भाण्डसंगात्तुलामानाद्धीनाधिकयाद्वणिग्जनाः।
वंचयन्ति जनं मुग्धं तद्विज्ञेयं महीभुजा ॥ १ ॥

अथ भूभुजा वणिग्जनस्य यतः सावधानो न भवितव्यं तदर्थमाह—

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतो हराः ॥ १७ ॥

टीका—वणिग्भ्यः किराटेभ्यः परे अन्ये न सन्ति न विद्यन्ते, के ते? पश्यतो हराश्चौराः। ये सत्यचौरा भवन्ति ते परोक्षं हरन्ति एते पुनः किराटाश्चौराः प्रत्यक्षं प्रेक्षमाणस्य कूटमानतुलामिथ्याक्रियादिभिर्हरन्ति। तथा च वल्लभो देवः—

मानेन किंचिन्मूल्येन किंचि—
त्तुलयापि किंचित्कलयापि किंचित्।
किंचिच्च किंचिच्च गृहीतुकामाः
प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥ १ ॥

अथ स्पर्धया परस्परं यत्र किराटा मूल्यवृद्धिं कुर्वन्ति तदाह—

स्पर्धया मूल्यवृद्धिर्भांडेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः॥१८॥

टीका—यत्र भाण्डे विक्रयार्थमागता वणिग्जनाः स्पर्धयाधिकं मूल्यं कुर्वन्ति तत्र प्रसिद्धमूल्यादप्यधिकं भवति तद्भूपतेः प्रसिद्धमूल्यं च विक्रेतुः। तथा च हारीतः—

स्पर्धया विहितो मूल्यो भाण्डस्याप्यधिकं च यत् ।
मूल्यं भवति तद्राज्ञो विक्रेतुर्वर्धमानकम् ॥ १ ॥

अथाल्पमूल्येन भाण्डं गृह्णतो यद्भवति तदाह—

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भांडं राज्ञः ॥ १९ ॥

टीका—महाभांडमुत्तमं वस्तु चौराद्यैर्मुग्धैर्वा स्वल्पमूल्येन यद्दत्तं तद्भांडं भूपस्य भवति परं यन्मूल्यं केनचिद्दत्तं तस्याविनाशः, कोऽर्थः ? तत्तस्य देयमित्यर्थः । तथा च नारदः—

भाण्डं चौरादिभिर्दत्तं मुग्धैर्वाल्पधनेन यत् ।
तद्भाण्डं भूपतेः कृत्स्नं गृहीतुर्मूल्यमेव च ॥ १ ॥

अथान्यायमुपेक्षमाणस्य नृपतेर्यद्भवति तदाह—

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥ २० ॥

टीका—यो राजान्यायान् वर्तमानान् उपेक्षतेऽन्यायकारिणां निग्रहं न करोति तस्य सर्वं राज्यं विनश्यति । तथा च शुक्रः—

अन्यायान् भूमिपो यत्र न निषेधयति क्षमी ।
तस्य राज्यं क्षयं याति यद्यपि स्यात् क्रमागतम् ॥ १ ॥

अथ राष्ट्रस्य ये शत्रवो भवन्ति तानाह—

चौरचरटमन्नपधमनराजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूटवार्द्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः ॥ २१ ॥

टीका—चौराः प्रसिद्धाः, चरटा ये भूभुजा निःसारिताः, मन्नपा मापकारकाः, धमना ग्राहकभांडपतेर्मूल्यं निर्णयकारकाः, राजवल्लभाः प्रसिद्धाः, आटविका अरण्यनिवासिनः, तलाराः स्थानरक्षायां नियोजिताः, अक्षशालिकाः कटकशालिकाः नियोगिका राजाधिकारिकाः, ग्रामकूटा

१ तलारकिराताक्ष० इति पाठान्तरम् ।

बलाधिकाः, वार्द्धुषिका येऽन्नसंग्रहं कृत्वा दुर्भिक्षं वाञ्छन्ति, एते सर्वे राष्ट्रस्य कण्टका देशस्य शत्रुभूताः सामादिभिरुपायै राष्ट्रमुपद्रवन्ति तस्माद्भुजा नोपेक्षितव्याः। तथा च गुरुः—

चौरादिकेभ्यो दुष्टेभ्यो यो न राष्ट्रं प्ररक्षति।
तस्य तन्नाशमायाति यदि स्यात्पितृपैतृकम्॥ १॥

अथ यादृक्षे राज्ञि राष्ट्रकण्टका न भवन्ति तदाह—

प्रताॅपवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः॥२२॥

टीका—यत्र राष्ट्रे राजा प्रतापी बहुपुण्यो भवति तथाज्ञया निष्ठुरो नीतिकर्ता च तत्रैते राष्ट्रकण्टका न भवन्ति। तथा च व्यासः—

यथोक्तनीतिनिपुणो यत्र देशे भवेन्नृपः।
सप्रतापो विशेषेण चौराद्यैर्न स पीड्यते॥ १॥

अथान्यायवृद्धया वार्द्धुषिका [न] भवन्ति देशस्य यत्कुर्वन्ति तदाह—

अन्यायॅवृद्धितो वार्द्धुषिकास्तंत्रं देशं च नाशयन्ति॥ २३॥

टीका—वार्द्धुषिकाः पूर्वोक्ताश्चानीतिवृद्धितः श्रिताः सन्तः तंत्रं राज्ञश्चतुष्पदादिकं तथा देशं नाशयन्ति तेषामन्यायवृद्धिः पार्थिवेन रक्षणीयाः। तथा च भृगुः—

यत्र वार्द्धुषिका देशं अनीत्या वृद्धिमाययुः।
सर्वलोकक्षयस्तत्र तिरश्चां च विशेषतः॥ १॥

अथ तेषां दाक्षिण्यरहितानां यद्भवति तदाह—

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम्॥ २४॥

टीका—नास्ति न विद्यते, किं तत्? दाक्षिण्यं लज्जास्पदं, कयोर्विषये? कृत्याकृत्ययोः। यदि तदर्थं कृत्यं वस्तु क्रियते उपकारलक्षणं तदपि

---

१ प्रतापवति कण्टकशोधनाधिकरणज्ञे राज्ञि न प्रभवन्ति इति पाठो मुद्रित-पुस्तके। २ तेषु सर्वे अन्यायवृद्धयो वार्द्धुषिकास्तंत्रं कोशं देशं च विनाशयन्ति इति सूत्रं मुद्रितपुस्तके।

दाक्षिण्यं न कुर्वन्ति । अथवा तदर्थमकृत्यं क्रियते तदपि दाक्षिण्यं न कुर्वन्ति । तथा च हारीतः—

वार्द्धुषिकस्य दाक्षिण्यं विद्यते न कथंचन ।
कृत्याकृत्यं तदर्थे च कृतैः संख्यविवर्जितैः ॥ १ ॥

अथ पुरुषेण स्वशरीररक्षार्थे यत्कृत्यं तदाह—

अप्रियमप्यौषधं पीयते ॥ २५ ॥

टीका—किलौषधं क्वाथादिकं यद्यप्रियं भवति कटुकं तथापि पीयते येनारोग्यं शरीरं भवति तथान्यैरपि पदार्थैर्धर्मार्थकामादिभिर्यथा शरीरस्यारोग्यता भवति तथा कार्यं । तथा च वर्गः—

धर्मार्थकामपूर्वैश्च भेषजैर्विविधैरपि ।
यथा सौख्यार्द्धिकं पश्येत्तथा कार्यं विपश्चिता ॥ १ ॥

अथ तस्यैव पूर्वसूत्रस्य प्रतिष्ठामाह—

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि च्छिद्यते ॥ २६ ॥

टीका—यतो निर्मूल्यौषधैर्महार्घैः (?) गृह्णति अर्थक्षयो भवति । जिह्वाया असन्तोषो भवति । तथा धर्मार्थकामैरनुगतैरपि वित्तक्षयो भवति तथा मनसोऽसन्तोषो भवति । तत्कस्मादेतत्कृतं तदत्र विषये दृष्टान्तमाह—यथाहिदष्टाङ्गुलिः शरीररक्षार्थे व्यथामप्यधिकां करोति तथापि च्छिद्यते त्यज्यते । एवं शरीररक्षार्थेऽर्थस्य तृष्णा न कार्या शरीरेण विद्यमानेन भूयोप्यर्थसम्पत्तिर्भवति तथाहिदष्टाङ्गुलित्यागाच्छरीरं भवति । उक्तं च—

शरीरार्थे न तृष्णा च प्रकर्तव्या विचक्षणैः ।
शरीरेण सता वित्तं लभ्यते न तु तद्धनैः ॥ १ ॥

इति वार्तासमुद्देशः ।

---

९ दण्डनीति–समुद्देशः ।

अथ दण्डनीतिरारभ्यते । तत्र तावद्दण्डमाहात्म्यमाह—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥ १ ॥

टीका—योऽसौ अपराधिनां दण्डः क्रियते, स किंविशिष्टः? दोषविशुद्धिहेतुः कारणं । एतदुक्तं भवति—योऽसौ राजा चौरजारादीनां निग्रहं करोति, स निग्रहः किंविशिष्टः? सर्वदोषविशुद्धिहेतुः । क इव? चिकित्सागम इव, यथा चिकित्सागमो वैद्यकं सर्वदोषसन्निपातादीनां विनाशहेतुर्भवति तथा दण्डः । तथा च गर्गः—

> अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये ।
> विना येन च सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥ १ ॥

अथ दण्डनीतेः स्वरूपमाह—

यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ॥ २ ॥

टीका—यथादोषं यत्प्रमाणापराधस्य दंड प्रणयनं दण्डग्रहणं सा दण्डनीतिः, न सातर्हस्य (?) द्विशतमात्रो दण्डः । तथा हस्तपादच्छेदार्हस्य न शिरः (छेदः) कार्यः । तथा विप्रस्य न क्षत्रियवद्दण्डः । न क्षत्रियस्य वैश्यवत् । न वैश्यस्य शूद्रवत् । न शूद्रस्यान्त्यजवत् । एते सर्वेऽपि दण्डा भूभुजा धर्माकरणे (धर्माधिकरणेन धर्मकारणे वा) निश्चेतव्याः । तथा च गुरुः—

> स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन् ।
> अपराधकपापेन लिप्यते न विशुद्ध्यति ॥ १ ॥

अथ यन्निमित्तं राजा दण्डं करोति तदाह—

प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ॥ ३ ॥

टीका—योऽसौ राज्ञा दण्डः प्रणीयते कृतापराधेभ्यो दीयते स प्रजापालनाय देशविवृद्धयर्थं न धनार्थं तस्माद्भूभुजा धनलोभो न कर्तव्यः । तथा च गुरुः—

यो राजा धनलोभेन हीनाधिककराप्रियः ।
तस्य राष्ट्रं प्रजेशाशं न स्यात्परमवृद्धिमत् ॥ १ ॥

अथ राज्ञो वैद्यस्य वा छिद्रान्वेषणपरस्य यद्भवति तदाह—

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥ ४ ॥

टीका—स किं राजा यः प्रजासु विषये दोषमन्वेषयति छिद्रान्वेषणपरो भवति स कण्टकः शत्रुः । कासां ? प्रजानां । यतः कलिकाले कामक्रोधलोभादयो दोषाः प्रायेण संभवन्ति तेन सर्वं छिद्रमयं जगत् एवं ज्ञात्वा परिभूतपुरुषस्य तच्छत्रौ यथार्हो दण्डः कार्यः न परवाक्येन स्वजीवनाय निर्वहणनिमित्तं । तथा च शुक्रः—

यो राजा परवाक्येन प्रजादण्डं प्रयच्छति ।
तस्य राज्यं क्षयं याति तस्माज्ज्ञात्वा प्रदण्डयेत् ॥ १ ॥

अपि च—

छिद्रान्वेषणचित्तेन नृपस्तंत्रं न पोषयेत् ।
तस्य तन्नाशमभ्येति तस्मात्त्ववज्ञाजनारिता ? ॥ २ ॥

तथा च वैद्यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति रोगवृद्धिकराणि भेषजानि प्रयच्छति धनिनां स वैद्यो न भवति सोऽपि प्रजाकण्टकः । तथा च गुरुः—

१ प्रजाहितार्थं इत्यन्यःपाठः ।

प्रत्यूषे प्रोत्थिता वैद्याः कृतावश्यकसत्क्रियाः ।
वैद्यनाथं हृदि स्थाप्य श्लोकमेनं पठन्ति च ॥ १ ॥
वातपित्तादिका रोगा ये चाजीर्णसमुद्भवाः ।
ते सर्वे धनिनां सन्तु वैद्यनाथ तवाज्ञया ॥ २ ॥

अथ राजा न यानि द्रव्याणि स्वयमुपयुञ्जीत तानि कथ्यन्ते—

दण्ड-द्यूत-मृत-विस्मृत-चौर-पारदारिक-प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥ ५ ॥

टीका—दण्डवित्तमपराधिजनोत्थं, द्यूते जितं, तथा संग्रामे, मृतस्य तथा विस्मृतं यज्जानाति वित्तं, तथा चौराद्यत्प्राप्तं, (पारदारिकाद्यत्प्राप्तं) तथा प्रजाविप्लवात् परचक्रभयत्रासात् प्रजाभिः परित्यक्तं। (अथ यदि) तेषां द्रव्याणि न राजा स्वयं गृह्णीयात् यदि गृह्यन्ते तेन कस्मात्कारणात्, तदर्थमुच्यते तानि भूभुजा धर्मार्थं विप्रादीनां देयानि न च कोशे क्षेप्तव्यानि यतो दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि सर्वाणि। तथा च शुक्रः—

दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः ।
स याति धनं गृह्यगृहार्थखनिर्धिर्यथा [1] ॥ १ ॥

अथ दुष्प्रणीतदण्डेन कोशक्षिप्तेन यद्भवति तदाह—

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥ ६ ॥

टीका—तेषां पूर्वोक्तानां यो दण्डः स दुष्प्रणीतः पापदण्डः स स्वयं भुञ्जानस्य नृपतेर्विद्वेषं करोति सर्वनाशं करोति, अन्यस्यापि शुभार्जितस्य। काभ्यां सकाशात् कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा मूर्खत्वाद्वा। तथा च शुक्रः—

1 सुतपत्यादिदायादाधिकारिरहितायाः स्त्रियाः धनं रक्षकहीनायाः कन्यायाश्च धनमिति मुद्रितपुस्तकेऽस्य टिप्पणं ।

यथा कुमित्रसंगेन सर्वं शीलं विनश्यति ।
तथा पापोत्थदण्डेन मिश्रं नश्यति तद्धनं । ॥ १ ॥
किंचित्कामेन क्रोधेन किंचित्किंचिच्च आक्यतः ।
तस्माद्दूरेण संत्याज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ॥ २ ॥

अथ दुष्प्रणीतदण्डभीतस्य राज्ञो राष्ट्रे यद्भवति तदाह—

अप्रणीतो दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति बलीयानबलं ग्रसति (इति मात्स्यन्यायः) ॥ ७ ॥

टीका—अप्रणीतोऽकृतोऽपराधिनां भूभुजा दण्डो (मात्स्यन्याय[1]मुत्पादयति बलीयान् पुरुषोऽबलं निर्बलं ग्रसतीति मात्स्यनायः तस्मात्) भूभुजा दण्डो ग्राह्यः परं कोशे न निक्षेप्तव्यः । तथा च गुरुः—

दण्डयं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः ।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

इति दण्डनीतिसमुद्देशः ।

---

१ कंसस्थः पाठो मुद्रितपुस्तकात् संयोजितः । २ कंसस्थः पाठो नास्ति पुस्तके ।

१० मंत्रि-समुद्देशः ।

अथ मंत्रिसमुद्देश आरभ्यते । तत्रादावेव राजा यथा आहार्यबुद्धिर्भवति तदाह—

मंत्रिपुरोहितसेनापतीनां[1] यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्यबुद्धिः ॥ १ ॥

टीका—यो राजा मंत्रिपुरोहितसेनापतीनां युक्तं धर्मार्थलक्षणं कथितं करोति स आहार्यबुद्धिः कथ्यते तस्माद्भुजा त्रयाणामप्येतेषां वचनं कार्यं राज्यविवृद्धये । तथा च गुरुः—

> **यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः ।**
> **स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥ १ ॥**

अथ भूपतेर्महापुरुषवाक्यं कुर्वाणस्य यद्भवति तदाह—

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ॥ २ ॥

टीका—यस्तेषां वाक्यं करोति सत्यं राजा प्रधानो बहुमतिः परं षाड्गुण्यं चिन्तयमानस्य विलासासक्तचेतसो बुद्धिभ्रमो भवति अमात्यादीनां पुनस्तदेव तस्य राज्यं चिन्तयमानानां बुद्धिविकासो भवति तेन ते प्रष्टव्याः । तैः पृष्टे विभ्रमयुक्तापि मतिः तद्बुद्धिः मिश्रा सती योग्या भवति । कैः केव ? पुष्पैर्मिश्रा सूत्रततिरिव यथा पुष्पैर्मिश्रा सूत्रपंक्तिर्देवैरपि निर्गन्धापि शिरसि धार्यते एवं भूपस्याऽपि बुद्धिर्वि-

---

१ मंत्रीपुरोहितसेनापतीनाम् ।

लासासक्तस्य नष्टापि सती प्रश्चात् प्रकटा भवतीति। तथा च वल्लभो देवः[1]—

उत्तमानां प्रसंगेन लघवो यान्ति गौरवम्।
पुष्पमालाप्रसंगेन सूत्रं शिरसि धार्यते ॥ १ ॥

अथाग्रेसरसूत्रेणामुमेवार्थं दृढीकुर्वन्नाह—

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठतोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥ ३ ॥

टीका—ये महापुरुषा उत्तमपुरुषा भवन्ति तैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि पाषाणोऽपि देवो भवति किं पुनर्मनुष्यः। तस्माद्राज्ञा महापुरुषाः प्रष्टव्यास्तेषां वाक्यं कर्तव्यमिति। तथा च हारीतः—

पाषाणोऽपि च विबुधः स्थापितो यैः प्रजायते।
उत्तमैः पुरुषैस्तैस्तु किन्न स्यान्मानुषोऽपरः ॥ १ ॥

अथ तमेवार्थं दृढीकुर्वन्नाह—

तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥ ४ ॥

टीका—विष्णुगुप्तश्चाणिक्यस्तस्यानुग्रहात् प्रसादान्मतिमतोनधिकृतोऽपि अनधिकार्यपि मौरिककुलोत्पन्नोऽपि नन्दराजो साम्राज्यपदमवाप। तथा च शुक्रः—

महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः।
एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृहलो यथा ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यादृक्षोऽमात्यः कर्तव्यस्तस्य लक्षणमाह—

---

1 देवः।

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धम-व्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतंत्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मंत्रिणं कुर्वीत ॥ ५ ॥

टीका—एवं विधो ज्ञातामात्यमाहात्म्येन राज्ञा मंत्री कर्तव्यः तत्र तावद्ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं प्रधानभूतं। किंविशिष्टं तं? स्वदेशजं स्वजनपदे जातं। आचाराभिजनविशुद्धं आचार आचरणमनुष्ठानं, अभिजनशब्देन कुलीनता कथ्यते ताभ्यां शुद्धं निष्कलंकं, यस्य नाकृत्यप्रवर्तनं तथा चाभिजनत्वं मातृपितृपक्षविशुद्धिर्यस्य। तथा चाव्यसनिनं द्यूतस्त्रीमांसासक्तिवर्जितं। तथा चाव्यभिचारिणं कदाचिदेव येन न व्यभिचारो द्रोहः कृतः। तथाधीताखिलव्यवहारतंत्रं अधीतान्यखिलानि समस्तानि मनुयाज्ञवल्क्यादिप्रोक्तव्यवहाराणां तंत्राणि रहस्यानि येन तं। तथास्त्रज्ञमस्त्रविद्याकुशलं। तथा चाशेषोपाधिविशुद्धं, उपाधिशब्देन शत्रुचेष्टितां वारं वेति, एतैर्विशुद्धमष्टाभिः पदार्थैः मंत्रिणं कुर्वीत।

अथ पक्षपातस्य स्वरूपमाह—

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥ ६ ॥

टीका—राज्ञो यः प्रोक्तोऽष्टगुणो मंत्री तेषां मध्यात् स्वदेशपक्षपातो महानुत्तमः सर्वेषां पक्षपातानां सकाशात्। उक्तं च यतो हारीतः—

स्वदेशजममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः।
आपत्कालेन सम्प्राप्ते न स तेन विमुच्यते ॥ १ ॥

अथ दुराचारस्वरूपमाह—

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥ ७ ॥

टीका—यो मंत्री दुराचारः कुत्सितानुष्ठानो सर्वानन्यान् षड्गुणान्[1] विद्यमानानपि दूषयति नाशयतीत्यर्थः। क इव? विषनिषेक इव विष-

---

१ गुणानां।

भक्षण इव। यथा विषेण भक्षितेन सर्वे शरीरजा गुणा नाशं यान्ति तद्वद्देशपक्षपातादिकाः सर्वे गुणा नश्यन्ति तस्माद्दुराचारो मंत्री न कर्तव्यः। तथा चात्रिः—

दुराचारममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः।
भूपाहार्स्तस्य मंत्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत्॥ १॥

अथाकुलीनस्य स्वरूपमाह—

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते॥ ८॥

टीका—दुष्परिजनशब्देनाकुलीनः कथ्यते, दुष्परिजनो मंत्री, कुतः कस्मात् जुगुप्सते लज्जां करोति। किं कृत्वा? अपकृत्य द्रोहं कृत्वा, कस्य राज्ञोऽपि तु न लज्जते। यतः कुलीनस्य लज्जा भवति नाकुलीनस्य। तथा च यमः—

अकुलीनस्य नो लज्जा स्वामिद्रोहे कृते सति।
मंत्रिणं कुलहीनस्य तस्माद्विद्वान्न? कारयेत्॥ १॥

अथ सव्यसनस्य स्वरूपमाह—

सव्यसनसचिवो राजारूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः॥९॥

टीका—यो राजा सव्यसनसचिवो द्यूतस्त्रीपानव्यसनाभिभूतेन मंत्रिणा सह वर्तते, तस्य किं स्यात्? नासुलभोऽपि तु सुलभः शीघ्रं स्यात् कोसौ? अपायो विनाशः क इव? आरूढव्यालगज इव योऽपि व्यालो दुष्टगजे आरोहणं करोति सोऽपि शीघ्रं नश्यतीति। तथा च नारदः—

द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलोपमां।
पश्यना...कारोपमानुदारान् राजार्हः स्यात्स मंत्रयितु॥१॥ ?

अथ व्यभिचारिणो मंत्रिणः स्वरूपमाह—

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते॥ १०॥

टीका—किं तेन केनापि मंत्रिणान्येनापि सामान्येन यः स्वामिनो नोपतिष्ठते नागच्छति व्यभिचरतीत्यर्थः। कस्यां ? आपदि। तथा च शुक्रः-

किं तेन मंत्रिणा योऽत्र व्यसने समुपस्थिते।
व्यभिचारं करोत्येव गुणैः सर्वैर्युतोऽपि वा ॥ १ ॥

अथ तमेवार्थं समर्थयन्नाह—

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः ॥ ११ ॥

टीका—भोज्ये भोजनकालेऽसम्मतोऽपि यः समागच्छति स सुलभः सुखेन लभ्यते प्रभूत इत्यर्थः। असंमतोऽप्यपूर्वोऽपि यो व्यसने साहाय्यं करोति स मंत्री सामान्योऽपि। हिशब्दो यस्मादर्थे स्फुटार्थः। तथा च वल्लभो देवः—

समृद्धिकाले संप्राप्ते परोऽपि स्वजनायते।
अकुलीनोऽपि चामात्यो दुर्लभः स महीभृताम् ॥ १ ॥

अथाधीताखिलव्यवहारस्य शुभकस्य मंत्रिणो दूषणमाह—

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥ १२ ॥

टीका—यो न वेत्ति न चिन्तयति। किं ? हितोपायं येन राज्ञो वृद्धिर्भवति। तथाऽहितप्रतीकारं शत्रुनाशं। तथा च गुरुः—

किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञातैः शुभकैरपि।
यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयं ॥ १ ॥

अथास्त्रज्ञस्य मंत्रिणो दोषमाह—

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मंत्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न भवति ॥ १३ ॥

टीका—अत्राचार्येणास्त्रज्ञो मंत्री सहायः प्रोक्तः किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मंत्रिणा खड्गचापादिविद्यान्वितेन य आत्मनो रक्षणं न करोति स शस्त्रज्ञोऽप्यशस्त्रज्ञः। तथा च शुक्रः—

> मार्गयोरथां च यो वेदशास्त्रविषयांकुशैरपि ।
> स मंत्री पूजितो राज्ञा योऽन्यः शास्त्रात्मरक्षकः ॥ १ ॥

अथोपधास्वरूपमाह—

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा ॥ १४ ॥

टीका—या (उपधा) सा किंविशिष्टा ? परचित्तपरीक्षणकारी परशत्रुस्तस्य ज्ञायते चित्तं यथा, केन कृत्वा ? व्याजेन कपटेन । कैः, गुप्तचरैः । केषु पदार्थेषु ? धर्मार्थकामभयेषु । पश्चात्परीक्ष्य सन्धिर्विग्रहो वा स्वामिनो मंत्रिणा कारापनीयः। तत्र धर्मवेत्ता गुप्तचरः प्रेष्यस्तत्पुरोधसा सह मित्रत्वे नियोक्तव्यः, स तद्द्वारेण धर्मबुद्धिं यथा वेत्ति कार्यं किं वाकृत्यमधर्मः त्वया ज्ञात्वा मम वाच्यः । ततश्च यदि कृत्यं धर्मो भवति स ततः स्वामिविग्रहे तेन सह नियोज्यः अकृत्यमधर्मो भवति तत्संधेयः यतो धर्मस्ततो जयः इति च ज्ञात्वा । अथवार्थोपधा बहुभांडं नियोज्यः प्रेष्यः स गत्वा कोशपेन सह मैत्रीभावेन नियोक्तव्यः तद्द्वारेण यथा कोशशुद्धिं वेत्ति यस्तथा वाच्यः । स कंचुकिना सह मैत्रीं कृत्वा कामशुद्धिं वेत्ति द्यूतस्त्रीव्यसनेन जितः तद्योद्धव्यः, अथवा सन्धेयः । भयोपधा यथा तत्र यः शूरः स प्रहेतव्यः स च सेनापतिना सह मैत्रीं विधाय सभयं निर्भयं वेत्ति तद्यदि सभयस्तद्योद्धव्योऽथवा सन्धेयः । एताश्चतस्र उपधा इति । तथा च शुक्रः—

> ज्ञात्वा चरैर्यः कथितोऽरिगम्यो
> धर्मार्थहीनो विषयी सुभीरुः
> पुरोहितार्थाधिपतेः सकाशात्
> स्त्रीरक्षकात्सैन्यपतेः स कार्यः ॥ १ ॥

अथाकुलीनेषु मंत्रिषु यद्भवति तदाह—

अकुलीनेषु नास्त्यपवदाद्भयम् ॥ १५ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्? भयं। केषु? अकुलीनेषु। कस्मात्? अपवादात् अपकीर्त्तेः। तथा च वल्लभदेवः—

> कथंचिदपवादस्य न वेत्ति कुलवर्जितः।
> तस्मात्तु भूभुजा कार्यो मंत्री न कुलवर्जितः॥ १॥

अथ भूयोऽप्यकुलीनानां मंत्रिणां स्वरूपमाह—

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः॥ १६॥

टीका—ये मंत्रिणो विजातयः कुलहीना भवन्ति ते कालमापल्लक्षणं दृष्ट्वा प्राप्य भूपतेरपकुर्वते विरुद्धा भवन्ति। कथं? अलर्कविषवत् अलर्कशब्देन वाताभिभूतः श्वा प्रोच्यते तस्य दंष्ट्राविषमपि प्राप्ते काले प्रावृषि भूयोपि दंष्ट्राप्ररूढव्रणमपि नूतनं करोति। तद्वाद्विजातयो मंत्रिणः कथमप्यपराधं भूपालकारितं प्रशान्तमपि प्रकटतां नयन्तीति। तस्माद्विजातयो मंत्रिणस्त्याज्याः। तथा च वादरायणः—

> अमात्या कुलहीना ये पार्थिवस्य भवन्ति ते।
> आपत्काले विरुध्यन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतं॥ १॥

अथ कुलीनानां मंत्रिणां स्वरूपमाह—

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः॥ १७॥

टीका—दोषसंभवं दुर्जनाः कथयन्ति। किं तदमृतस्य विषत्वं कदाचित्तेषां न भवति खलु निश्चयेन। तथा च रैभ्यः—

> यदि स्याच्छीतलो वन्हिः सोष्णस्तु रजनीपतिः।
> अमृतं च विषं भावि तत्कुलीनेषु विक्रिया॥ १॥

अथ ज्ञानिनो मंत्रिणो ज्ञानं यथा वृथा स्यात्तदाह—

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः॥ १८॥

---

१ कथंचिदपवादं स न वेत्ति कुलवर्जितः इति सुष्ठु दृश्यते।

टीका—यत्र ज्ञाने शरीरस्थे परप्रतिबोधो न भवति अन्यस्य प्रतिबोधः कर्तुं न शक्यते। तज्ज्ञानं किंविशिष्टं? घटप्रदीप इव यथा घटमध्ये विधृतः प्रज्वलितोऽपि दीपो बाह्यप्रदेशप्रकाशं न करोति तथा सर्वगुणयुक्तोऽपि मंत्री भूपतिं प्रतिबोधयितुं न शक्नोति। तस्य ते सर्वेऽपि गुणा निष्फला इति। तथान्यस्यापि सामान्यस्य यज्ज्ञानं तद्यदि अन्यस्य संक्रामयितुं न शक्यते तद्घटप्रदीप इव। तथा च वर्गः-

सुगुणाढ्योऽपि यो मंत्री नृपं शक्तो न बोधितुम्।
नान्योन......वत्यन्ते गुणा घटदीपवत्॥ १॥

अथ शास्त्रस्य निष्फलत्वं यथा भवति तथाह—

तेषु शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्षदर्शनाद्भयमन्वयंति चेतांसि॥ १९॥

टीका—तेषु मंत्रिषु पण्डितेषु वा व्यर्थं शस्त्रमिव शास्त्रमपि। येषां किं? येषामन्वयंति आश्रयन्ति। कानि? चेतांसि। किं तत्? भयं। कस्मात्? विपक्षदर्शनात् प्रतिवादिदर्शनात्। सायुधस्य नरस्य भयविशिष्टे चेतसि तदायुधं निष्फलमिति। तथा च वादरायणः—

यथा शस्त्रज्ञस्य शास्त्रं व्यर्थं रिपुकृताद्भयात्।
शास्त्रज्ञस्य तथा शास्त्रं प्रतिवादिभयाद्भवेत्॥ १॥

अथ शास्त्रस्य शस्त्रस्य च यथा निष्फलत्वं भवति तदाह—

तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं।२०।

यच्छत्रूणां प्रसरं वेगं न हन्त्यागच्छमानानां तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय भवति। एतदुक्तं भवति शस्त्रेण विद्यमानेन शत्रोरागच्छमानस्य

---

१ ये दुर्जनाः कुलीनेषु पुरुषेषु दोषं सम्भावयन्ति तेऽमृतस्य विषत्वं कथयन्ति यतो यथा यदमृतं तदमृतमेव न विषं भवितुमर्हति तथा कुलीनाः कुलीना एव न दोषवन्त इति तात्पर्यम्। पूर्वपृष्ठादागतं। तदमृतस्य विषत्वमित्यस्य टिप्पणं।

यो न प्रहरति स तेन न वध्यते। तथा शास्त्रं पठमानो यो वादिने न प्रत्युत्तरं प्रयच्छति तुष्णीमास्ते स लघुतां याति। यथा च नारदः—

शत्रोर्वा वादिनो वापि शास्त्रेणैवायुधेन वा।
विद्यमानं न हन्याद्यो वेगं स लघुतां व्रजेत्॥ १॥

अथ कापुरुषस्य मूर्खस्य सुखं यद्भवति तदाह—

न हि गलिर्बलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते॥ २१॥

टीका—यः कापुरुषो भवति शस्त्रं न गृह्णाति तथा मूर्खो भवति तं कश्चित्स्वामी युद्धाय न प्रेरयति मूर्खं च वादाय (न) नियोजयति। तथात्र दृष्टान्तेन तदर्थं प्रतिपादयति—न हि गलिर्बलीवर्दो भारकर्मणि युज्यते नारोपितः सुखी स्यात्। तथा च वल्लभदेवः—

गुणानामेव दौर्जन्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असञ्जातकिरणस्कन्धः सुखं याति गौर्गलिः[1]॥ १॥

अथ भूपतीनां कार्यारम्भो यादृग्भवति तमाह—

मंत्रपूर्वः सर्वोप्यारंभः क्षितिपतीनाम्॥ २२॥

टीका—क्षितिपतीनां राज्ञां यः प्रयोजनारम्भः षाड्गुण्यलक्षणः स मंत्रपूर्वः प्रथमं मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा ततः सर्वः प्रारभ्यते न मंत्रबाह्यः। तथा च शुक्रः—

अमंत्रसचिवैः सार्द्धं यः कार्यं कुरुते नृपः।
तस्य तन्निष्फलं भावि षण्ढस्य सुरतं यथा॥ १॥

मंत्रस्य यत्साध्यं तदाह—

अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानमर्थद्वैधस्य संशयच्छेदनमेकदेशदृष्टस्याशेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत्॥ २३॥

---

१ असंमर्दितस्कन्धः।

टीका—एतत् पंचपदार्थलक्षणं भूपतीनां मंत्रसाध्यं मंत्रं विना न सिद्ध्यतीत्यर्थः । तत्र तावदनुपलब्धस्याज्ञातस्य पदार्थस्य ज्ञानं यच्छत्रुमध्यं न ज्ञायतेऽन्यस्य वा कस्यचित् गुरुवस्तुनि तन्मंत्रेण ज्ञायते गुप्तचरैः शोध्यते ततो ज्ञायते । ज्ञातस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानं तस्य क्रमेणार्थद्वैधस्य संशयपरिच्छेदः, । यदेको गुप्तचरो वदति तदज्ञो(न्यो)ऽन्यथा ब्रूते स द्वैधीभावो भवति । तृतीयं प्रेषयित्वा निःसन्देहं यथा भवति तथा कार्यं । तथा एकदेशदृष्टस्य चरैः सर्वस्योपलब्धिः कार्या । तथा च गुरुः—

अज्ञातं शत्रुसैन्यं च चरैर्ज्ञेयं विपश्चिता ।
तस्य विज्ञातमध्यस्य कार्यं सिद्धं न वेति च ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणां लक्षणमाह—

अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेषं विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मन्त्रिणः ॥ २४ ॥

टीका—अकृतस्य पदार्थस्य ये मंत्रशक्त्यारम्भं कुर्युः, तथारब्धस्यानुष्ठानं कर्मवृद्धिः, अनुष्ठितस्य विशेषं, विनियोगसम्पदं च कर्म कुर्युस्ते मंत्रिणः कथ्यन्ते । तथा च शुक्रः—

दर्शयन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूपतेः ।
स्वाधिकारप्रभावं च मंत्रिणस्तेऽन्यथा परे ॥ १ ॥

अथ मंत्रस्य लक्षणमाह—

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पंचांगो मंत्रः ॥ २५ ॥

टीका—सर्वेषां कृत्यानां तावदुपायः सामभेदोपप्रदानलक्षणश्चिन्तनीयः अनेनोपायेनैतत्कृत्यं सिद्धिं यास्यतीति । उक्तं च यतः—

कार्यारंभेषु नोपायं तत्सिद्धयर्थं च चिन्तयेत् ।
यः पूर्वं तस्य नो सिद्धिं तत्कार्यं याति कर्हिचित् ॥ १ ॥

तथा पुरुषद्रव्यसम्पच्चिन्तनीया । सम्पच्छब्देन सामर्थ्यमुच्यतेऽनेन पुरुषेणैतेन द्रव्येणैतत्कार्यं सिद्धयति । उक्तं च यतः—

समर्थं पुरुषं कृत्ये तदर्हं च तथा धनम् ।
योजयेद्यो न कृत्येषु तत्सिद्धिं तस्य नो व्रजेत् ॥ १ ॥

तथा च देशकालविभागो भूभुजा चिन्तनीयः, अस्मिन् देशे यावनसैन्धवे ? अस्मिन् काले वसन्तशरल्लक्षणे मम यात्रासिद्धिर्भविष्यतीति । उक्तं च यतः—

यथात्र सैन्धवस्तोयस्थले मत्स्यो विनश्यति ।
शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति ॥ १ ॥
यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन् ।
स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः ॥ २ ॥

तथा विनिपातप्रतीकारश्चिन्तनीयः विनिपातशब्देनापदभिधीयते तस्याः प्रतीकार उपशमश्चिन्तनीयः कथमेषा यास्यति । उक्तं च यतः—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यो न मोहं प्रगच्छति ।
उद्यमं कुरुते शक्त्या स तं नाशयति ध्रुवं ॥ १ ॥

तथा कार्यसिद्धिश्चिन्तनीया ।

सामादिभि (रुपायै) र्यो कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेत्
न निर्वेगं क्वचिद्याति तस्य तत्सिद्धयति ध्रुवं ॥ १ ॥

अथ यत्र स्थाने मंत्रं कुर्यात्तदाह—

आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ॥ २६ ॥

टीका—आकाशे आश्रयरहिते न मंत्रः कार्यः । तथा प्रतिशब्दवति चाश्रये यत्राश्रये स्थाने प्रतिशब्दः सञ्जायते तत्रापि मंत्रो न कार्यः । कदाचित्कश्चिद्गुप्तस्तत्र स्थित्वा आकर्णयति । तथा च गुरुः—

निराश्रयप्रदेशे तु मंत्रः कार्यो न भूभुजा।
प्रतिशब्दो न यत्र स्यान्मंत्रसिद्धिं प्रवाञ्छता ॥ १ ॥

अथाकारैर्यथा विचक्षणो मंत्रो ज्ञायते तदाह—

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थ-मभ्यूह्यन्ति विचक्षणाः ॥ २७ ॥

टीका—यदि किंचिद्वदति राजा तदपि मुखविकारं दृष्ट्वा विचक्षणो दूतः समागतः तन्मंत्रं हृदि स्थितं जानाति। तथा कराभिनयेन हस्तचलनेन जानाति। प्रतिध्वानेन प्रतिशब्देन जानातीति तथा एते विकारा दूताग्रे रक्षणीयाः। तथा च वल्लभदेवः—

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ १ ॥

अथ यथा रक्षितव्यो मंत्रस्तदाह—

आ कार्यसिद्धे रक्षितव्यो मंत्रः ॥ २८ ॥

टीका—आङ् पर्यन्तवाचकः यावन्मंत्रं कृता कार्यस्य सिद्धिर्न भवति तावद्रक्षितव्यः। तथा च विदुरः—

एकं विषरेसो ? हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं धर्मविप्लवः ॥ १ ॥

अथापरीक्ष्य मंत्रयमाणस्य यद्भवति तदाह—

दिवा नक्तं वापरीक्ष्य मंत्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मंत्रम् ॥ २९ ॥

टीका—मंत्रभेदभयात् दिवा नक्तं वा परीक्ष्य पार्श्वान् मंत्रं कुर्यात् यत् अभिमतः प्रच्छन्नः स्थित आत्मीयः शृणोति ततो मंत्रं भिनत्त्यात्मीयोऽपि। तथा च वृत्तान्तः—

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचिरप्रशिखेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यैः पादैः श्लोकं चकारेति।

टीका—एतद्वररुचिवृत्तान्तवदनं गुरुतरं बृहत्कायां ज्ञेयं, अप्रशिखेति पुनश्चतुर्भिरक्षरैराद्यैर्यः कृतः श्लोकः स लिख्यते—

> अनेन तव पुत्रस्य प्रविष्टस्य वनान्तरे ।
> शिखामाकृष्यपादेन खड्गेनोपहृतं शिरः ॥ १ ॥

अथ यैः सह मंत्रो न कार्यस्तानाह—

न तैः सह मंत्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥ ३१ ॥

टीका—येषां पक्षीयेषु बान्धवादिषु अपकुर्यात् वधबन्धादिकं कुर्यात् तैः सह मंत्रं न कारयेत् यतस्ते मंत्रभेदं चक्रुः । तथा च शुक्रः—

> येषां वधादिकं कुर्यात्पार्थिवश्च विरोधिनां ।
> तेषां सम्बन्धिभिः सार्द्धं मंत्रः कार्यो न कर्हिचित् ॥१॥

अथ मंत्रकाले राज्ञां समीपे येन स्थातव्यं तमाह—

अनायुक्तो मंत्रकाले न तिष्ठेत् ॥ ३२ ॥

टीका—अनायुक्तोऽप्रोक्तो भूभुजा, मंत्रकाले न तिष्ठेत् । यतो यद्यपीष्टः स्यात्तथाप्यनेनापि द्वारेण मंत्रभेदो भवतीति सशंकः स्यात् । तथा च शुक्रः—

> यो राज्ञो मंत्रवेलायामनाहूतः प्रगच्छति ।
> अतिप्रसादयुक्तोऽपि विप्रियत्वं व्रजेद्धि सः ॥ १ ॥

तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मंत्रभेदः ३३

टीका—गतार्थमेतत् । एषा कथा बृहत्कायां कथिता ज्ञातव्येति ।

अथ मंत्रभेदाद्याद्दग्व्यसनं जायते तदाह—

मंत्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्यात् ॥ ३४ ॥

---

१ प्रसुप्तस्येत्यपि पाठान्तरं । २ आकृष्येति पाठान्तरम् । ३ खड्गेन निहतं इत्यपि पाठान्तरम् ।

टीका—यन्मंत्रभेदाद्यादृग्व्यसनं जायते तद्दुष्प्रतिविधेयं दुःखेन तस्य प्रतिविधानं नाशः क्रियते [अ] प्रतिविधानं तस्य व्यसनस्य कष्टेनापि न याति तस्मान्मंत्रभेदो रक्षितव्यः । तथा च गर्गः—

मंत्रभेदाच्च भूपस्य व्यसनं संप्रजायते ।
तत्कृच्छ्रान्नाशमभ्येति कृच्छ्रेणाप्यथवा न वा ॥ १ ॥

अथ मंत्रभेदस्य यानि कारणानि भवन्ति तान्याह—

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥ ३६ ॥

कोपप्रसादजनिता शारीरी विकृतिराकारः ॥ ३७ ॥

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥ ३८ ॥

प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥ ३९ ॥

अन्यथा चिकीर्षतोन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥ ४० ॥

निद्रान्तरितः ॥ ४१ ॥

टीका—एतानि पंच मंत्रभेदस्य निमित्तान्युच्यन्ते । प्रथममिंगितं तावत्, मंत्रे मंत्रिते इंगितं चेष्टितं यद्भवति राज्ञस्तेन गुप्तचरा मंत्रमर्ध्यं जानन्तीति । तथाऽऽकारः शरीरस्य रौद्रत्वेन सौम्यत्वेन वा, तेन मंत्रमर्ध्यं जानन्तीति । तथा मदेन, यतो मदेन पीतेन हृदयस्थमुद्गिरति । तथा प्रमादेन क्षतेन, (गोत्रस्खलनेन) यन्मंत्रमन्यः शृणोति । तथा निद्रायमाणो निद्रान्तरितः पुमान् हृदयस्थमुद्गिरति । तथा च वशिष्ठः—

मंत्रयित्वा महीपेन कर्तव्यं शुभचेष्टितम् ।
आकारश्च शुभः कार्यस्त्याज्या निद्रामदालसाः ॥ १ ॥

---

१ त्रुटितरूपेणावभाति ।

आचार्येणेंगितादीनां विशेषेण "इङ्गितमन्यथावृत्तिः" इत्यादिभिः सूत्रैर्लक्षणं प्रोक्तं तद्गतार्थत्वान्नोच्यते।

अथ मंत्रे मंत्रिते नृपेण यत्कर्तव्यं तदाह—

उद्धृतमंत्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥ ४२ ॥

टीका—यदोद्धृतः कृतो मंत्रस्तदर्थे न दीर्घसूत्रः स्यात् न विलम्बः कार्यस्तत्क्षणादेवानुष्ठीयत इति। तथा च शुक्रः—

यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
तत्क्षणात्तस्य मंत्रस्य जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ मंत्रे कृते तत्क्षणान्नानुष्ठिते यद्भवति तदाह—

अननुष्ठाने छात्रवत्किं मंत्रेण ॥ ४३ ॥

टीका—यथा छात्रः शिष्य उपाध्यायसकाशान्मंत्रं गृहीत्वा तदर्हमनुष्ठानं जपादिकं न करोति किं तस्यापि तेन मंत्रेण व्यर्थेनेति। तथा च शुक्रः—

यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च।
स तस्य व्यर्थतां याति छात्रस्येव प्रमादिनः ॥ १ ॥

अथ मंत्रस्याननुष्ठितस्य दृष्टान्तमाह—

न ह्यौषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥ ४४ ॥

टीका—न मंत्रेण मंत्रितेनानुष्ठानरहितेन कार्यसिद्धिर्भवति यथा व्याधिग्रस्तस्य भेषजपरिज्ञानेन केवलेन न सिद्धिर्भवति भक्षणं विना तथा मंत्रेणाप्यनुष्ठानवर्जितेन। तथा च नारदः—

विज्ञाते भेषजे यद्वत् विना भक्षं न नश्यति।
व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ॥ १ ॥

अन्यो द्वितीयः प्राणिनां यः शत्रुस्तमाह—

नास्त्यविवेकात्परः प्राणिनां शत्रुः ॥ ४५ ॥

टीका—अविवेकादव्यवहाराद् द्वितीयो मनुष्याणां शत्रुर्नास्ति स एव यतः शत्रुवधबन्धाद्यं करोति। तथा च गुरुः—

अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः।
यश्चानुष्ठानमात्रोऽपि करोति वधबन्धनम्॥ १॥

अथात्मसाध्यमन्यसकाशात्साधयितुर्यद्भवति तदाह—

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति॥ ४६॥

टीका—यो मूर्ख आत्मसाध्यं प्रयोजनं अन्यस्य पार्श्वात् कारयेत्। स किं करोति? भेषजमूल्येन व्याधिचिकित्सां करोति वैद्यकं? औषधस्य यत्किंचिन्मूल्यं भवति तेनान्यद्गृहीत्वा भक्षयति। समर्थे? यदि तेन तस्य व्याधिक्षयो भवति तदन्यस्यापि पार्श्वात्कारिते प्रयोजने सिद्धिर्भवति तस्मादात्मसाध्यमात्मनैव क्रियते नान्यस्य पार्श्वात्कारापणीयमिति। तथा च भृगुः—

आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपार्श्वात्सुमन्दधीः।
कारापयति स व्याधिं नयेद्भेषजमूल्यतः॥ १॥

अथ भृत्यस्वामिनोर्यद्भवति तदाह—

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी॥ ४७॥

टीका—यो यस्मिन् स्वामिनि भृत्यः प्रतिबद्धः स्वामिनोभ्युदयेन तस्याभ्युदयः, व्ययेन नाशो विनाश इति। तथा च भागुरिः—

सरस्तोमसमो राजा भृत्यः पद्माकरोपमः।
तद्वृद्ध्या वृद्धिमत्येति तद्विनाशे विनश्यति॥ १॥

अथ स्वाम्याश्रितस्य यद्भवति तदाह—

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते॥ ४८॥

टीका—स्वामिपरिकरितः कापुरुषोऽपि भृत्यो वीरायते। तथा च रैभ्यः—

स्वामिनाधिष्ठितो भृत्यः परस्मादपि कातरः।
श्वापि सिंहायते यद्वन्निजं स्वामिनमाश्रितः ॥ १ ॥

तथा मंत्रकाले मंत्रिभिर्यत्कर्तव्यं तदाह—

मंत्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्तव्यः ॥ ४९ ॥

टीका—मंत्रकाले मंत्रिभिर्विगृह्य विवादो विरोधविवादो न कार्यः। तथा स्वैरालापश्च शूंरी ? न कार्यः। तथा च गुरुः—

विरोधवाक्यहास्यानि मंत्रकाल उपस्थिते।
ये कुर्युर्मंत्रिणस्तेषां मंत्रकार्यं न सिद्ध्यति ॥ १ ॥

अथ मंत्रस्य स्वरूपमाह—

अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मंत्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मंत्रफलम्[1] ॥ ५० ॥

टीका—अविरुद्धैरस्वैरैर्यो मंत्रः क्रियते स लघूपायेन स्तोकक्लेशेन महतोऽपि कृत्यस्य सिद्धिं जनयति सदैव मंत्रः। तथा च नारदः—

सावधानाश्च ये मंत्रं चक्रुरेकान्तमाश्रिताः।
साधयन्ति नरेन्द्रस्य कृत्यं क्लेशविवर्जितम् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि मंत्रमाहात्म्यमाह—

न खलु तथाहस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥ ५१ ॥

टीका—ग्रावा पाषाणस्तथा हस्तेन नोत्थाप्यते स्थानाच्चाल्यते, दारुणा काष्ठेन यथा। मंत्रेणेति[2]। तथा च हारीतः—

यत्कार्यं साधयेद्राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः।
मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत् ॥ १ ॥

अथ मंत्रिरूपशत्रुस्वरूपमाह—

---

१ लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मंत्रफलं इति मुद्रितपुस्तके सूत्रम्।
२ एवं महदपि कार्यं मंत्रेणाल्पायासेन सिद्ध्यति न पुनरन्यथेति भावः।

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाकार्यमपि कार्यरूपतयानुशास्ति ॥ ५२ ॥

टीका—स मंत्री न भवति स शत्रुः सचिवरूपेण। यः किं कुर्यात्? यो नृपेच्छया स्वच्छंदेनाकार्यमप्यकृत्यमपि कार्यतया कृत्यवृत्या अनुशास्ति तत्तस्य कथयति। तथा च भागुरिः—

अकृत्यं (कृत्य) रूपं च सत्यं चाकृत्यसंश्रितां।
निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधृक् ॥ १ ॥

अथ भूपस्य कृत्याकृत्यनिवेदने यथा मंत्रिणा भाव्यं तदाह—

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ॥५३॥

टीका—मंत्रिणा नृपस्य वरं कठोरवचनैर्दुःखमुत्पादितं यत्परिणामे सुखावहं न पुनः कर्णाल्हादकरं परिणामविनाशकारि वक्तव्यं। तथा च नारदः—

वरं पीडाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं।
मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ॥ १ ॥

अथ बलात्कारेणापि नृपस्य यत्क्रियते तदाह दृष्टान्तद्वारेण—

पीयूषमपिबतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं ॥ ५४ ॥

टीका—पीयूषं स्तनदुग्धं यो न पिबति तस्य किं जननी न कुरुते कपोलहननं तद्धिताय। एवं मंत्रिणापि नृपतिहिताय कठोरमपि वाच्यम्। तथा च गर्गः—

जननी बालकं यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत्।
एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा पथि ॥ १ ॥

अथ मंत्रिभिर्यत्कृत्यं तदाह—

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित्सह संसर्गं कुर्युः॥५५॥

टीका—न कस्यचित्तैर्मिलनीयं। तथा च शुक्रः—

मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः ।
ततोन्येन न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये ॥ १ ॥

तथा राज्ञां मंत्रिणा सह यद्भवति तदाह—

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥ ५६ ॥

टीका—यो राज्ञोऽनुग्रहः समृद्धिभावः स मंत्रिणामप्यनुग्रहः समृद्धिलक्षणः । यश्च पुंसा राज्ञो विग्रहो व्यसनं तन्मंत्रिणामपि । तथा च हारीतः—

राज्ञः पुष्टया भवेत्पुष्टिः सचिवानां महत्तरा ।
व्यसनं व्यसनेनापि तेन तस्य हिताश्च ये ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणां नृपकार्योद्यतानां यत्कार्यं न सिद्धयति तदर्थमाह—

स दैवस्यापराधो न मंत्रिणां यत्सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥ ५७ ॥

टीका—पूर्वोक्तसूत्रार्थेन मंत्रिणः सदैव नृपकृत्ये सावधाना भवन्ति यत्सावधानानामपि तेषां न सिद्धयति स दैवस्य प्राक्तनकर्मणो दोषः, न तेषां, ते पुनः सावधाना नृपकृत्येषु । तथा च भार्गवः—

मंत्रिणां सावधानानां यत्कार्यं न प्रसिद्धयति ।
तत्स दैवस्य दोषः स्यान्न तेषां सुहितैषिणाम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वरूपमाह—

स खलु नो राजा यो मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ॥ ५८ ॥

टीका—यो राजा मंत्रिभिरुक्तानि वचनानि न करोति तान्यतिक्रामति स खलु निश्चयेन राजा न भवति नश्यतीत्यर्थः । तथा च भारद्वाजः—

यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणां ।
न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपि च ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि मंत्र माहात्म्यमाह—

सुविवेचितान्मंत्राद्भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रहः स्यात् ॥ ५९ ॥

टीका—यदि स्वामिनो नृपस्य न दुराग्रहो दुष्ट एकग्रहः स्यात् । तत्सुविवेचितात्सुष्ठु पर्यालोचितान्मंत्रात्कार्यसिद्धिर्भवत्येव नियमेन । तथा च ऋषिपुत्रकः—

सुमंत्रितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवति शाश्वती ।
यदि स्यान्नान्यथाभावो मंत्रिणा सह पार्थिवः ॥ १ ॥

अथ नृपस्य विक्रमरहितस्य यद्भवति तदाह—

अविक्रमतो राज्यं वणिक्खड्गयष्टिरिव ॥ ६० ॥

टीका—यथा श्रेष्ठिनः खड्गयष्टिः वृथा इत्यर्थः तथा राज्यमपि व्यर्थं विक्रमपरैरभिभूयत एवेति । तथा च भारद्वाजः—

परेषां जायते साध्यो यो राजा विक्रमच्युतः ।
न तेन सिध्यते किंचिदसिना श्रेष्ठिनो यथा ॥ १ ॥

अथ नीतिरनुष्ठिता यत्करोति तदाह—

नितिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ॥ ६१ ॥

टीका—नीतिर्नयो यथावस्थितं [तौ] यदुक्तं तत्सर्वमुपलम्भयति प्रयच्छति न सन्देहस्तस्मान्नीतिः कार्या । तथा च गर्गः—

मातापि विकृतिं याति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता ।
अनीतिर्भक्षयेन्मर्त्यं किंपाकमिव भक्षितम् ॥ १ ॥

अथ हिताहितप्राप्तिर्यथा भवति तदाह—

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ॥ ६२ ॥

टीका—हितपदार्थस्य प्राप्तिरनुष्ठानं, अहितस्य परिहारस्त्यागो द्वावप्येतौ पुरुषकारायत्तौ पुरुषकार आत्मशक्तिः । दुर्लभमपि हितं यद्वस्तु तत्पुरुषकारः साधयति । बहुलाभमप्यहितमात्मा शक्तीन्द्रियाणि जित्वा परिहरतीति । तथा च बादरायणः—

हितं चाप्यथवानिष्टं दुर्लभं सुलभं च वा ।
आत्मशक्त्याप्नुयान्मर्त्यो हितं चैव सुखावहं ॥ १ ॥

अथ राज्ञो यत्कृत्यं तदाह—

अकालसहं कार्यमद्यश्वीनं न कुर्यात् ॥ ६३ ॥

टीका—अकालसहं कालक्षेपं न सहते यत्कार्यं तदद्यश्वीनं कालातिक्रमेण न कार्यं । तथा च चारायणः—

यस्य तस्य हि कार्यस्य सफलस्य विशेषतः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य[1] कालः पिबति तत्फलम् ॥ १ ॥

अथ कार्यस्य कालातिक्रमेण यो दोषस्तमाह—

कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यं ॥६४॥

टीका—कालातिक्रमेण यत्कार्यं क्रियते तन्नखच्छेद्यमपि कुठारच्छेद्यं स्यात् । एतदुक्तं भवति, स्वल्पायासेन साध्यमपि महता कृच्छ्रेण प्रसिद्ध्यति । तथा च शुक्रः—

तत्क्षणान्नात्र यत्कुर्यात् किंचित्कार्यमुपस्थितम् ।
स्वल्पायासेन साध्यं चेत्तत्कृच्छ्रेण प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

अथ विज्ञः पुरुषो यत्कुर्यात्तदाह—

को नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥ ६५ ॥

टीका—नामेति कोमलामंत्रणे । अहो सचेतनः सन् जानन् सन् सुखेन कार्यं सिद्ध्यति तत्कृच्छ्रसाध्यं करोति असाध्यं वा यन्न कदाचित्सिद्ध्यतीति । तथा च गुरुः—

सुखसाध्यं च यत्कार्यं कृच्छ्रसाध्यं न कारयेत् ।
असाध्यं वा मतिर्यस्य भवेत्किं ? निरर्गला ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणमुद्दिश्याह—

---

1 क्रियमाणस्य

एको मंत्री न कर्तव्यः ॥ ६६ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथैकस्य मंत्रिणो दूषणमाह—

एको हि मंत्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु।६७।

टीका—हि यस्मादेको हि मंत्री निरवग्रहः स्वेच्छया चरति न शंकां करोति तथा कार्येषु कृच्छ्रेषु प्रयोजनं ? सन्देहेषु मुह्यति कर्तव्यं न जानातीत्यर्थः । तथा च नारदः—

एको मंत्री कृतो राज्ञा स्वेच्छया परिवर्तते ।
न करोति भयं राज्ञः कृत्येषु परिमुह्यति ॥ १ ॥

टीका—अथ मंत्रियुगलस्य यत्कृत्यं तदाह—

द्वावपि मंत्रिणौ न कार्यौ ॥ ६८ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ मंत्रियुगलस्य दूषणमाह—

द्वौ मंत्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः ॥ ६९ ॥

टीका—द्वौ मंत्रिणौ संहतौ मिलितौ राज्यं विनाशयतस्तस्मान्न कार्यौ । तथा च नारदः—

मंत्रिणां द्वितयं चेत्स्यात् कथंचित्पृथिवीपतेः ।
अन्योऽन्यं मंत्रयित्वा तु कुरुते विभवक्षयं ॥ १ ॥

अथ मंत्रियुगलस्य यदि निग्रहं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

निगृहीतौ तौ तं विनाशयतः ॥ ७० ॥

टीका—तौ मंत्रिणौ निगृहीतौ निगृह्यमाणौ विनाशयतो राज्यविनाशं कुरुतः । यतो नृपपरिग्रहः सचिवायत्तो भवति । तथा च गुरुः—

भूपतेः सेवका ये स्युस्तेस्युः सचिवसम्मताः ।
तैस्तैः सहायतां नीतैर्हन्युस्तं [illegible] ? ॥ १ ॥

अथ यत्प्रमाणा मंत्रिणः कार्यास्तत्प्रमाणमाह—

त्रयः पंच सप्त वा मंत्रिणस्तैः कार्याः ॥ ७१ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ सस्पर्धमंत्रिमेलापके एकमतं यादृग्भवति तदाह—

विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यम् ॥ ७२ ॥

टीका—विषमपुरुषाः सस्पर्द्धा मंत्रिणस्तेषां समूहे मेलापके ऐकमत्यं एकमतं दुर्लभं भवतीति । तस्मात् सस्पर्द्धा मंत्रिणो न कार्याः ।

तथा च राजपुत्रः—

मिथः संस्पर्धमानानां नैकं संजायते मतं ।
स्पर्धाहीना ततः कार्या मंत्रिणः पृथिवीभुजा ॥ १ ॥

अथ बहुभिर्मंत्रिभिर्यद्भवति तदाह—

बहवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति ॥ ७३ ॥

टीका—बहवो मंत्रिणः कृताः स्वमतीरुत्कर्षयन्ति प्रमाणतां नयन्ति । किंविशिष्टाः सन्तः ? परस्परं सस्पर्धाः । तथा च रैभ्यः—

बहूंश्च मंत्रिणो राजा सस्पर्द्धान् करोति यः ।
घ्नन्ति ते नृपकार्यं यत्स्वमंत्रस्य कृता वराः ॥ १ ॥

अथ स्वच्छंदा मंत्रिणो यादृक्षा भवन्ति तानुद्दिश्याह—

स्वच्छन्दाश्च न विजृम्भते ॥ ७४ ॥

टीका—यदा पुनस्ते मंत्रिणः स्वच्छन्दा भवन्ति न राजवश्या भवन्ति तदा न विजृम्भते मिथो मंत्रं न मन्यन्ते मंत्रस्य दूषणं स्वाहंकारेण कुर्वन्ति स्वस्वामिनः क्षतिः (तिं च) । तथा चात्रिः—

स्वच्छन्दा मंत्रिणो नूनं न कुर्वन्ति यथोचितं ।
मंत्रं मंत्रयमाणाश्च भूपस्याहिताः स्मृताः ॥ १ ॥ ?

अथ राज्ञा यादृक्कार्यमनुष्ठेयं तदाह—

यद्बहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥ ७५ ॥

टीका—किं बहुना राज्ञा यद्बहुगुणं कृत्यं भवति तत्कार्यं। पुनरपि किंविशिष्टं ? अनपायबहुलं अपायो विनाशः न अपायबहुलं अनपायबहुलं बहुक्षमयुक्तमित्यर्थः । तथा च जैमिनिः—

यद्यच्छ्रेष्ठतरं कृत्यं तत्तत्कार्यं महीभुजा ।
नोपघातो भवेद्यत्र राज्यं विपुलमिच्छता ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यत्कृत्यं तदाह—

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥ ७६ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ यादृक् मंत्रिणो दोषो न स्यात् तमाह—

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मंत्रिणि न कोऽपि दोषः ॥ ७७ ॥

टीका—यद्यपि प्रागेको मंत्री निषिद्धो द्वावपि निषिद्धौ तथापि यद्येकस्मिन् युगले वा यथोक्तगुणसमवायिनि, कोर्थः ? युक्ते तत्र कोऽपि दोषः कार्य इति ।

अथ बहूनां मंत्रिणां मूर्खाणां निषेधे दृष्टान्तमाह—

न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥ ७८ ॥

टीका—हि यस्मात्कारणात् महानपि प्रौढोऽपि अन्धसमुदायो मेलापको न रूपमुपलभेत जानातीति ।

अथ मंत्रियुगलस्य दोषपरिहारार्थं दृष्टान्तमाह—

अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किन्न महति भारे नियुज्यते ॥ ७९ ॥

टीका—अवार्यं असंख्यं वीर्यं बलं ययोस्तौ अवार्यवीर्यौ तौ द्वावपि किन्न नियुज्यते । कस्मिन् ? महति भारे । एवं मंत्रिणौ द्वावपि यथोक्तगुणसमवायिनौ—द्वावपि मंत्रयोग्यावित्यर्थः ।

अथ बहुसहाये राज्ञि यद्भवति तदाह—

बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्वे एव मनोरथाः ॥ ८० ॥

टीका—यो बहुसहायो राजा भवति तस्य सर्वे मनोरथा हृदयस्थिता अभीष्टाः पदार्थाः प्रसीदन्ति सिद्धिं यान्ति । तथा च वर्गः—

मदहीनो यथा नागो दंष्ट्राहीनो यथोरगः ।
असहायस्तथा राजा तत्कार्या बहवश्च ते ॥ १ ॥

यथैकस्य मंत्रिणो यद्भवति तदाह—

एको हि पुरुषो केषु नाम कार्येष्वत्मानं विभजते ॥ ८१ ॥

टीका—हि यस्मात्कारणादेको नामाहो केषु कार्येषु आत्मानं विभजते आत्मानं नियोजयति यतो भूपतीनां बहूनि कार्याणि भवन्ति तस्माद्राज्ञा बहवो मंत्रिणः कार्याः । तथा च जैमिनिः—

एवं यः कुरुते राजा मंत्रिणं मन्दबुद्धिमात् ।
तस्य भूरीणि कार्याणि सीदन्ति च तदाश्रयात् ॥ १ ॥

अथैकमंत्रिणो निषेधार्थं दृष्टान्तमाह—

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवति च्छाया ॥८२॥

टीका—महावृक्षोऽपि यद्येकशाखो भवति तत् किं तस्य च्छाया महती भवति, अपि तु न भवतीत्यर्थः । एवं मंत्रिणाप्येकेन कार्यं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । तथा चात्रिः—

यथैकशाखवृक्षस्य नैव च्छाया प्रजायते ।
तथैकमंत्रिणा राज्ञः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ॥ १ ॥

अथ कार्ये समुत्पन्ने सहायसमुदायो यादृग्भवति तदाह—

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ॥ ८३ ॥

टीका—कार्यकाले आपल्लक्षणे दुर्लभः पुरुषसमुदायस्तस्मात्पूर्वमेव सहायाः कर्तव्याः । उक्तं च—

---

१ एकमिति पाठन भाव्यं ।

अग्रे अग्रे प्रकर्तव्याः सहायाः सुविवेकिभिः ।
आपन्नाशाय ते यस्माद्दुर्लभा व्यसने स्थिते ॥ १ ॥

अथानागतैर्न कृतैः सहायैर्यद्भवति तदाह—

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ॥ ८४ ॥

टीका—यदा गृहं प्रदीप्तं भवति तदा तोयार्थं कूपखननं न युक्तं किं तत्काले कूपो भवति । एवं यः सहायान् पूर्वं न करोति तस्यापत्काले न भवन्ति तस्मात्सहायाः पूर्वमेव कार्याः । तथा च चाणिक्यः—

विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत् ।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ॥ १ ॥

अथ पुरुषधनाभ्यां विशेषमाह—

न धनं पुरुषसंग्रहाद्बहु मन्तव्यं ॥ ८५ ॥

टीका—न बहु मन्तव्यं नोत्कृष्टं ज्ञेयं । किं तत् ? धनं । कस्मात् ? पुरुषसंग्रहसकाशात् । तस्माद्धनार्थिभिः पुरुषसंग्रहो भूपैः कार्यः । तथा च शुक्रः—

न बाह्यं पुरुषेन्द्राणां धनं भूपस्य जायते ।
तस्माद्धनार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ॥ १ ॥

अथ सत्पुरुषे दत्ते धने यद्भवति तदाह—

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेषूप्तं कार्यं शतशः फलति ॥ ८६ ॥

टीका—अनेकधा फलं प्रयच्छति । किं तत् ? कार्यं प्रयोजनं । किंविशिष्टं ? उप्तं क्षिप्तं । केषु ? सत्पुरुषेषु । किमिव ? बीजमिव । किंविशिष्टं ? उप्तं । क्व ? सत्क्षेत्रे उत्तमभूभागे यथा संख्यया हीनमन्नं भवति कार्यं प्रयोजनं धनलक्षणं तथा फलति । तथा च जैमिनिः—

सन्नरे योजितं कार्यं धनं च शतधा भवेत् ।
सुक्षेत्रे वापितं यद्वत्सस्यं तद्वदसंशयम् ॥ १ ॥

अथ कार्यपुरुषा यादृशा भवन्ति तानाह—

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ॥ ८७ ॥

टीका—ये बुद्धौ बुद्धिं प्रयच्छन्ति, तथाऽर्थेऽर्थं कृत्ये जाते धनं प्रयच्छन्ति, तथा युद्धे शत्रुभिः संजाते सहायत्वं कुर्वन्ति ते कार्यपुरुषा उच्यन्ते । तथा च शौनकः—

मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छ्रे तथा धनं ।
वैरिसंघे सहायत्वं ते कार्यपुरुषा मताः ॥ १ ॥

अथ यस्मिन् काले यः सहायो भवति तदर्थमाह—

खादनवारायां को नाम न सहायः ॥ ८८ ॥

टीका—खादनवारायां भोजनसमये को नाम अहो न सहायः । यदा सम्पद्भवति तदा सर्वोऽपि जनः सहायः स्यात् । तथा च वर्गः—

यदा स्यान्मंदिरे लक्ष्मीस्तदान्योऽपि सुहृद्भवेत् ।
वित्तक्षये तथा बन्धुस्तत्क्षणाद्दुर्जनायते ॥ १ ॥

अथ यादृक् पुरुषस्य नाधिकारो भवति तमाह—

श्राद्ध[1] इवाश्रोत्रियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥८९ ॥

टीका—(मंत्रे[2] मूर्खस्य मंत्रिणो नाधिकारोऽस्ति । किमिव ?) श्राद्धे अश्रोत्रियस्येव । एतदुक्तं भवति, यथा ब्रह्मानुष्ठानवर्जितस्य ब्राह्मणस्य श्राद्धकर्मणि अनर्हत्वं तथा मंत्रे मूर्खो मंत्री महीभृतां ।

अथ मूर्खमंत्रिणो दोषमाह—

किं नामान्धः पश्येत् ॥ ९० ॥

टीका—नामाहो जनः किमन्धश्चक्षुर्विकलः पश्येत् निरीक्ष्यते, अपि तु न किंचित् । एतदुक्तं भवति, अन्धेन सदृशो मूर्खो भवति तद्यदि घटपटादीनन्धः पश्यति तन्मूर्खो मंत्री मंत्रं । तथा च शौनकः—

---

१ इदं सूत्रं पुस्तकेऽपूर्णं तत्तु मुद्रितपुस्तकात् पूर्णीकृत्य संयोजितं । २ कंसस्थः पाठः पुस्तके न विद्यते परं कल्पितोऽस्ति ।

यद्यन्धो वीक्ष्यते किंचिद् घटं वा पटमेव च।
तदा मूर्खोपि यो मंत्री मंत्रं पश्येत्स भूभृताम् ॥ १ ॥

अथ मूर्खनृपतेर्मूर्खमंत्रिणो यद्भवति तदाह—

किमन्धेनाकृष्यमाणोन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥ ९१ ॥

टीका—किं प्रतिपद्यते किं पश्यति। कं ? पन्थानं मार्गं। किंविशिष्टं ? समं गर्तपाषाणादिरहितं। कोसावन्धः। किंविशिष्टः ? आकृष्यमाणो नीयमानः। केन ? अन्धेन। यदि मूर्खो राजा मूर्खेण मंत्रिणा सह मंत्रं करोति तत्किं मंत्रसाध्यानि प्रयोजनानि जानातीत्यर्थः। तथा च शुक्रः—

अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षकः।
भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्रं चेत्यज्ञमांत्रिणः ॥ १ ॥

अथ मूर्खमंत्रिणः सकाशात् कार्यसिद्धिर्यादृक् भवति तदाह—

तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमंत्रात्कार्यसिद्धिः ॥ ९२ ॥

टीका—मूर्खमंत्राद्यदि तावत्कार्यसिद्धिर्भवति न यदि कथंचित्पुनर्भवति तदन्धवर्तकीयं, कोऽर्थः ? वर्तकाशब्देन चटिकाभिधीयते, सा अन्धस्य शिरसि चटति तां सोऽपि भुजाभ्यां गृह्णाति किमेतन्मम शिरसि पतितामिति मत्वा यथा तस्य तस्या ग्रहणमन्धस्यापि तथाचक्षुष्मतः, तथा मूर्खमंत्रस्यापि दैवयोगात्कार्यसिद्धिः। अथवा काकतालीयं यन्मूर्खमंत्रात्कार्यसिद्धिः। कोऽर्थः ? तालवृक्षस्य तावद्वर्षशतेन फलं भवति काकश्च सर्वेषां पक्षिणां सकाशादतीवाविश्वासी भवति स तस्याधो गच्छन् तत्फलेन पतता यदि हन्यते तन्मूर्खमंत्रात्सिद्धिरिति। तथा च गुरुः—

अन्धवर्तयमेवैतत् काकतालीयमेव च।
यन्मूर्खमंत्रतः सिद्धिः कथंचिदपि जायते ॥ १ ॥

अथ मूर्खमंत्रिणोऽपि यन्मंत्रपरिज्ञानं तत्स्वरूपमाह—

स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम् ॥ ९३ ॥

टीका—घुणः कृमिविशेषः स शनैः काष्ठं भक्षयति तेन तस्य भक्ष्यमाणस्य विचित्रा रेखा भवन्ति तासां मध्यात्काचिद्रेखाऽक्षराकारा भवति। एवं मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानं घुणाक्षरन्यायवत् कदाचित्सिद्धिं याति । तथा च गुरुः—

यन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्रसम्भवम् ।
स हि घुणाक्षर न्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितं ॥ १ ॥

अथ शास्त्ररहितस्य मनसो यद्भवति तदाह—

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत्पश्येत् ॥ ९४ ॥

टीका—अशास्त्रं यन्मनो भवति जडात्मकं तन्मनः कियत्पश्यति न किंचिदपि मंत्रविषये । किमिव ? लोचनमिव नेत्रमिव । किंविशिष्टं ? आलोकरहितं ज्योतीरहितं घटपटाद्यं यथा न पश्यति तस्माच्छास्त्रमंत्रिणः कार्याः । तथा च गर्गः—

आलोकरहितं नेत्रं यथा किंचिन्न पश्यति ।
तथा शास्त्रविहीनं यन्मनो मंत्रं न पश्यति ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणामन्येषां वा यः सम्पदं जनयति तथाह—

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनरभिजात्यं पांडित्यं वा ॥ ९५ ॥

टीका—मंत्रिणामन्येषां स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति नाभिजात्यं कुलीनतां न पांडित्यं बहुश्रुतत्वं । एतदुक्तं भवति यस्य राजप्रसादः तस्य सर्वोऽपि जनः पूजां करोति येनेषे ? राज्ञे विज्ञप्तिकाविषयं साहाय्यं करोति । न कुलीनस्य पांडित्यस्य वा कश्चित्पूजां करोति । तथा च शुक्रः—

कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहवो जनाः ।
मूर्खाः कुलविहीनाश्च धनाढ्या राजवल्लभाः ॥ १ ॥

अथ मूर्खमंत्रिणः स्वरूपमाह—

हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूटः काल एव ॥ ९६ ॥

टीका—यद्यपि महेश्वरस्य कण्ठे श्वेततरे लग्नस्तथापि कालकूटः विषसंज्ञः काल एव कृत(ष्ण)त्वात् पुनः शुक्लत्वं न जनयति। एवं यद्यपि मूर्खो मंत्री भूपेन गुरुस्थानं निरूपितस्तथापि मूर्ख एव विद्वान्न भवति तस्मान्मूर्खो मंत्री न कार्यः । तथा च सुन्दरसेनः—

स्वभावेनोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।
सुतप्तान्यपि तोयानि पुनर्गच्छन्ति शीततां ॥ १ ॥

अथ मुर्खमंत्रिषु राज्यभारेणार्पितेन यद्भवति तदाह—

स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम् ॥९७॥

टीका—यद्भूपेन मूर्खमंत्रिषु राज्यकारभारः समर्प्यते तत्कृत्योत्थापनं कृत्याशब्देनाथर्वणमंत्रैः पावके होमविधानेन कृतेन पुरुषो यो निष्क्रामति स कर्तुः शत्रुं व्यापादयति यदि वा शत्रुर्बलवान् भवति जपहोमदानैस्तदा सा येनोत्थापिता तमेव विनाशयति तद्यथा तस्याः कृत्यायाः स्ववधायात्मवधायोत्थापनं क्रियते तथा मूर्खमंत्रिषु राज्यभारावरोपणं । तथा च शुक्रः—

मूर्खमंत्रिषु यो भारं राज्ञोत्थं संप्रयच्छति ।?
आत्मनाशाय कृत्यां स उत्थापयति भूमिपः ॥ १ ॥

अथाकार्यवेदिनो भूपस्य यद्योग्यं तदाह—

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥ ९८ ॥

टीका—यो राजाकार्यवेदी स्यात् न कार्यं वेत्ति तस्य किं प्रभूतेनापि शास्त्रेण व्यर्थं तत् भस्मनि हुतमिव । तथा च रैभ्यः—

न कार्यं यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं।
बहुनापि वृद्धात्थेण ? यथा भस्महुतेन च ॥ १ ॥

अथ गुणहीनस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम् ॥ ९९ ॥

टीका—गुणशब्देन ज्याभिधीयते। यस्मिन् धनुषि ज्या न भवति तत्पिजनादपि व्यर्थं कष्टमिति एवं राजापि यः शारीरिकगुणैर्युक्तो न भवति स कापुरुषवत् कष्टो व्यर्थमित्यर्थः। तथा च जैमिनिः—

गुणहीनश्च यो राजा स व्यर्थश्चापयष्टिवत्।
यथा कापुरुष...........राभूमेः परं पदे ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणः स्वरूपमाह—

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थदर्शनसेवात्मगौरवहेतुः॥१००॥

टीका—मंत्रिणोऽमात्यस्य किं आत्मनो गुरुत्वे हेतुः कारणं यथार्थ-दर्शनं प्रयोजनविषये यथार्थदर्शनं कार्यसाधिका मंत्रिदृष्टिः तदा नृपपूज्यो भवति। कस्येव गौरवहेतुर्भवति ? लोचनस्येव यथा पुरुषो यथार्थदर्शनं पदार्थस्य। तथा च गुरुः—

सूक्ष्मालोकस्य नेत्रस्य यथा शंसा प्रजायते।
मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥ १ ॥

अथ यादृशो मंत्रिणः कार्यस्तानाह—

शस्त्राधिकारिणो न मंत्राधिकारिणः स्युः ॥ १०१ ॥

टीका—न स्युर्न भवेयुः, के ? एते शस्त्राधिकारिणः क्षत्रियाः। किं विशिष्टा न स्युः ? मंत्राधिकारिणो मंत्रस्थानिनो। तथा च जैमिनिः—

मंत्रस्थाने न कर्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा।
यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपश्यन्ति रणोद्भवम् ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियो येन कारणेन मंत्री न क्रियते तदाह—

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भंडनं ॥ १०२ ॥

टीका—यः क्षत्रियो भवति तस्य परिहरतोऽपि त्यजतोऽपि अवश्यं निश्चितं आयात्यागच्छति, किं तत् भंडनं कलहमिति । एतेन कारणेन क्षत्रिया मंत्रिणो न कार्याः । तथा च वर्गः—

म्रियमाणमपि प्रायः क्षात्रं तेजो विवर्धते ।
युद्धार्थं तेन संत्याज्यः क्षत्रियो मंत्रकर्मणि ॥ १ ॥

अथ शस्त्रोपजीविनां स्वरूपमाह—

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥ १०३ ॥

टीका—तस्मात्ते मंत्रिणो न कार्या एतत्तात्पर्यमिति । तथा च भागुरिः—

शस्त्रोपजीविनामन्नमुदरस्थं न जीर्यति ।
यावत्केनापि नो युद्धं साधुनापि समं भवेत् ॥ १ ॥

अथ पुरुषस्य ये पदार्था गर्वं जनयन्ति तानाह—

मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुत्सेकयति किं पुनर्न समुदायः ॥ १०४ ॥

टीका—मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रजीवनं एतेषां त्रयाणां एकोऽपि पदार्थः संजातः पुरुषं उत्सकयति सगर्वं करोति किं पुनः सर्वेषां समवायो मेलापको नोत्सेकयति । तथा च शुक्रः—

नृपप्रसादो मंत्रित्वं शस्त्रजीव्यं स्मयं क्रियात् ।
एकैकोऽपि नरस्यात्र किं पुनर्यत्र ते त्रयः ॥ १ ॥

अथाधिकारिणः स्वरूपमाह—

नालम्पटोधिकारी ॥ १०५ ॥

टीका—योऽलम्पटो भवति निःस्पृहः स्यात् सोऽधिकारं न करोति । तथा च वल्लभदेवः—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः ।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वंचकः ॥ १ ॥

अथ मंत्रिणि अर्थलुब्धे यद्राज्ञो भवति तदाह—

मंत्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥ १०६ ॥

टीका—मंत्रिणः सचिवस्य यस्यार्थग्रहणलालसा लम्पटा मतिर्भवति तदा तस्य यो राजा तस्य कार्यसिद्धिर्न भवति अर्थो न भवति । तथा च गुरुः—

यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः ।
तस्य कार्यं न सिध्येत भूमिपस्य कुतो धनं ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वित्तग्रहणलालसस्य मंत्रिणः स्वरूपं निरूपयन्नाह दृष्टान्तद्वारेण—

वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥ १०७ ॥

टीका—यदि कन्यावरणार्थं प्रेषितो दूतः स्वयमेव कन्यां परिणयति तदा परिणायितुर्येन प्रेषितस्तस्य तपश्चरणं शरणं स्थानं यतः कलत्रं विना तपः कार्यं । एवं यदि मंत्री ग्रहणलम्पटो भवति तत्पार्थिवस्यापि तपश्चरणं शरणं यतो वित्तग्राह्यं राज्यं न भवति वित्तं पुनर्मंत्रीद्वारेण स्यात् । तथा च शुक्रः—

निरुणद्धि सतां मार्गं स्वयमाश्रित्य शंकितः ।
इवाकारः सचिवो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥ १ ॥

पुनरपि मंत्रस्वरूपमन्यदृष्टान्तेनाह—

स्थाल्येव भक्तं चेत्स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥१०८॥

टीका—स्थालीशब्देन उषा ? उच्यते सापि भक्तमन्नं स्वयं अश्नाति भक्षयति तद्भोक्तुर्भोजनार्थिनः कुतो भुक्तिः भोजनं भवतीत्यर्थः । एवं यो

मंत्री राजद्रव्यलम्पटो भवति तस्य स्वामिनः कुतो राज्यकृत्यानि स्युः। तथा च विदुरः—

दुग्धमाक्रम्य चान्येन पीतं वत्सेन गां यदा।
तदा तक्रं कुतस्तस्याः स्वामिनस्तृप्तये भवेत्॥ १॥

अथ पुरुषाणां स्वरूपमाह—

तावत्सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा॥ १०९॥

टीका—सर्वोऽपि जनः तावच्छुचिर्निर्मलो निस्पृहो यावत्परवरनारीं नावलोकयति, तावच्च निस्पृहो यावत्परवित्तं न पश्यति। तथा च वर्गः—

तावच्छुचिरलोभः स्यात् यावन्नेक्षेत्परस्त्रियं।
वित्तं च दर्शनात्ताभ्या द्वितीयं तत्प्रणश्यति॥ १॥

अथादुष्टस्य दूषणेन कृतेन यद्भवति तदाह—

अदुष्टस्य दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव॥ ११०॥

टीका—दोषरहितस्य पुरुषस्य यन्मूर्खेण दूषणं दीयते। तत्किमिव? सुप्तव्यालप्रबोधनमिव सुप्तस्य सर्पस्य व्याघ्रस्य वा बोधनं बोधयितुः मरणाय भवति। तथा च गुरुः—

सुखसुप्तमहिं मूर्खो व्याघ्रं वा यः प्रबोधयेत्।
स साधोर्दूषणं दद्यान्निर्दोषस्यात्ममृत्यवे॥ १॥

अथ वैरं कृत्वा वैरिणा सह सन्धानं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः॥ १११॥

---

१ अस्मादग्रे "येन सह चित्तविनाशोऽभूत् स सन्निहितो न कर्तव्यः" इति सूत्रमुपलभतेऽन्यत्र।

टीका—क ईश्वरः कः समर्थो भवति । किं कर्तुं ? सन्धातुं । किं तत्? चेतः मनः सकृद्विघटितं । किमिव ? स्फटिकवलयमिव पाषाणकंकणमिव यथा पाषाणवलयस्य भग्नस्य सन्धिर्न भवति। तथा च जैमिनिः—

पाषाणघटितस्यात्र संधिर्भग्नस्य नो यथा ।
कंकणस्येव चित्तस्य तथा वै दूषितस्य च ॥ १ ॥

अथ चित्तविरागो महान् यथा भवति तदाह—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥ ११२ ॥

टीका—चित्तस्य मनसस्तथा महताप्युपकारेण दानादिनानुरागः स्नेहो न भवति यथा स्वल्पेनाप्यपकारेण विरुद्धेन कृतेन विरागः स्नेहनाशो भवति । विरुद्धं स्वल्पमपि कस्यापि (न) चा (च) रणीयं । तथा च वादरायणः—

न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैर्बहुः ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥ १ ॥

सूचीमुखसर्प इव नापकृत्य विरमन्त्यपराधाः ॥ ११३ ॥

टीका—न विरमन्ति न तिष्ठन्ति। के ? अपराधाः। किं कृत्वापकृत्य यावन्न वैरनिर्गमः कृतः । क इव ? सूचीमुखसर्प इव। सूचीमुखा दृष्टिविषाः । तथा च भृगुः—

यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु विकृतिं भजेत् ।
तथापराधिनः सर्वे न स्युर्विकृतिवर्जिताः ॥ १ ॥

अथातिवृद्धस्य कामस्य स्वरूपमाह—

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥ ११४ ॥

टीका—कामः कामदेवः शरीरेऽतिवृद्धिं गतः सन् तन्नास्त्यकृत्यं यन्न करोति—अपि तु सर्वं करोतीत्यर्थः ।

श्रूयते हि किल कामपरवशः प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनुकलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति ॥ ११५ ॥

टीका—एतत्कामचेष्टितं देवानां पुराणेषु श्रोतव्यमिति ।

अथ पुरुषाः साभिलाषा यथा भवन्ति तथाह—

अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः॥

टीका—अर्थेषु धनेषु साभिलाषाः सानन्दास्तरवोऽपि वृक्षा अपि भवन्ति येषामुपभोगो विलासो न भवति किं पुनर्मनुष्या ये विलासज्ञाः । कथं तरवोऽर्थेषु साभिलाषा भवन्ति, उक्तं च यतो वातशास्त्रे विश्वकर्मणा—

विल्वादर्थपलासाद्वा निधानं चेदधो भवेत् ।
अधोमुखाः प्ररोहाः स्युर्नाभ्यां गच्छन्ति तत्र यत् ॥ १ ॥

तथा च जैमिनिः—

अर्थं तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षा आत्मचेतसा ।
उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च ये ॥ १ ॥

तथा लोभस्वरूपमाह—

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥ ११७ ॥

टीका—कस्य न धनलाभसकाशाल्लोभो भवति, अपि तु सर्वस्यापि जनस्य भवतीत्यर्थः । तथा च वर्गः—

तावन्न जायते लोभो यावल्लाभो न विद्यते ।
मुनिर्यदि वनस्थोऽपि दानं गृह्णाति नान्यथा ॥ १ ॥

अथ जितेन्द्रियो यादृग्भवति तदाह—

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥ ११८ ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य परवित्ते दृष्टे परस्त्रीषु दृष्टासु निःस्पृहं चेतो भवति स मानवो न भवति प्रत्यक्षं दैवं देवतास्वरूपं। तथा च वर्गः—

परद्रव्ये कलत्रे च यस्य दृष्टे महात्मनः।
न मनो विकृतिं याति स देवो न च मानवः ॥ १ ॥

अथ राभसिकानां कार्यारम्भो यादृग्भवति तथाह—

समायव्ययः कार्यारंभो[2] राभसिकानाम् ॥ ११९ ॥

टीका—ये राभासिकाः पुरुषा भवन्ति आनन्देन कार्यं कुर्वन्ति। यदि कार्ये कृते आयव्ययौ समौ भवतः सोप्यानन्दस्तेषां। तथा च हारीतः—

आयव्ययौ समौ स्यातां यदि कार्यो विनश्यति।
ततस्तो[1]षेण कुर्वन्ति भूयोऽपि न त्यजन्ति तम् ॥ १ ॥

अथ महामूर्खाणां यथा कार्यारम्भो भवति तमाह—

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥ १२० ॥

टीका—ये महामूर्खा भवन्ति ते बहुक्लेशेनाल्पफलमपि कार्यारम्भं कुर्वन्ति न निर्वेदं यान्ति। तथा च वर्गः—

बहुक्लेशानि कृत्यानि स्वल्पभावानि च क्रतुः ?।
महामूर्खतमा येऽत्र न निर्वेदं व्रजन्ति च ॥ १ ॥

अथ कापुरुषाणां कार्यारम्भः प्रोच्यते—

दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणां ॥ १२१ ॥

टीका—ये कापुरुषा भवन्ति ते दोषभयात्कार्यारम्भं न कुर्वन्ति। एतेन कृतेन एष दोषो भविष्यति। अनेन कृतेन पुनरन्यतमो दोषो भविष्यति। एवं चिन्तयमानाः कापुरुषा निरुद्यमा भवन्ति सदा कापुरुषाः। तथा च वर्गः—

---

१ संतानुं पु.। २ कार्यो इति टीकापुस्तके नपुंसकलिंगोऽपि कार्यशब्दः पुल्लिंगत्वेनोक्तः। तथा हारीतवचनमपि एतादृगेव।

कार्यदोषान् विचिन्वन्तो नराः कापुरुषाः स्वयं ।
शुभं भाव्यान्यपि त्रस्ता न कृत्यानि प्रचक्रतुः ? ॥ १॥

अथ भूयोऽपि कापुरुषानुद्दिश्यान्योपदेशेन सूत्रद्वयमाह—

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते ॥ १२२ ॥

अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ॥ १२३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ कार्यारम्भमुद्दिश्य प्रोच्यते—

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति ॥ १२४ ॥

टीका—अपि भवन्तीति निश्चयः । तथा च भागुरिः—

यस्योद्यमो भवति तं समुपैति लक्ष्मी-
र्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १ ॥

अथ दुष्टाशयानां कार्यारम्भो यादृक् भवति तमाह—

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम्[1] ॥ १२५ ॥

टीका—ये व्यालहृदया भवन्ति व्यालौ श्वापदभुजंगौ । तौ स्वभावेन दुष्टौ भवतस्ताभ्यां सदृशं हृदयं यस्य सः । आत्मसन्देहेन कार्यारम्भो भवति । एवमुक्तं, सर्वे श्वापदा क्षुधार्ता भयं त्यक्त्वा सुरक्षितमपि पदार्थं भक्षयन्ति ततः कदाचिद्वधामाप्नुयुः । एवमन्येऽपि ये दुष्टहृदया भवन्ति तानि कानिचिद्दुष्टकर्माणि भवन्ति ये (षां) व्यालानामिवात्मसन्देहो भवति । तथा च शुक्रः—

---

१ बालहृदयानामिति मुद्रितपुस्तके पाठान्तरम् । व्यालानामिति टीकापुस्तके मूलपाठः टीकानुसारेण परिवर्तितः ।

ये व्यालहृदया भूपास्तेषां कर्माणि यानि च ।
आत्मसन्देहकारीणि तानि स्युर्निखिलानि च ॥ १ ॥

अथ महापुरुषाणां यो गुणस्तमाह—

दुर्भीरुत्वमासन्नशूरत्वं रिपौ प्रति महापुरुषाणां ॥ १२६ ॥

टीका—ये महापुरुषा भवन्ति तेषां दूरस्थे रिपौ न या प्रयाद् ? भीरुत्वं भवति । उक्तं च यतो नीतौ—

युद्धं परित्यजेद्धीमानुपायैः सामपूर्वकैः ।
कदाचिज्जायते दैवाद्धीनेनापि बलाधिकः ॥ १ ॥

टीका—तथासन्नशूरत्वं आसन्ने तु पुनः बलं शूरत्वं भवति महापुरुषाणां । उक्तं च यतो नीतौ—

तावत्परस्य भेत्तव्यं यावन्नो दर्शनं भवेत् ।
दर्शने तु पुनर्जाते प्रहर्तव्यमशंकितैः ॥ १ ॥

अथ मार्दवयुक्तानां यद्भवति तदाह—

जलवन्मार्दवोपेतः पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥ १२७ ॥

टीका—भिनत्ति विदारयति । कान्? भूभृतो राज्ञः । किंविशिष्टान्? पृथूनपि महतोऽपि । कथं ? जलवत् । यथा जलं कोमलमपि भूभृतः पर्वतानपि भिनत्ति । एवं राजापि । तथा च गुरुः—

मार्दवेनापि सिद्धयन्ति कार्याणि सुगुरूण्यपि ।
यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः ॥ १ ॥

अथ मधुरवादिनो नृपस्य यद्भवति तदाह—

प्रियंवदः शिखीव द्विषत्सर्पानुच्छादयति ॥ १२८ ॥

टीका—यो राजा प्रियंवदो भवति । स किं करोति? स द्विषन्तं उच्छादयति नाशं नयति । क इव ? शिखीव सर्पान् । यथा शिखी

१ 'रुपनहु' पुस्तके पाठः । २ रुपुनर्जाने पुस्तके पाठः ।

मयूरः सर्पान् सदर्पानपि, मधुरस्वरान्नाशयति तथा राजापि मधुरः सदर्पानपि शत्रून्नाशयति । तथा च शुक्रः—

यो राजा मृदुवाक्यः स्यात्सदर्पानपि विद्विषः ।
स निहंति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥ १ ॥

अथ महानुभावा यथा स्वहृदयं न प्रकटयन्ति तथाह—

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥ १२९ ॥

टीका—ये महानुभावा उत्तम पुरुषाभवन्ति ते न प्रकाशयन्ति । किं तत्? आत्मीयहृदयं । किं कृत्वा? अविज्ञाय अज्ञात्वा । कं? अर्थं प्रयोजनं अनर्थं वा । केषां? परेषामन्यलोकानां । तथा च भृगुः—

अज्ञात्वा परकार्यं च शुभं वा यदि वाशुभं ।
अन्येषां न प्रकाशेयुः[१]सन्तो नैव निजाशयं ॥ १ ॥

अथ महापुरुषाणामालापो यादृग्भवति तादृगाह—

क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः ॥ १३० ॥

टीका—महतां महापुरुषाणां योऽसौ आलापः स फलसम्पादनं करोति । क इव? क्षीरवृक्ष इव । यथा क्षीरवृक्षः फलसम्पादनं करोति तथा महापुरुषाणामालापा एव । तथा च वर्गः—

आलापः साधुलोकानां फलदः स्यादसंशयम् ।
अचिरेणैव कालेन क्षीरवृक्षो यथा तथा ॥ १ ॥

अथ नीचप्रकृतेः स्वरूपमाह—

दुरारोहपादप इव दण्डाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ॥ १३१ ॥

टीका—नीचा निकृष्टा प्रकृतिः स्वभावो यस्यासौ नीचप्रकृतिः स फलप्रदो भवति दण्डाभियोगेन लगुडप्रहारेण । क इव? दुरारोह-

१ चैव इति शुभाति एकनकारस्यानर्थक्यात् अन्यथा अर्थविरोधः स्यात् ।

पादप इव दुःखारोहवृक्ष इव कण्टकाकीर्ण इवेति यावत् । स यथा लगुडाहतः फलानि प्रयच्छति तथा नीचप्रकृतिरपि। तथा च भागुरिः—

दण्डाहतो यथारातिर्दुरारोहो महीरुहः ।
तथा फलप्रदो नूनं नीचप्रकृतिरत्र यः ॥ १ ॥

अथ महान् पुरुषो यादृशो भवति तदाह—

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ॥ १३२ ॥

टीका—स पुरुषो महत्वमाप्नोति । यः किं? य आलम्बते आश्रयति । किं तत्? धैर्यं पौरुषं। कासु? आपत्सु व्यसनात्मिकासु। तथा च गुरुः—

आपत्कालेऽत्र संप्राप्तौ धैर्यमालम्बते हि यः ।
स महत्वमवाप्नोति पार्थिवः पृथिवीतले ॥ १ ॥

अथ सर्वकृत्येषु पार्थिवस्य यथान्तरायत्वं तदाह—

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोन्तरायः ॥१३३॥

टीका—यदुत्तापकत्वं व्याकुलत्वं पुरुषस्य । तत्किं विशिष्टं? अन्तरायो विघ्नं । केषु? सर्वकार्येषु निखिलप्रयोजनेषु । कासां? सिद्धीनां । हि स्फुटं । तथा च गुरुः—

व्याकुलत्वं हि लोकानां सर्वकृत्येषु विघ्नकृत् ।
पार्थिवानां विशेषेण येषां कार्योऽपि? भूरिशः ॥ १ ॥

अथ कुलीनानां स्वरूपमाह—

शरद्घना इव न खलु वृथालापा गलगर्जितं कुर्वन्ति सत्कुलजाताः ॥ १३४ ॥

टीका—कुलीना ये भवन्ति ते वृथालापा अयुक्तालापा न हि भवन्ति। क इव? शरद्घना इव शरत्काले मेघा इव । यथा ते वृथा गर्जितं प्रचुरं कुर्वन्ति न वृष्टिं तथा कुलीना वृथा गलगर्जितं न कुर्वन्ति । तथा च गौतमः—

वृथालापैर्न भाव्यं न (च) भूमिपालैः कदाचन ।
यथा शरद्घना कुर्युस्तोयवृष्टिविवर्जिताः ॥ १ ॥

अथ सुन्दरासुन्दरं यद्वस्तु भवति तदाह—

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा यस्य यदेव प्रतिभाति तस्य तदेव सुन्दरम् ॥ १३५ ॥

टीका—अस्मिन् किमपि वस्तु स्वभावेन सुन्दरमुत्तमं नास्ति असुन्दरं निकृष्टं वा नास्ति किन्तु यदेव प्रतिभाति तदेव तस्य सुन्दरं तन्निकृष्टमपि, यन्न मनसः प्रतिभाति तत्सुन्दरमपि निकृष्टं । तथा च जैमिनिः—

सुन्दरासुदरं लोके न किंचिदपि विद्यते ।
निकृष्टमपि तच्छ्रेष्ठं मनसः प्रतिभाति यत् ॥ १ ॥

अथोक्तसूत्रापेक्षया दृष्टान्तमाह—

न तथा कर्पूरेण प्रीतिः केतकीनां यथामेध्येन ॥ १३६ ॥

टीका—केतकीनां पुष्पजातिविशेषाणां तथा प्रीतिर्वृद्धिर्न भवति यथा अमेध्येन दोहदेन दत्तेन । गतार्थमेतत् ।

अथातिक्रोधनस्य यद्भवति तदाह—

अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते । १३७ ॥

टीका—अतिक्रोधनस्य पुरुषस्य प्रभुत्वं ऐश्वर्यं, किंविशिष्टं भवति ? शीर्यते विनाशं याति । कथं ? शतधा अनेकधा । किमिव ? लवणमिव । किंविशिष्टं ? पतितं अग्नौ वैश्वानरे । यथा वैश्वानरे पतितं लवणं शतधा विनाशमुपयाति । तथा चर्षिपुत्रकः—

अतिक्रोधो महीपालः प्रभुत्वस्य विनाशकः ।
लवणस्य यथा वन्हिर्मध्ये निपतितस्य च ॥ १ ॥

तस्मादीश्वरेणातिकोपो न कार्यः ।

अथ सर्वान् गुणान् यथा पुरुषो निर्हंति तदाह—

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ॥ १३८ ॥

टीका—न उचितं योग्यं जानाति अनुचितज्ञः । स किं करोति? निहन्ति । कान्? गुणान् । किंविशिष्टान्? सर्वान् समस्तान् । यः पुरुषो यत् यस्मिन् काले उचितं योग्यं कृत्यं न जानाति स सर्वान् गुणान् आत्मीयान् हन्ति । तथा च नारदः—

गुणैः सर्वैः समेतोऽपि वेत्ति कालोचितं न च ।
वृथा तस्य गुणाः सर्वे यथा षण्ढस्य योषितः ॥ १ ॥

अथ परस्परं मर्मकथनेन यद्भवति तदाह—

परस्परं मर्मकथनयात्मविक्रम एव ॥ १३९ ॥

टीका—परस्परं कलहायमानैर्यन्मर्मकथनं क्रियते जनैः । तत्किमित्याह—तदात्मविक्रम एव क्रियते । एतदुक्तं भवति, यथा कलहायमानः कश्चित्परस्य मर्माणि कथयति । तथा च जैमिनिः—

परस्य धर्मभेदं च कुरुते कलहाश्रयः ।
तस्य सोऽपि करोत्येव तस्मान्मंत्रं न भेदयत् ॥ १ ॥

अथ परस्य विश्वरतानां यद्भवति तदाह—

तदजाकृपाणीयं यः परेषु विश्वासः ॥ १४० ॥

टीका—परेषु शत्रुषु विश्वासः क्रियते । स किंविशिष्टः स्यात्? अजाकृपाणीयं स्ववधाय भवतीत्यर्थः । यथाजाकृपाणीयं कथ्यते—केनापि पान्थेन मार्गावस्थितेन क्षुधार्त्तेनाटव्यां छागयूथं रक्षिपालसहितं भ्रमदालोकितं ततः स मृदुपल्लवान् प्रचुरतरान् गृहीत्वा स्तोकान् स्तोकान् छागस्यैकस्य मुखे योजितवान्, छागोऽपि तल्लौल्यात् तस्य पृष्ठलग्नः, अन्यानपि भक्षयन्(?) तस्याग्रे परिक्षिप्य तद्वधार्थं किंचित्काष्टं पाषाणं वा अन्वेष्टुमारब्धः सोऽपि विशास्त्रः तथा छागस्य (?) मृदुपल्लवान् भक्षयन्

१ तस्य मर्माणि परोऽपि कथयतीत्यर्थः ।

सानन्दः पादाग्रेण भूमिमखनत् । अथ तस्य खनतः केनापि प्राक् तत्स्थाने स्थापितः खड्गः प्रकटीभूतः स तेन पथिकेन शस्त्ररहितेन तमेव खड्गमादाय छागो व्यापादितो भक्षितश्चैतदजाकृपाणीयं । अन्योऽपि यो लौल्यात् शत्रोर्विश्वासं गच्छति स केनाप्युपायेन तेन हन्यते तस्माद्विश्वासः शत्रोर्न कार्यः । तथा च चाणिक्यः—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृंतति ॥ १ ॥

अथ क्षणिकचित्तस्य यद्भवति तदाह—

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति ॥ १४१ ॥

टीका—क्षणिकं चित्तं यस्यासौ क्षणिकचित्तः सदैव चलित इत्यर्थः । स पुरुषः किंचिदपि स्तोकमपि प्रयोजनं न साधयति । तस्य किंचित्प्रयोजनं सिद्धिं न गच्छतीत्यर्थः । तथा च हारीतः—

चलचित्तस्य नो किंचित् कार्यं किंचित्प्रसिद्ध्यति ।
सुसूक्ष्मपि तत्तस्मात्स्थिरं कार्यं यशोर्थिभिः ॥ १ ।

अथ स्वतंत्रस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

स्वतंत्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥ १४२ ॥

टीका—यो राजा स्वतंत्रः केवलं भवति सचिवान् न करोति स सहसाकारित्वादात्माहं कृत्वा कुर्वाणोऽनर्हाणि, सर्वं राज्यं विनाशयति । तस्माद्राज्ञा स्वतन्त्रेण न भाव्यम् । तथा च नारदः—

यः स्वतंत्रो भवेद्राजा सचिवान्न च पृच्छति ।
स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राज्यं नाशयेद्ध्रुवम् ॥ १ ॥

• अथालस्यसमेतस्य यद्योग्यं तदाह—

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ॥ १४३ ॥

टीका—यः पुरुषः सदैवालस्योपहतो भवति स सर्वेषु कृत्येषु राज्ञामनधिकारी अयोग्यः स्यात् तस्याधिकारः सूक्ष्मोऽपि न दीयते इति। तथा च राजपुत्रः—

आलस्योपहतान् योऽत्र विदधात्यधिकारिणः।
सूक्ष्मेष्वपि च कृत्येषु न सिद्धयेत्तानि तस्य हि ॥ १ ॥

अथ प्रमादिनो नृपस्य यद्भवति तदाह—

प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ॥ १४४ ॥

टीका—यो राजा कृत्येषु प्रमादवान् भवति सोऽवश्यं निश्चयेन वश्यो भवति। केषां? विद्विषां शत्रूणां। तस्माद्भूमुजा सूक्ष्मेष्वपि कृत्येषु शैथिल्यं न कार्यं। तथा च जैमिनिः—

सुसूक्ष्मेष्वपि कृत्येषु शैथिल्यं कुरुतेऽत्र यः।
स राजा रिपुवश्यः स्यात् प्रभूतयोगसोऽपि ? सन् ॥ १ ॥

भूमुजा यत्कृत्यं तदाह—

कमप्यात्मनोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात्[1] ॥ १४५ ॥

टीका—कमप्यात्मनोऽनुकूलं मित्रत्वेन वर्तमानं प्रतिकूलं शत्रुं न कुर्याद्दोषनिश्चयः[2]। तथा च राजपुत्रः—

मित्रत्वे वर्तमानं यः शत्रुरूपं क्रियान्नृपः।
स मूर्खो भ्रम्यते राजा अपवादं[3] च गच्छति ॥ १ ॥

अथ भूमुजा यत्कृत्यं तदाह—

प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः ॥ १४६ ॥

---

१ प्रतिकूलं च न कुर्यात् इत्यपि पाठः। २ अन्यथेतिशेषः। पुस्तके कुर्योदोषनिश्चयः इति पाठः यदि कुर्याद्दोषनिश्चय इत्येवं रूपेण प्रवर्त्यते तदा अन्यथेति शेषः इति कार्यं। यदि कुर्यादेष निश्चय इत्येवं रूपेण प्रवर्त्यते तदा कुर्यात् एष निश्चयः इति कर्तव्यं उभयथापि न हानिः ३ इदं विसन्धिपदं।

टीका—अथ प्रत्यवायशब्देन गुह्यमुच्यते तद्गुह्यं प्राणादपि जीवितव्यादपि रक्षणीयं यतः सूक्ष्ममपि च्छिद्रं विज्ञाय शत्रवः प्रविशन्ति तस्मात्तद्रक्षणीयं। तथा च भागुरिः—

आत्मच्छिद्रं प्ररक्षेत जीवादपि महीपतिः।
यतस्तेन प्रलब्धेन प्रविश्य घ्नन्ति शत्रवः॥ १॥

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव॥ १४७॥

टीका—आत्मशक्तिं अजानन् यो विग्रहं करोति स आत्मक्षयं करोति। किमिव? कीटिकानां पक्षोत्थानमिव। कस्मिन्? क्षयकाले विनाशकाले। यथा कीटिकानां क्षयो भवति तथा पक्षोत्थानं सम्भवति। पार्थिवस्यापि क्षयकालो यदा भवति तदा बलवता सह विग्रहं करोति। तथा च गुरुः—

अचलं प्रोन्नतं योऽत्र रिपुं याति यथाचलम्।
शीर्णदन्तो निवर्तेत स यथा मत्तवारणः॥ १॥

अथापद्ग्रस्तेन भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत॥ १४८॥

टीका—कालं राज्यसमयलक्षणं कर्तुमलभमानोऽपकर्तरि शत्रौ साधु वर्तेत च्छन्दोनुवृत्तिः कर्तव्येति। यदा शत्रुरात्मनः सकाशात् बलवान् भवति तदा तस्योपचारः कार्यः। तथा च भागुरिः—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा तस्य च्छन्दोनुवर्तयेत्।
बलाप्त्या स पुनस्तं च भिन्द्यात् कुंभमिवाश्मना॥ १॥

अथ शत्रोरुपचारविषये दृष्टान्तमाह—

किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनं॥ १४९॥

टीका—एतत् किलायुक्तं यदुपचारं कृत्वा तस्यापि वधः क्रियते। एतच्च दृष्टान्तेन दृढयति। किन्नु अहो जनाः! खलु निश्चयेन न वहति।

कोऽसौ ? जनः । किं तत् ? इन्धनं काष्ठसमूहं । केन मूर्ध्ना मस्तकेन । किं कर्तुं ? दग्धुं दहनार्थं—अपि तु खलु निश्चयेन दहनार्थं वहति । तथा च शुक्रः—

दग्धुं वहति काष्ठानि तथापि शिरसा नरः ।
एवं मान्योऽपि वैरी यः पश्चाद्वध्यः स्वशक्तितः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि शत्रोरुपचारविषये दृष्टान्तमाह—

नदीरयस्तरूणामंन्हीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥ १५० ॥

टीका—नदीरयः सरिद्वेग उन्मूलयति नाशं नयति । कान् ? अंन्हीन् पदान् जटालक्षणान् । किं कुर्वन् ? क्षालयन् । केषां ? तरूणां वृक्षाणां तटाश्रितानां । किल यस्यांन्हिप्रक्षालनं क्रियते तदे(?)न तस्यैव नाशः क्रियते इति, वृक्षाणां या जटास्ताः पादा उच्यन्ते वचनच्छलात् । तथा च शुक्रः

क्षालयन्नपि वृक्षांह्रीन्नदीवेगः प्रणाशयेत् ।
पूजयित्वाऽपि यद्वच्च शत्रुर्वध्यो विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथोत्सेकयुक्तस्य यद्भवति तदाह—

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥ १५१ ॥

टीका—उत्सेकशब्देन गर्व उच्यते तं यः करोति शत्रुविषये नदीपुरवन्मृदुत्वेन वर्तते स हस्तगतमपि कार्यं शत्रुनाशविषये नाशयति गर्वात्परुषेण प्रजल्पति स सावधानो हस्तप्राप्तोऽपि गच्छति तस्माद्यस्य वधाय वाञ्छा क्रियते तस्य प्रियं वक्तव्यमिति । तथा च शुक्रः—

वचनं कृपणं ब्रूयात् कुर्यान्मार्जारचेष्टितम् ।
विश्वस्तमाखुवच्छत्रुं ततस्तं तु निपातयेत् ॥ १ ॥

अथापक्षेपोपायज्ञस्य भूपतेर्यद्भवति तदाह—

नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य ॥ १५२ ॥

टीका—अपक्षेपशब्देन विनाशः कथ्यते । यो राजा शत्रुविनाशोपायान् अवस्कंदघातविषये पूर्वकान् ? (अवस्कन्दाति तद्विनाशविषये

उपायान्) जानाति तस्य शत्रुविनाशं कुर्वतो नाल्पं न स्तोकं, न महद्वा प्रभूतं वा, सर्वमपि उपायौ (उपायेन) व्यापादयति। तथा च गुरुः—

वधोपायान् विजानाति शत्रूणां पृथिवीपतिः ।
तस्याग्रे च महान् शत्रुस्तिष्ठते न कुतो लघु ॥ १ ॥

अथ वधोपायज्ञस्य नृपतेर्दृष्टान्तमाह—

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति तीरजतृणांह्रिमान् ॥ १५३ ॥

टीका—नदीवेगः समासयतः समं एककालमुन्मूलयति नाशयति। कान्? तीरजतृणांह्रिमान्। एवं राजापि बहूपायेन शत्रून् लघून् गुरूनपि नाशयति । तथा च गुरुः—

पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रूनालपयेत्सुधीः ।
नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥ १ ॥

अन्यदपि भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

युक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥ १५४ ॥

टीका—ग्राह्यं, किं तत्? युक्तं उक्तं न्यायगर्भं वचः। कस्मात्? बालादपि शिशोरपि । एतदुक्तं भवति, बालोऽपि यदि युक्तं व्याहरति तद्ग्राह्यं न च बालप्रलपितामिति तद्वचस्त्याज्यं । तथा च विदुरः—

लघुं मत्वा प्रलापेत बालाच्चापि विशेषतः ।
यत्सारं भवति तद्ग्राह्यं शिलाहारी शिलं यथा ॥ १ ॥

अथैतदपि प्रलापितं दृष्टान्तद्वारेण दृढयन्नाह—

रवेरविषये किन्न दीपः प्रकाशयति ॥ १५५ ॥

टीका—रवेरादित्यस्याविषये सूर्येऽस्तमिते किं न प्रकाशयति प्रकटीकरोति। कोऽसौ? दीपः ज्योतिष्कः। अनेन दृष्टान्तेन बालेनापि युक्तमुक्तं गृह्णीयात् । तथा च वल्लभदेवः—

तेजसा संप्रयुक्तस्यातेनासौ ? नापि सिद्ध्यति ।
कार्यं सूर्ये प्रणष्टे तु ज्योतिष्केन यथा निशि ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि बालप्रलपितप्रतिष्ठार्थे दृष्टान्तमाह—

अल्पमपि वातायनविवरं बहूनुपलम्भयति ॥ १५६ ॥

टीका—(वातायनविवरं) गवाक्षलक्षणं लघ्वपि बहूनुपलम्भयति प्रचुरं प्रकटं करोति, एवं बालोऽपि यत्किंचिद्वदति नयगर्भे तद्ग्राह्यमिति । तथा च हारीतः—

गवाक्षविवरं सूक्ष्मं यद्यपि स्याद्विलोकितं ।
प्रकाशयति यद्भूरि तद्वद्बालप्रजल्पितम् ॥ १ ॥

अथ निरर्थकं प्रोच्यमाना वाचो यत्कुर्वन्ति तदाह—

पतिंवरा इव परार्थाः खलु वाचस्ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारं ॥ १५७ ॥

टीका—निरर्थकं व्यर्थं प्रकाश्यमानाः प्रोच्यमानाः खलु निश्चयेन शपयन्ति वाच्यतां नयन्ति । कं ? जनयितारं वक्तारं । का इव ? पतिंवरा इव पतिर्वृतो यकाभिः पतिंवरा अभीष्टनरदत्ता आत्मशरीराः । पुनरपि किंविशिष्टाः ? परार्था अन्यदेया इति कृत्वा [य] ताः सत्यो यथा तं जनयितारं शपयन्ति अनिष्टवचनैर्निर्भर्त्सयन्ति तथा पुरुषोऽपि यो व्यर्थं वदति तं वा गिरः शपयन्ति हास्यतां वा नयन्तीत्यर्थः । तथा च वर्गः—

वृथालापं च यः कुर्यात् स पुमान् हास्यतां व्रजेत् ।
पतिंवरा पिता यद्वदन्यस्यार्थे वृथावदन् ? ॥ १ ॥

अथ मूर्खस्याग्रे जल्पितं यद्भवति तदाह—

तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः ॥ १५८ ॥

टीका—यः पुरुषो विशेषं न जानाति एतन्ममानेन हितमुक्तं तस्याग्र यत्प्रोच्यते तदयुक्तं युक्तमपि भवति । अथवा अनुक्तसमं तत्किल न जल्पितं, तस्मान्मूर्खस्योपदेशो न देयः । तथा च वर्गः—

अरण्यरुदितं तत्स्यात् यन्मूर्खस्योपदिश्यते ।
हिताहितं न जानाति जल्पितं न कदाचन ॥ १ ॥

अथाश्रोतुः पुरतो वदन् यथा पुरुषो जनैर्मन्यते तदाह—

स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥ १५९ ॥

टीका—परे जनऽनर्थिनि अश्रोतुकामे य उद्दीरयति वदति । कां ? वाचं वाणीं । स किंविशिष्टो जनैर्मन्यते ? खलु निश्चयेन पिशाचकी संजातभूतग्रहः, वातकी वा सन्निपातयुक्तो वा, तस्मादश्रोतुः पुरतो विदुषा न वक्तव्यं । तथा च भागुरिः—

अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेदविचक्षणः ।
अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ नयहीनस्य या वृद्धिस्तस्याः स्वरूपमाह—

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः ॥ १६० ॥

टीका—नयहीनस्य पुरुषस्य चौर्यादिभिरकृत्यैर्या वृद्धिर्भवति । सा किंविशिष्टा ? प्रदीपस्येव । किंविशिष्टस्य ? विध्यायतो विनाशं गच्छतः । यथा दीपस्य विनाशकालेऽधिका वृद्धिर्भवति तथा पुरुषस्याप्यन्यायोपार्जिता समृद्धिः । तथा च नारदः—

चौर्यादिभिः समृद्धिर्या पुरुषाणां प्रजायते ।
ज्योतिष्कस्येव सा भूतिर्नाशकाल उपस्थिते ॥ १ ॥

अथ स्वामिपदमभिलषतां भृत्यानां यद्भवति तदाह—

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव ॥ १६१ ॥

टीका—स्वामिनः पदं स्वामिस्थानमभिलषतां वाञ्छतां जीवोत्सर्ग एव विनाश एव तस्मात्स्वामिनः पदं नाभिलषनीयं । तथा च नारदः—

स्वामिस्थानं च यो मूर्खो वाञ्छति स्वसमृद्धये ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १ ॥

अथ बहुदोषेषु विनाशे कृते यद्भवति तदाह—

बहुदोषेषु क्षणदुःखप्रदोऽपायोऽनुग्रह इव ॥ १६२ ॥

टीका—बहुदोषेषु पुरुषेषु अवध्येषु योऽपायो विनाशः । स किंविशिष्टः ? क्षणदुःखप्रदः मुहूर्तदुःखप्रदो भवति पश्चादनुग्रह इव श्रेयसे इव स मान्यः यतस्तेषां सकाशात् वृद्धिर्भवति । तथा च हारीतः—

अवध्या अपि वध्यास्ते ये तु पापा निजा अपि ।
क्षणदुःखे च तेषां च पश्चात्तच्छ्रेयसे भवेत् ॥ १ ॥

अथ स्वामिदोषयुक्तानां यत्कृत्यं तदाह—

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्धभीतलुब्धमानिनः कृत्याः ॥ १६३ ॥

टीका—येऽमात्याः स्वामिदोषस्वदोषाभ्यां उपहतवृत्तयो भवन्ति स्वामिना क्रुद्धेनोपहतवृत्तयो भवन्ति किं स्वदोषतो वा तैः कश्चित्स्वामिनोऽपराधः कृतो भवति ततश्च स्फेटितवृत्तयो भवन्ति । किंविशिष्टास्ते ? कृत्याः कृत्यस्वरूपा भवन्ति कृत्याशब्देनाथर्वणमंत्रैर्होमे कृते यद्भूतमुत्पद्यते वैश्वनरात् सा कृत्येत्युच्यते वध्यात्मकं, स्फेटितवृत्तयोऽमात्या अपि तादृक्स्वरूपा वधात्मका भवन्ति तत्कथं ते उपचरणीयाः, ते चतुर्विधाः क्रुद्धलुब्धानां त्यागो भीतानामभयप्रदानं, मानिनां सत्कृतिः पूजेति तेषामेते वशोपायाः, तस्मात्कार्या नीतिमता नोपेक्षणीयाः । तथा च नारदः—

नोपेक्षणीयाः सचिवाः साधिकाराः कृताश्च ये ।
योजनीयाः स्वकृत्ये ते न चेत्स्युर्वधकारिणः ॥ १ ॥

अथ प्रकृतीनां नृपेण यत्कर्तव्यं तदाह—

क्षयलोभविनाशकारणानि प्रकृतीनां न कुर्यात् ॥ १६४ ॥

टीका—न कुर्यात्, कानि ? क्षयलोभविरागकारणानि । कासां ? प्रकृतीनाममात्यादीनां सदा सेवकानां क्षयकारणं विनाशकारणं लोभकारणं ।

---

१ क्वचिद्विनाश इति क्वचिच्च विराग इति पाठः पुस्तके ।

तासां सकाशात् लोभेन किंचिद्ग्राह्यं तथा तासां विरागकारणं न कार्यं येन विरागो भवतीति। तथा च वशिष्ठः—

क्षयो लोभो विरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते।
यतस्तासां प्रदोषेण राज्यवृद्धिः प्रजायते॥ १॥

अथ प्रकृतीनां कोपो यादृग्भवति तदाह—

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान्॥ १६५॥

टीका—ये चान्ये कोपाः शत्रुपूर्वकास्तेषां सकाशात् प्रकृतिकोपो गरीयान् का (क) ष्टतरः। तथा च राजपुत्रः—

राज्ञां छिद्राणि सर्वाणि विदुः प्रकृतयः सदा।
निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशं नयन्ति तम्॥ १॥

अथ ये दोषे कृतेऽप्यवध्यास्तेषां यत्क्रियते तदाह—

अचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत्॥ १६६॥

टीका—येषां दोषा अपराधा अचिकित्स्या वधबन्धवर्जितास्तेन (तैः) दोषेण (दोषैः) ये दुष्टा द्रोहितारः, तेषां किं कार्यं? तान् क्लेशयेत् व्यसनाभिभूतान् कारयेत्। केषु? खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु खनिशब्देन तडागादिखातमुच्यते, दुर्गं प्रसिद्धं, सेतुबन्धो नदीपूरबन्धः, आकारो धातूनामुत्पत्तिस्थानं एतेषां यानि कर्माणि तेषां मध्ये नियोजयेत् तत्र स्थिता द्रोहादिकं न कुर्वन्ति। तथा च शुक्रः—

अवध्या ज्ञातयो ये च बहुदोषा भवन्ति च।
कर्मान्तरेषु नियोज्यास्ते येन स्युर्व्यसनान्विताः॥ १॥

अथ यैः सुखगोष्ठी सुखं न कुर्यात्तानाह—

अपराध्यैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात्॥ १६७॥

टीका—ये पुरुषा अपराध्या भवन्ति येषां अपराधः कार्यस्तैः सह कथां गोष्ठीं न कुर्यात्। तथा च नारदः—

परिभूता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः ।
न तैः सह क्रियाद्गोष्ठीं य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ १ ॥

अथ तैः सह गोष्ठी सुखेन कृतेन यद्भवति तदाह—

ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारं ॥ १६८ ॥

टीका—ते पूर्वोक्ता अपराध्या अपराधकाः सर्वव्यसनानि प्रयच्छन्तीत्यर्थः । हि शब्दो यस्मादर्थे स्फुटार्थे वा । कथं सर्वव्यसनानामागमंनद्वारमित्याह—गृहप्रविष्टसर्पवत् यथा गृहप्रविष्टसर्पो व्यसनप्रदो भवति तथा तेऽपि गृहप्रविष्टाः सन्तः । तथा च शुक्रः—

यथाहिर्मन्दिराविष्टः करोति सततं भयं ।
अपराध्याः सदोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः ॥ १ ॥

अथ यस्य पुरुषस्य नाग्रतस्तिष्ठेत्तमाह—

न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥ १६९ ॥

टीका—क्रुद्धस्य पुरुषस्य कस्यापि पुरो न तिष्ठेत् । एषा नीतिर्यतः क्रोधान्धधीः पुरुषो यं कमपि पुरः स्थितं पश्यति तं व्यापादयति । तथा च गुरुः —

यथान्धः कुपितो हन्यात् यश्चैवाग्रे व्यवस्थितं ।
क्रोधान्धोऽपि तथैवात्र तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥ १ ॥

अथ क्रुद्धस्य पुरतः स्थितस्य यद्भवति तदाह—

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोषविषमुत्सृजति ॥ १७० ॥

टीका—सर्प इव यथा सर्पः कुपितोऽपराधरहितेऽपि प्राणिनि विषमुत्सृजति तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् । गतार्थमेतत् ।

अथ येन गृहायातेन न किंचित्सिद्ध्यति तदर्थमाह—

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥ १७१ ॥

टीका—अप्रतिविधातुरकार्यसाधकस्य पुरुषस्य यद्गृहागमनं तद्वरमनागमनं वरमसमायातः केवलमुपक्षयः स्यात् । तथा च भारद्वाजः—

प्रयोजनार्थमानीतो यः कार्यं तन्न साधयेत् ।
आनीतेनापि किं तेन व्यर्थोपक्षयकारिणा ॥ १ ॥

इति मंत्रिसमुद्देशः ।

---

११ पुरोहित-समुद्देशः ।

अथ पुरोहितसमुद्देशः, तत्र पुरोहितलक्षणमाह—

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दंडनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥ १ ॥

टीका—कुशलं (?), कस्मिन् ? षडंगे वेदे तथा दैवे ज्योतिःशास्त्रे, निमित्ते उत्पातदर्शने, तथा दंडनीत्यां च, इत्थंभूतं पुरोहितं कुर्वीत । तथा च शुक्रः—

दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये ।
तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ॥ १ ॥

अथ राज्ञा मंत्रि-पुरोहिताभ्यां यत्कृत्यं तदाह—

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विस्तरयेत् ॥ २ ॥

टीका—न निराशौ कार्यौ । केषु ? वाञ्छितेषु । किंविशिष्टेषु ? केषुचित् समस्तेष्वपि । हि—यस्मात् तौ मातृपितरौ, अतस्तौ नातिक्रमेत् । तथा च गुरुः—

समौ मातृपितृभ्यां राज्ञो मंत्रीपुरोहितौ ।
अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैर्न कथंचिद्विस्तरयेत् ॥ १ ॥

अथ दैवीनां मानुषीणां चापदां स्वरूपमाह—

अमानुष्योऽग्निवर्षमतिवर्षं मरकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जंतुसर्गो व्याधिर्भूतपिशाचशाकिनीसर्पव्यालमूषकाश्चेत्यापदः ॥३॥

टीका—अमानुष्योऽग्निर्विद्युत्पातः, अवृष्ट्यतिवृष्टी प्रसिद्धः ?, मरकः प्रचुरजनमृत्युः, दुर्भिक्षं, सस्योपघातः शलभादिजन्तूत्सर्गः, मानुषविक्रयः, व्याधिप्राचुर्यं, भूतप्राचुर्यं पिशाचप्राचुर्यं, शाकिनीप्राचुर्दे, व्यालानां नखायुधानां च प्राचुर्यं, मूषिकप्राचुर्यं, एता जनस्यापदा दैविका मानुष्यर्श्चं ।

अथ कुमारो राज्ञा यथा कार्यस्तथाह—

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिसु प्रसंख्याने पदप्रमाणप्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां सम्भोगप्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ॥ ४ ॥

टीका—सम्यक् शिक्षापणीयः शिक्षालापक्रियासु जनसभाकर्मसु क्षमः समर्थः पूर्वं कृत्वा ततो राजपुत्रः पश्चात्सर्वासु लिपिसु शिक्षापणीयः तथा प्रसंख्याने गणितविषये, तथा पदप्रमाणयोगकर्मणि पदकर्म साहित्यं, प्रमाणकर्म तर्कः प्रोच्यते, प्रयोगकर्म शब्दव्युत्पत्तिः कथ्यते, तथा नीत्यागमेषु नीतिशास्त्रेषु, तथा संभोगे वात्स्यायनादिषु, प्रहरणे शस्त्रविद्यायां, उपवाह्ये हस्त्यश्ववाहनविद्यासु शिक्षापणीय इति । तथा च राजपुत्रः—

कुमारो यस्य मूर्खः स्यान्न विद्यासु विचक्षणः ।
तस्य राज्यं विनश्येत्तदप्राप्त्या नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ शिष्येण गुरोर्यथा वर्तितव्यं तदाह—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता च गुरूपासनकारणानि ॥ ५[1] ॥

टीका—गुरूणामुपासनं गुरुसेवा तत्र शिष्यगृहस्थेन उक्तकारित्वं आदेशः कार्यः, नियमो व्रतचर्या, विनीतता नय एतानि गुरुसन्तोषेण शिष्यस्य कारणानि । तथा च गौतमः ।

---

१ अस्वातंत्र्यस्य टीका नास्ति । प्रसिद्धत्वास्यार्थः ।

सदादेशकरो यः स्यात्स्वेच्छया न प्रवर्तते ।
विनयव्रतचर्याद्यः स शिष्यः सिद्धिभाग्भवेत् ॥ १ ॥

अथ विनयलक्षणमाह—

व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥ ६ ॥

टीका—योऽसौ विनयः, स किंविशिष्टः कथ्यते ? यद्व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं ये व्रताधिका भवन्ति तथा विद्याधिका ये च वयोधिकास्तेषु यन्नीचैराचरणं नमस्करणादिको व्यवहारः स विनयः । तथा च गर्गः—

व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः ।
यत्तेषां क्रियते भक्तिर्विनयः स उदाहृतः ॥ १ ॥

अथ विनयफलमाह—

पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥ ७ ॥

टीका—ये व्रताधिका भवन्ति तेषां नीचैराचरणेन धर्मप्राप्तिर्भवति । ये च विद्याधिका भवन्ति तेषां स—

(अस्मादग्रेतनानि टीकापुस्तकपत्राणि कृतप्रयत्नान्यपि नोपलब्धान्यतो मूलपुस्तकद्वयं समालोक्य मूलपाठ एव समुद्ध्रियते ।—सम्पादकः)

[1]अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः सम्प्रदायः ॥ ८ ॥

[2]गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्[3]मप्रत्यवायेभ्यः ॥ ९ ॥

---

१ विद्याभ्यासस्य फलमाह— । २ गुरोर्वचनमनुल्लंघनीयमिति दर्शयति— । ३ 'चारात्' इति पाठः मुद्रित–पुस्तके । प्रत्यवायेभ्य इति पदस्याग्रेतनसूत्रेण सह सम्बन्धः कृतः तत्रैव ।

[1]युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी[2] ॥ १० ॥
गुरु[3]जनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्ति[4]श्चौषधम् ॥ ११ ॥
शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाघ्यो नपुनर्गुरूणाम् ॥ १२ ॥
आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याण[5]शंसी ॥ १३ ॥
बहुभि[6]रुक्तं नातिक्रमितव्यं यदि नैहिकामुत्रि[7]कफलविलोपः ॥ १४ ॥

सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत्[8] ॥ १५ ॥
गुरूणां पुरतो यथेष्टमासितव्यम् ॥ १६ ॥

अथ शिष्येणोपाध्यायसकाशाद्यथा विद्याग्रहणं कर्तव्यं तदाह—

नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत[9] ॥ १७ ॥

टीका—नाददीत न गृह्णीयात्। कां? विद्यां। किं कृत्वा? अनभिवाद्य अनमस्कारं कृत्वा। कस्मान्न गृह्णीयात्? उपाध्यायात् सकाशात्। यदा विद्याग्रहणं क्रियते तदोपाध्यायनमस्कारः कार्यः। तथा च वशिष्ठः—

> नमस्कारं विना शिष्यो यो विद्याग्रहणं क्रियात्।
> गुरोः स तां न चाप्नोति शूद्रो[11] वेदश्रुतिं यथा ॥ १ ॥

अथ शिष्येणाध्ययनकाले यत्कर्तव्यं तदाह—

अध्ययन[12]काले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥ १८ ॥

---

१ गुरुवचनानुल्लंघने हेतुमाह—। २ 'प्रत्यर्थी वादी वा स्यात्' मुद्रित पुस्तके। ३ गुरुजनानां रोषे सति उपायमाह—। ४ सेवा। ५ 'कल्याणमाशंसति' मुद्रित-पुस्तके। ६ गुरुभिरुक्तं मु—पुस्तके। ७ मुष्मिक मु—पुस्तके। ८ पृच्छेत् मु—पुस्तके। ९ अस्मादग्रे पत्रमेकं सटीकं प्राप्तं तदत्र प्रकाश्यते। १० अस्मादग्रे 'यद्यस्ति जातिव्रताभ्यामाधिक्यं समानत्वं वा' इत्यधिकः पाठः मूल-पुस्तके। ११ शूद्रवेद. पुस्तके पाठः। १२ अध्ययनकालेव्यासंगं मु।

टीका—न भजेत् न सेवेत। किं तत्? व्यासंगं अन्यकृत्यं तथा पारिप्लवं चांचल्यं तथान्यमनस्कतामन्यचित्ततां। कस्मिन्? अध्ययन-काले पाठसमये। तस्मात् पठनसमये अन्यकृत्यं चापल्यं अन्यचित्ततां न कुर्यात्। तथा च गौतमः—

अन्यकार्यं च चापल्यं तथा चैवान्यचित्तताम्।
प्रस्तावे पठनस्यात्र यः करोति जडो भवेत्॥ १॥

अथ शिष्येण सहाध्यायिषु य कर्तव्यं तदाह—

सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत[1]॥ १९॥

टीका—नाभिभूयेत न पराभवं कुर्यात्। केषु? सहाध्यायिषु सतीर्थेषु। केन? बुद्ध्यतिशयेन मतिबाहुल्येन यदि पठनात्तस्य बुद्धिरधिका भवति अन्यच्छात्राणां सकाशात्तदा तद्गतांश्छात्रान् न पराभवेत् न पराभवयुक्तान् कुर्यात्। तथा च गुरुः—

न सहाध्यायिनः कुर्यात्पराभवसमन्वितान्।
स्वबुद्ध्यतिशयेनात्र यो विद्यां वाञ्छति प्रभोः॥ १॥

अथ च्छात्रेण गुरोर्यत्कृत्यं तदाह—

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत[2]॥ २०॥

टीका—नावज्ञायेत नाज्ञालोपेनायुक्तं गुरुं कुर्यात्। कोऽसौ? छात्रः। कं? गुरुं। किंविशिष्टः? प्रज्ञयातिशयानः गुरोः सकाशादधिकबुद्धिः संजातः सन्, यदि कथंचिद्गुरोः सकाशाच्छात्रस्य पठतोऽधिका बुद्धिर्भवति तदा तया गुरोर्नावलेपः कार्यः। तथा च भृगुः—

बुद्ध्याधिकस्तु यश्छात्रो गुरुं पश्येदवज्ञया।
स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भूतले॥ १॥

अथ यो मातृपितृभ्यामुपरि पुत्रः शूरो भवति स यादृक् तदाह—

---

१ नाभिभूवेत् मु-मू-पुस्तके। २ अवल्हादयेत् मू. लज्जयेत् मु.।

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥

टीका—स पुत्रः किमभिजातः कुलीनः स कुलीनो न भवति । यः किंविशिष्टः (?) शूरः उद्भटः । कस्यां ? मातरि । तथा पितुरुपरि वारान् (?) तस्मात्पुत्रेण मातृपित्रोर्भक्तिः कार्या येन ज्ञायते कुलीनोऽयमिति । तथा च मनुः—

न पुत्रः[1] पितरं द्वेष्टि मातरं न कथंचन ।
यस्तयोर्द्वेषसंयुक्तस्तं विन्द्यादन्यरेतसं ॥ १ ॥

अथ पुत्रेण मातृपितृभ्यां कुलीनेन यत्कृत्यं तदाह—

अननुज्ञातो[2] न क्वचिद्व्रजेत् ॥ २२ ॥

टीका—ताभ्यां मातृपितृभ्यामननुज्ञातोऽप्रेषितः सन् न क्वचिद् व्रजेत् । तथा वशिष्ठः—

पितृमातृसमादेशमगृहीत्वा करोति यः ।
सुसूक्ष्माण्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ॥ १ ॥

तथा भूयोऽपि पुत्रेण यत्कर्तव्यं तदाह—

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् ॥ २३ ॥

टीका—नो गच्छेत् । कोऽसौ ? पुत्रः । किंविशिष्टः ? एको मातृपितृविहीनः । कं न गच्छेत् ? मार्गं पन्थानं तथाचलं पर्वतं तथा जलाशयं वापीकूपादिकमिति । तथा च गुरुः—

वापीकूपादिकं यच्च मार्गं वा यदि वाचलं ।
नैकोवगाहयेत् पुत्रः पितृमातृविवर्जितः ॥ १ ॥

अथ गुरोः शिष्येण यथा वर्तितव्यं तथाह—

---

१ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ तु नास्ति । टीकाकर्त्रा स्वदौष्टयेन ग्रन्थकर्तृपराभवाभिप्रायेण बहवः श्लोकाः स्वयं विरचय्य तत्र तत्र स्थलेषु विनिवेशिताः, तेषां नाम च पूर्वेषां कृतं । २ गुरुणाननुज्ञातो मु–पुस्तके ।

पितरमिव गुरुमुपचरेत् ॥ २४ ॥

टीका—उपचरेत् सेवेत । कं ? गुरुं । किमिव ? पितरमिव जनयितारमिव यथा जनकस्य पुरुषेण (पुत्रेण) वर्तितव्यं तथा गुरोरपि । तथा च भारद्वाजः—

योऽन्तेवासी पितुर्यद्वद्गुरोर्भक्तिं समाचरेत् ।
स विद्यां प्राप्य निःशेषां लोकद्वयमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

अथ शिष्यो गुरुपत्नीं यथा पश्येत् तथाह—

गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत्[२] ॥ २५ ॥

टीका—पश्येदवलोकयेत् । कां ? गुरुपत्नीं उपाध्यायां । कामिव ? जननीमिव । गुरुभार्या मातृवच्छिष्येणावलोकनीया ? न स (तु) स्मरदृष्टया । तथा च याज्ञवल्क्यः—

गुरुभार्यां[३] च यः पश्येद्दृष्ट्वा चात्र सकामया ।
स शिष्यो नरकं याति न च विद्यामवाप्नुयात् ॥ १ ॥

अथ गुरुपुत्रेण शिष्येण यथा वर्तितव्यं तदाह—

गुरुमिव[४] गुरुपुत्रं पश्येत् ॥ २६

टीका—पश्येदवलोकयेत् । कं ? गुरुपुत्रं । कमिव ? गुरुमिव यादृग्भक्त्या गुरुं तथा पश्येत्तादृग्भक्त्या गुरुपुत्रमपि । तथा च बादरायणः—

यथा गुरुं तथा पुत्रं यः शिष्यः समुपाचरेत् ।
तस्य तुष्टो गुरोः कृत्स्नां निजां विद्यां निवेदयत् ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मचर्यसमोपेते यथा वर्तितव्यं तथाह—

सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत्॥२७॥

---

१ उपाचरेत् मु-मू. । २ मन्येत मु-मू-पुस्तके । ३ श्लोकोऽयं याज्ञवल्क्यस्मृतौ नास्ति । ४ गुरुवत् मु-मू-पुस्तके ।

टीका —स शिष्यो ब्रह्मचारिणि गुरुपुत्रे बान्धव इव स्निह्येत् स्नेहं कुर्यात् । यथा बान्धवो भ्राता भ्रातुः स्नेहं करोति तथा शिष्योऽपि ब्रह्मचारिणः । तथा च मनुः—

यथा[1] भ्रातुः प्रकर्तव्यः स्नेहोऽत्र निबन्धना ।
तथा स्नेहः प्रकर्तव्यः शिष्येण[2] ब्रह्मचारिणः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मचारिलक्षणमाह—

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो[3] गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य॥२८॥

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥ २९ ॥

गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते[4] ॥ ३१ ॥

स खलु महान् यः स्वकार्येष्विव[5] परकार्येषूत्सहते[6] ॥ ३२ ॥

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥ ३३ ॥

राजासन्नः को नाम नँ[7] साधुः ॥ ३४ ॥

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥ ३५ ॥

को नामार्थार्थी प्रणामेन[8] तुष्यति ॥ ३६ ॥

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणं[9] प्रियदर्शनालापाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तंत्रं वर्धयत्यनुरंजयति च ॥ ३७ ॥

तनु[10]धनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥ ३८ ॥

अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥ ३९ ॥

---

१ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ नास्ति । २ सप्ताक्षरप्रमितोऽयं द्वितीयः पादः, अशुद्धश्चावभाति । ३ ततो गोदानं । नित्यं चास्य समविद्यैः इत्यादि पाठः मु-पुस्तके । ४ विक्रमादित्यो नाम प्रसिद्धो राजा तद्वदाचरति । ५ 'स्वकार्येष्विव' मु-पुस्तके नास्ति । ६ स्वकार्येषू मु-पुस्तके । ७ नेति लिखितमूल-पुस्तके नास्ति । ८ प्रणयेन मु-पुस्तके । ९ ' विशेषकारणेऽपि दर्शनप्रियालापनाभ्यां ' मु-पुस्तके । १० अल्पधनात् दरिद्रादित्यर्थः ।

दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव ॥ ४० ॥
अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्तनमिव[3] ॥ ४१ ॥
अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकंडनमिव[3] ॥ ४२ ॥
नीचेषूपकृतमुदके [4]विशीर्णं लवणमिव ॥ ४३ ॥
अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ॥ ४४ ॥
परोक्षे किलोपकृतं सुप्तसंवाहनमिव[5] ॥ ४५ ॥
अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥ ४६ ॥
उपकृत्योद्घाटनं वैरकरणमिव ॥ ४७ ॥
अफल[6]वतः प्रसादः काशकुसुमस्येव ॥ ४८ ॥
गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहा[7]भिनिवेश इव ४९
उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोषकरणमात्मविडम्बनमिव[8] ५०
शूद्र[9]स्त्रीविद्रावणकारि गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ॥ ५१ ॥
स विभवो मनु[10]ष्याणां यः[11] परोपभोग्यः ॥ ५२ ॥
स ननु व्याधिर्यः स्वस्यैवोपभोग्यः ॥ ५३ ॥
स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूयागर्भं बहुषु दोषं प्रकाशयन् शिक्षते[12] ॥ ५४ ॥
स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥ ५५ ॥

इति पुरोहितसमुद्देशः।

१–२ सूत्रद्वयं मुद्रितपुस्तके नास्ति। ३ निरर्थकमित्यर्थः। ४ प्रक्षिप्तं। ५ सुप्तस्य पदमर्दनवन्निष्फलमित्यर्थः। ६ अफलतः लि० पुस्तके। 'अफलवतो नृपतेः' मुद्रितपुस्तके। ७ ग्रहाणां राहुकेत्वादीनां भूतानां वा अभिनिवेशसदृशः स्वस्यैव बाधक इत्यर्थः। ८ आत्मन उपहाससदृशं। ९ 'ग्राम्य स्त्री' मु-पुस्तके। १० मानुषाणां मु-पुस्तके। ११ 'यः परोपभोग्यो न तु व्याधिरिव यः स्वस्यैवोपभोग्यः' मु-पुस्तके। १२ शिक्षति लि० पुस्तके। शिक्षयति मु-पुस्तके।

१२ सेनापति-समुद्देशः ।

अभिजनाचारप्रज्ञानुरागसत्य[1]शौचशौर्यसम्पन्नः प्रभाववान् बहुबान्धवपरिवारो निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरे[2]स्थितिः सकलतंत्रसामन्ताभिमतः संग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो भर्तुर[3]भ्युदयदेशहितवृत्ति[4]षु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिराजचिह्नैः संभावितः सर्वक्लेशायाससहः स्वैः परैश्चाप्रधृष्यप्रकृतिरिति सेनापतिगुणाः ॥ १ ॥

स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिता क्षयव्ययप्रवासोपहत[6]त्वं तंत्राप्रतीकारः सर्वैः सह वैर[5]विरोधो परपरिवादः परुषभाषित्वमनुचितज्ञतांसंविभागित्वं स्वातंत्र्यात्मसंभावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षा सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्या[8]लुब्धत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥ २ ॥

स चिरं जीवी राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः सर्वासु प्रकृतिषु ॥ ३ ॥

इति सेनापतिसमुद्देशः ।

---

१ सत्यशब्दो मु-पुस्तके नास्ति । २ परज्ञानस्थितिः मु-पुस्तके । ३ भर्तुरादेशाभ्युदय मु-पुस्तके । ४ वृद्धिषु । अस्मात्पूर्वं 'अप्रभाववान्' इति पाठः मु-पुस्तके । ५ वैर शब्दो नास्ति मु-पुस्तके । ६ त्वं मु-पुस्तके । ७ र्यं आत्मनः मु-पुस्तके । ८ 'चेर्ष्यालुत्वं' मु-पुस्तके ।

१३ दूतसमुद्देशः ।

अनासन्नेष्वर्थेषु[1] दूतो मंत्री ॥ १ ॥

स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता[2] प्रागल्भ्यं प्रतिभावत्वं[3] क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमेति[4] दूतगुणाः ॥ २ ॥

स च त्रिविधो निःसृष्टार्थः[5] परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥३॥

यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निःसृष्टार्थो[6] यथा कृष्णः पांडवानां ॥ ४ ॥

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ५ ॥

मत्[7]स्वामिनमतिसंधातुकामः परो मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यविज्ञातोऽपि दूतोऽपसरेद्[8]गूढपुरुषान् वावसर्पयेत्[9] ॥ ६ ॥

परेणाशु सम्प्रेषितो[10] दूतः कारणं विमृशेत् ॥ ७ ॥

कृत्योपग्रहोऽकृत्योत्थापनं[11] सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमंडलप्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानमन्त[12]भूमिपालाटविकसम्बन्धैः[13] कोशदेशतंत्रमित्रावबोधः[14] कन्यारत्नवाहनविनिश्रावणं[15] स्वामीष्टपुरुषप्रयोगात् परप्रकृतिक्षोभकरणं च दूतकर्म ॥ ८ ॥

मंत्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिबद्धाप्तजनोपचार[16]विस्रम्भाभ्यां शत्रोरिति कर्तव्यतामन्तःसारतां च विन्द्यात् ॥ ९ ॥

---

१ आसन्नेष्व० मु-पुस्तके । २ ममुमूर्खता मु-पु । ३ प्रतिभानवत्वं मु-पु । ४ इति प्रथमा दूतगुणाः मु-पु । ५-६ निःस्पृष्टार्थः मु-पु । ७ 'मत्' इति शब्दो मुद्रित—पुस्तके नास्ति । ८ नापसरेत् मु-पुस्तके । ९ नावसर्पयेत् मुद्रित—पुस्तके । १० प्रेषणे मु-पुस्तके । ११ अस्मादग्रे कृत्यभेदनं मु-पु । १२ मन्तपाला० मु-पुस्तके । १३ सम्बन्धि. मु. । १४ मित्रावरोधः मु. । १५ वाहनतीक्ष्णपुरुषप्रयोगात् मु. १६ प्रतिबद्धपूजनोपचार. मु. ।

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥ १० ॥

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे[1] नास्ति क्षान्तिः ॥ ११ ॥

स्थित्वापि यास्यतोऽवस्थापनं केवलमपक्षयहेतुः ॥ १२ ॥

वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितान् परदूतान् पश्येत् ।१३।

श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति ॥ १४ ॥

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥१५॥

श्रूयते हि स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानमाशीविषविषधरोपेतरत्नकरंडकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥ १६ ॥

महत्यपकारेऽपि[2] न दूतमुपहन्यात् ॥ १७ ॥

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः ॥ १८ ॥

तेषामन्त्यावसायिनो[3]ऽप्यवध्याः किमङ्ग ! पुनर्ब्राह्मणः॥ १९ ॥

वध्याभावाद्[4]दूताः सर्वमेवं[5] जल्पन्ति ॥ २० ॥

कः सुधीर्दूतवचनात्[6]परोत्कर्षं स्वात्मापकर्षं च मन्येत ॥ २१ ॥

तदाशयरहस्यपरिज्ञानार्थं परदूतः स्त्रीभिरुभयवेतनैस्तद्गुणाचारशीलानुवर्तिभिर्वा प्रणिधातव्यः ॥ २२ ॥

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥ २३ ॥

इति दूत-समुद्देशः ।

---

१ परवादे मु. । २ महत्यपकारे दूतमपि हन्येत मु-पुस्तके ।—

३ चाण्डाला अपि दूतत्वेनागताश्चेदवध्याः । ४ अवध्यभावाद्दूताः इति मू-पुस्तके । वध्यभावादिति मु-पुस्तके । ५ सर्वत्रमेव इति पाठः मु-पुस्तके । ६ वचनात् स्वानात् मु-पुस्तके ।

१४ चारसमुद्देशः ।

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥ १ ॥

अलौल्यममान्द्य[1]ममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः ॥२॥

तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ॥ ३ ॥

ते हि[2] तल्लोभात् स्वामिकार्येष्वतीव त्वरन्ते ॥ ४ ॥

संदिग्ध[3]विषये त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः[4] ॥ ५ ॥

अनवसर्पो[5] हि राजा स्वैः परैश्चातिसंधीयेत ॥ ६ ॥

किमस्त्ययामिकस्य[6] कुशलं[7] ॥ ७ ॥

कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापस[8]कितवकिरातयम[9]पट्टिकाहितुण्डकशौण्डिकशौभिक[10]पाटच्चरविटविदूषकपीठमर्दक[11]नट[12]नर्तकगायकवादकवाग्जीवकगणकशाकुनिकभिषगैन्द्रजालिकनैमित्तिकसूदारालिकसंवाहिकतीक्ष्णक्रूररसदजडमूकबधिरान्धच्छद्मानस्थायियायिभेदेनावसर्प[13]वर्गः ॥ ८ ॥

---

१ अमान्द्यमिति पाठः मुद्रित-पुस्तके नास्ति । २ वेतनप्राप्तौ तु तेऽलसा भवेयुः । ३ असति संकेते मु-पुस्तके । ४ युगपत्सम्प्रत्ययः मु-पुस्तके । ५ अन-वसर्प्यो । असंभाव्यः । ६ अयामिकस्य निशि संचारमकुर्वतः । ७ निशि कुशलं मु-पुस्तके । ८ 'तापस 'नास्ति मू-पुस्तके । ९ अक्षिशालिकयम मु. पुस्तके । १० सौक्षिक मूल-पुस्तके । ११ पीठमर्दन मू-पुस्तके । १२ नट इति शब्द मु-पुस्तके नास्ति । १३ अवसर्पे वर्गः मु-पुस्तके ।

परंमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः कापटिकः ॥ ९ ॥

यं कंचन समयमास्थाय प्रतिपन्नाचार्याभिषेकः प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राज[2]परिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥ १० ॥

गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥ ११ ॥

बा[3]ह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदंभहेतुस्तापसः ॥ १२ ॥

कितवो द्यूतकारः ॥ १३ ॥

अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥ १४ ॥

यं[4]मपट्टिको गलत्रोटिकः ॥ १५ ॥

अहितुण्डिकः सर्पक्रीडाप्रसरः ॥ १६ ॥

शौंडिकः कल्पपाल[6]ः ॥ १७ ॥

शौभिकः क्षपायां कांडपटावरणेन नाना[7]रूपदर्शी ॥ १८ ॥

पाटच्चरश्चोरो [8]बन्दिकारो वा ॥ १९ ॥

व्यसनिनां प्रेषणा[9]ज्जीवी विटः ॥ २० ॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥ २१ ॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दकः ॥ २२ ॥

* गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटिकाभिनयरङ्गनर्तको वा ॥ २३ ॥

रूपा[16]जीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥ २४ ॥

---

१ प्रत्येकं शब्दानां परिभाषामाह। २ राज्ञा मु—पुस्तके। ३ जिह्मव्रत मु—पुस्तके। कपटव्रतेन कपटविद्यया च। ४ अक्षिशालिकयमपट्टिकौ गृहात्प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी मुद्रित-पुस्तके पाठः। ५ सूत्रमिदं लिखित-मूल पुस्तके नास्ति। ६ मद्यगृहस्य स्वामी 'कलार' इति भाषायां। ७ नानाविधनामरूपदर्शी मु—पुस्तके। ८ बन्धिकारो वा मू—पुस्तके। बन्दीकारो वा मु—पुस्तके। ९ प्रेषणाजीवी मु. पुस्तके। * पुष्पमध्यगतानि सूत्राणि लिखित मूल-पुस्तके न सन्ति मुद्रित पुस्तकात्संयोजितानि। १६ वेश्या।

गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥ २५ ॥

वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ॥ २६ ॥

गणकः संख्याविद्दैवज्ञो वा ॥ २७ ॥

शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥ २८ ॥

भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च ॥ २९ ॥

ऐन्द्रजालिकस्तन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥३०॥

नैमित्तिको लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा * ॥ ३१ ॥

महानसिकः सूदः ॥ ३२ ॥

विचित्रभक्ष्यप्रणेतारालिकः ॥ ३३ ॥

अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः[1] ॥ ३४ ॥

द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यः स्वजीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसहनो वा ॥ ३५ ॥

* बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराः ॥ ३६ ॥

अलसाश्च रसदाः * ॥ ३७ ॥

इति चारसमुद्देशः ।

---

१ सूत्रमिदं लिखित मूल-पुस्तके नास्ति । * पुष्पमध्यगतः पाठ एवं रूपः मुद्रितपुस्तके रसदाश्चराः । सदा बन्धुषु निःस्नेहः क्रूरः । शेषाः प्रसिद्धत्वाभोक्ताः

१५ विचार-समुद्देशः ।

नाविचार्य किमपि कार्यं कुर्यात् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ।२।

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षं ॥ ३ ॥

न ज्ञानमात्रात्प्रेक्षावतां[1] प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥ ४ ॥

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्मुह्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे ॥ ५ ॥

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमेपि[2] साधु[3] परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥ ६ ॥

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि कं[4] नामानमनर्थं न जनयंति ॥ ७ ॥

अविचार्याचरिते कर्मणि पश्चात्प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥ ८ ॥

कर्मसु[5] कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानं ॥ ९ ॥

संभावितैकदेशोऽभियुक्तं दद्यात्[6] ॥ १० ॥

---

१ प्रज्ञावता मु-पुस्तके । २ मपि कार्यं मु-पुस्तके । ३ साधु मू-पुस्तके । ४ किं. मु-पुस्तके । ५ कर्मसु कार्येषु । कृतेन कर्मणा अकृतस्यावेक्षणं बुद्धया आकलनं अनुमानं स्यात् । अनुष्ठितेन कार्यस्यैकदेशेन अग्रिमस्यापि सर्वस्यापि सर्वस्य स्वरूपनिश्चय इत्यर्थः । ६ विद्यात् मु-पुस्तके ।

आकारं शौर्यं प्रज्ञासम्पत्तिरायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिंगानि ॥ ११ ॥

प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतः[1] शुभस्याशुभस्य चोपालिंगं ॥ १२ ॥

एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धिपुरुषकारः कथं नाम न कर्मान्तरे समर्थः ॥ १३ ॥

आप्तपुरुषोपदेश आगमः ॥ १४ ॥

यथानुभूतानुमितश्रुतार्थाविसंवादिवचनः[2] पुमानाप्तः ॥ १५ ॥

सा वागुक्ताप्यनुक्तसमा यत्र नास्ति सद्युक्तिः ॥ १६ ॥

वक्तुर्गुणगौरवाद्वचनगौरवं[3] ॥ १७ ॥

किं मितम्पचेषु[4] धनेन चंडालसरसि वा जलेन यत्र सतां[5] नोपभोगः ॥ १८ ॥

लोकस्तुगतानुगतिको यतोऽसौ सदुपदेशिनीमपि कुट्टिनीं धर्मेषु न तथा प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणं ॥ १९ ॥

इति विचार-समुद्देशः ।

---

१ भविष्यतोः शुभाशुभयोर्लिंगं मु–पुस्तके । २ श्रुतार्थो वाविसंवादिवचनः मु–पुस्तके । ३ वचनगौरवं न स्वतः मु–पुस्तके । ४ मितं परिमितं पचन्ति ते मितंपचाः कृपणा इत्यर्थः । ५ स्वतां मू-पुस्तके । यत्र न सन्तानोपभोगः मु–पुस्तके । 'सदुपदेशेषु च' धर्मेषु इत्यस्य स्थाने मु–पुस्तके पाठः ।

१६ व्यसन-समुद्देशः ।

व्यस्यतीत्यावर्तयत्येनं पुरुषं श्रेयस इति व्यसनं ॥ १ ॥

व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ॥ २ ॥

सहजं व्यसनं धर्मसंभूताद्भुताभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योगपुरुषैश्च प्रशमयेत् ॥ ३ ॥

शिष्टसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥ ४ ॥

स्त्रियमतिभजमाने भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥ ५ ॥

सौम्यधातुक्षयः सर्वधातुक्षयं करोति ॥ ६ ॥

पानशौण्डश्चित्तभ्रमान्मातरमप्यभिगच्छति ॥ ७ ॥

मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषद्दायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥ ८ ॥

नास्त्यकृत्यं द्यूतासक्तस्य मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव कितवः ॥ ९ ॥

पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥ १० ॥

दिवास्वापः सुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदंडः सकलकार्यान्तरायश्च ॥ ११ ॥

न परपरिवादात्परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥ १२ ॥

तौर्यत्रिकासक्तिः कं नाम न प्राणार्थमानैर्विजयते ॥ १३ ॥

मेषोद्यानविधायकमप्यनर्थं विरमयति ॥ १४ ॥

---

१ युक्तिमद्भिः पुरुषैः । २ षण्ढः । ३ सक्तिस्तिव्रमव्याल० मु—पुस्तके । ४ पुरुषमति मु—पुस्तके नास्ति । ५ अस्य सूत्रस्य स्थाने इद सूत्रं मु-पुस्तके 'वृथाढया नाविधाय कमप्यनर्थं विरमन्त्यतीर्वेर्ष्यालवः' ।

अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियस्त्यजन्ति निघ्नन्ति वा पुरुषं ॥ १५ ॥

परपरिग्रहा[1]भिगमः कन्यादूषणं वा सा[2]हसं दशमुखदाण्डिक्य-विनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥ १६ ॥

यत्र नाहमित्यध्यवसायः साहसं ॥ १७ ॥

अर्थदूषणः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनं ॥ १८ ॥

अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थस्य[3] दूषणं ॥ १९ ॥

हर्षामर्षाभ्यामका[4]रणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्या[5]त् किं पुनर्मनुष्यं ॥ २० ॥

श्रूयते हि निष्कारणं भूतावमानिनौ वातापिरिल्वलश्चासुरापगस्त्यस्यात्यासादनाद्विनेशतुरिति ॥ २१ ॥

यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते ॥ २२ ॥

अन्यायेन तृणशलाकापि गृहीता प्रजा भेद[6]यति ॥ २३ ॥

तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥ २४ ॥

प्रजाविभवो हि स्वामिनो द्वितीयं भाण्डागारमतो युक्तितस्तमु[7]पयुञ्जीत ॥ २५ ॥

रा[8]ज्ञा परिगृहीतं तृणमपि [गृहीतं[9] परेण] काञ्चनीभवति जायते च पूर्वसंचितस्यार्थस्यापहारः ॥ २६ ॥

---

१ परिग्रहादिभिगमः मू—पुस्तके । २ साहसं सुप्रसिद्धमेव दशमुखदाण्डिक्यविनाशहेतुः मु—पुस्तके पाठः । ३ अर्थदूषणं मु—पुस्तके । ४ अकारणं पदं मु—पुस्तके नास्ति । ५ नोपहन्यते मु—पुस्तके । ६ खेदयति मु—पुस्तके । ७ तमपि भुञ्जीत मु—पुस्तके । ८ राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति मु—पुस्तके इत्येव सूत्रं । ९ कंसस्थः पाठः पुस्तकस्थ एव । नेदं सूत्रं मु—पुस्तके अस्य सूत्रस्य स्थाने ' येन हृदयसन्तापो जायते तद्वचनं हि वाक्पारुष्यं '।

वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥ २७ ॥

ज्ञातिवयोवृत्तविद्याविभवानुचितं हि वचनं वाक्पारुष्यं ।२८।

स्त्रियमपत्यं भृत्यं वा तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा[1] हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव वचनतो न ते दुर्मनायन्ते ॥ २९ ॥

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं वा क्रमेण दंडपारुष्यं ॥ ३० ॥

एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गवान[2]पि राजा विनश्यति किं पुनर्नाष्टादशभिः[3] ॥ ३१ ॥

इति व्यसन-समुद्देशः ।

---

१ विनयं ग्राहयेत् इत्यस्य स्थाने विनयेदिति पाठः मु—पुस्तके । २ चतुरङ्गोऽपि मु—पुस्तके । ३ किं पुनरष्टादशभिः मु—पुस्तके ।

१७ स्वामि-समुद्देशः ।
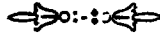
धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ॥ १ ॥

कोपप्रसादयोः स्वतंत्रता आत्मातिशयवर्धनं वा यस्यास्ति स स्वामी ॥ २ ॥

स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयो भवन्त्यभिप्रेतप्रयोजना नास्वामिकाः ॥ ३ ॥

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ४।

अमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुष[1]प्रयत्नः ॥ ५ ॥

असत्यवादिनो विनश्यन्ति सर्वे[2] गुणाः ॥ ६ ॥

वंच[3]केषु न परिजनो नापि चिरमायुः ॥ ७ ॥

स प्रियो लोकानां यो ददात्यर्थम् ॥ ८ ॥

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः ॥ ९ ॥

प्रत्युपकर्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव ॥ १० ॥

तज्जन्मान्तरेषु न केषामृणं येषामप्रत्युपका[4]रं परार्थानुभवनम् ॥ ११ ॥

किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न[5] गार्भिणी वा ॥ १२ ॥

---

१ महापुरुष मु-पुस्तके । २ सर्वेऽपि मु-पुस्तके । ३ वंचकेषु न धनं न परिजनो न चिरमायुः मु-पुस्तके पाठः । ४ कारि मु-पुस्तके । ५ ' न गार्भिणी वा ' इति पदं मु-पुस्तके नास्ति ।

किं तेन स्वामिप्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ॥ १३ ॥

क्षुद्रपरिषत्कः[1] सर्पवानाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥ १४ ॥

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सन्ति सहायाः ॥ १५ ॥

अविशेषज्ञः शिष्टैर्नाश्रीयते ॥ १६ ॥

आत्मम्भरिः[2] कलत्रेणापि त्यज्यते ॥ १७ ॥

अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥ १८ ॥

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता तत्कर्म[3]प्रवीणत्वमित्युत्साहगुणाः ॥ १९ ॥

अन्यायप्रवृत्ति[4]र्न चिरं सम्पदः ॥ २० ॥

यत्किंचनकारी स्वैः परैर्वा[5] हन्यते ॥ २१ ॥

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ २२ ॥

दत्तभुक्तफलं[6] धनम् ॥ २३ ॥

रतिपुत्रफला[7] दाराः ॥ २४ ॥

राजाज्ञा हि सर्वेषामलंघ्यः[8] प्राकारः[9] ॥ २५ ॥

आज्ञाभंगकारिणं सुतमपि[10] न सहेत ॥ २६ ॥

कस्तस्य चित्रगतस्य च[11] राज्ञो विशेषो यस्याज्ञा[12] नास्ति ॥२७॥

---

१ परिष्वक्तः मु-पुस्तके । २ केवलं स्वोदरपूरकः । ३ तत्तत्कर्म० मु-पुस्तके। ४ अन्यायप्रवृत्तेर्न चिरं सम्पदो भवन्ति मु-पुस्तके । ५ परैः स्वैर्वा मु-पुस्तके । न्याय्यमन्याय्यं हितमहितं वा यत्किंचित्करोतीति यत्किंचनकारी । ६—७ सूत्रद्वयं मुद्रितपुस्तके नास्ति । ८ मलंघ्या मु-पुस्तके । ९ शब्दोयं मु-पुस्तके नास्ति । १० पुत्रमपि मु-पुस्तके । ११—१२ चः मु-पुस्तके नास्ति आज्ञा-शब्दोऽपि ।

राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञाप्रतिदा[1]ने उत्तमः[2] साहसदण्डः ॥२८॥

स[3]म्बन्धाभावे तद्दातुश्च ॥ २९ ॥

परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धेयमसत्यमतिमात्रं च न भाषेत ॥३०॥

वेषमाचारं वानभिज्ञा[4]तं न भजेत् ॥ ३१ ॥

प्रभौ[5] विकारिणि को नाम न विकुरुते ॥ ३२ ॥

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥ ३३ ॥

राज्ञावज्ञातो यः स स[6]र्वैरवज्ञायते ॥ ३४ ॥

पू[7]जितं हि पूजयन्ति लोकाः ॥ ३५ ॥

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥ ३६ ॥

यथावसरम[8]प्रतीहारसंगं द्वारं कारयेत् ॥ ३७ ॥

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्या[9]समासन्नैः कार्यतेऽतिसंधीयते च द्विषद्भिः ॥ ३८ ॥

वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्धनादिव नियोगिषु भर्तुर्व्यसनवर्धनादपरो नास्ति जीवनोपायः ॥ ३९ ॥

कार्यार्थिनो लं[10]चो लुञ्चति ॥ ४० ॥

निशा[11]चराणां भूतबलिं न कुर्यात् ॥ ४१ ॥

लंचो हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥ ४२ ॥

---

१ दानेन मु—पुस्तके । २ उत्तमसाहसो दण्डः मु—पुस्तके । ३ दण्डयस्य अपराधसम्बन्धाभावे । ४ वानभिज्ञातु मु—पुस्तके । ' वेषं समाचारं वानभिजानन्न तं भजेत् ' मु—पुस्तके । ५ प्रभवो विकारिणो नाम न विकुरुते मु—पुस्तके । ६ सर्वैरप्यवज्ञायते मु—पुस्तके । ७ ' पूजितं हि ' लि-मू—पुस्तके नास्ति । ८ यथावसरमसंगद्वारं मु—पुस्तके । ९ कार्यविपर्यास मु—पुस्तके । १० कार्यार्तिनः लंचलुंच मू—पुस्तके । ११ लंचचरां मुद्रित-पुस्तके ।

मातुः स्तनमपि लुनंति[1] लंचोपजीविनः ॥ ४३ ॥

लंचेन कार्यकारिभिरु[2]रुभ्रवत्स्वामी विक्रीयते ॥ ४४ ॥

प्रासाद[3]विध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लंचेन राज्ञोऽर्थलाभ[4]ः ॥ ४५ ॥

राज्ञो लंचेन कार्यकरणं[5] कस्य नाम कल्याणम् ॥ ४६ ॥

देवतापि यदि [6]चोरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥ ४७ ॥

लंचेनार्थोपायं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तंत्रं च भक्षयति ४८

राज्ञो[7]ऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालंघनं, आदित्यस्य तमः-पोष[8]णं, मातुः स्वापत्यभक्षणमि[9]ति कलिकालविजृंभितानि ॥४९॥

राजा काल[10]स्य कारणं ॥ ५० ॥

न्यायतः परिपालिके राज्ञि प्रजानां कामदुघा भवन्ति[11] सर्वा दिशः, काले च वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति ॥५१॥

राजानमनुवर्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालास्तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः ॥ ५२ ॥

अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन कुटुंबिनः[12] प्रतिसंभावयेत् ॥ ५३ ॥

राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही स्वकुटुंबं कलत्राणि तु[13] वंशवर्धनं क्षेत्राणि ॥ ५४ ॥

---

१ लुम्बन्ति मु–पुस्तके। २ कार्याभिरुद्धः स्वामी मु–पुस्तके। ३ प्रसादनेन मू—पुस्तके। ४ लोभः मू—पुस्तके। ५ कार्यकरणे मू—पुस्तके। ६ चौराणां मु—पुस्तके। ७ राज्ञा; लंघनमिव, पोषणमिव भक्षणमिव मु—पुस्तके। ८ शोषणं मू—पुस्तके। ९ इति शब्दो मु—पुस्तके नास्ति। १० विशेषस्य कालस्य मु—पुस्तके। ११ ‘ भवन्ति सर्वा ’ मु-पुस्तके नास्ति। १२ ‘ कुटु-म्बिनः प्रति ’ मु-पुस्तके नास्ति। १३ तुर्नास्ति मु-पुस्तके।

अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृह्णीयात्[1] ॥ ५५ ॥

आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ॥ ५६ ॥

पूज्यैः सह[2] नाधिरुह्य वदेत् ॥ ५७ ॥

भृत्यमशक्यमप्रयोजनं[3] च जनं नाशया क्लेशयेत् ॥ ५८ ॥

पुरुषो हि न पुरुषस्य दासः किन्तु धनस्य ॥ ५९ ॥

को नाम न धनहीनो भवति लघुः ॥ ६० ॥

पराधीनेषु[4] नास्ति शर्मसम्पत्तिः ॥ ६१ ॥

सर्वधनेषु विद्यैव प्रधानम(न)पहार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ६२

सरित्समुद्रमिव नीचमुपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि[5] राजानं संगमयति परन्तु भाग्यानां भवति[6] व्यापारः ॥ ६३ ॥

सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्तजगतः स्थितिज्ञानम्[7] ॥ ६४ ॥

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु[8] प्राज्ञोऽप्यवज्ञायते एव ६५

ते खलु प्रज्ञापारमिताः[9] पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ॥ ६६ ॥

अनुपयोगिना महतापि किं जलधिजलेन ॥ ६७ ॥

इति स्वामि-समुद्देशः ।

---

१ अप्रतिगृह्णीयात् मु-पुस्तके । २ सदाधिरुह्य न वदेत् मु-पुस्तके । ३ भृत्यमशक्यप्रयोजनं नाशया० मु-पुस्तके । ४ सूत्रमिदं मु-पुस्तके नास्ति । ५ दुर्दर्शनं मु-पुस्तके । ६ भवतिः मु-पुस्तके नास्ति । ७ स्थितिपरिज्ञानं मु-पुस्तके । ८ मूर्खोऽपि सर्वज्ञो मु-पुस्तके ९ प्रज्ञावारम्ताः मू-पुस्तके ।

१८ अमात्य-समुद्देशः ।

चतुरंगयुतोऽपि नानमात्यो राजास्ति किं पुनरन्यः[1] ॥ १ ॥

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति[2] ॥ २ ॥

नह्येकचक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥

किमवातः[3] सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥ ४ ॥

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयो[4]र्दानमानाभ्यां सम्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः ॥ ५ ॥

आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥ ६ ॥

आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनमेव[5] ॥ ७ ॥

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥ ८ ॥

यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ॥ ९ ॥

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्यं[6] श्रमणायत एव ॥ १० ॥

राज्ञः[7] शरीरं धर्मः कलत्रमपत्यानि च स्वामिशब्दार्थाः ॥ ११ ॥

तंत्रं चतुरङ्गबलम् ॥ १२ ॥

---

१ पुनरेकः मु-पुस्तके । २ अस्तिः मु-पुस्तके नास्ति । ३ किं प्रवातः मु-पुस्तके । ४ कर्षाभ्यां मु-पुस्तके । ५ यथा पृथुबुध्नोदरोऽल्पग्रीवो विस्तृतमुखश्च मुनिजनानां कमंडलुर्जलस्य ग्रहणं त्वरया करोति विसर्गे च सूक्ष्मनलिकारूपेण तेन मुखेन शनैः शनैर्जलं विसृजति तथा महता प्रमाणेनायं कृत्वा अल्पप्रमाणेन व्ययः कार्यः इत्यर्थः । ६ अवश्यं एवेति च मु-पुस्तके नास्ति । श्रमणायते श्रमणो भिक्षुस्तद्वदाचरति दरिद्रो भवतीत्यर्थः । ७ वाक्यं राज्ञः मु-पुस्तके ।

तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचिं व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्यप्रत्यावर्तनमतिव्ययशीलमन्यदेशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत ॥ १३ ॥

तीक्ष्णोऽभियुक्तः स्वयं म्रियते मारयति वा स्वामिनं ॥१४॥

बलवत्पक्षो नियोग्यभियुक्तो[1] व्यालगज इव[2] समूल नृपांघ्रिपमुन्मूलयति ॥ १५ ॥

अल्पायतिर्[3]महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥ १६ ॥

अल्पायमुखो महाजनः परिग्रहं च पीडयति ॥ १७ ॥

नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः प्राणाधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापि गन्तारोऽपकर्तारो वा ॥ १८ ॥

स्वदेशजेष्वर्थः कूपे पतित इव कालान्तरमपि लब्धुं शक्यते ॥ १९ ॥

चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद्वल्कलोत्पाटनमिव ॥ २० ॥

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुं अनुगृहीतुं च शक्यते ॥ २१ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियः सम्बन्धी वा नाधिकर्तव्यः[4] ॥ २२ ॥

ब्राह्मणो जातिबलात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण[5] प्रयच्छति न प्रयच्छति वा ॥ २३ ॥

क्षत्रियोऽभियुक्तः खड्गं दर्शयति ॥ २४ ॥

ज्ञातिभावेनातिक्रम्य बन्धुः सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥ २५ ॥

---

१ नियोग्यनियुक्तो मु.। २ जलकल्लोल इव मत्तगज इव च. मु.। ३ अल्पायो मु.। ४ नाधिकारीं कर्तव्यः। ५ शब्दोऽयं मु-पुस्तके नास्ति।

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौखो यौनश्चेति ॥ २६ ॥

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः ॥ २७ ॥

मुखेन परिज्ञातो मौखः ॥ २८ ॥

योनेर्जातो यौनः ॥ २९ ॥

वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥ ३० ॥

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥३१॥

मान्योधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥ ३२ ॥

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशंकते ॥ ३३ ॥

उपकर्ताधिकारस्थ उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पति ॥ ३४ ॥

सहपांसुक्रीडितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ॥ ३५ ॥

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ॥ ३६ ॥

शकुनिशकटालावत्र दृष्टान्तौ ॥ ३७ ॥

सोऽधिकारी चिरं नन्दति यः स्वामिप्रसादेन नोत्सेकयति ॥ ३८ ॥

सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रत्वनाशः ॥ ३९ ॥

मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां सन्देहो निश्चितौ चानर्थनरकपातौ ॥ ४० ॥

---

१ स बन्धु मु.। २ मैत्रो मु.। ३ पितृपितामहाद्यागतः श्रौतः मु.। ४ आत्मना प्रतिपन्नो मैत्रः मु.। ५ सूत्रमिदं लि-मू-पुस्तके नास्ति मु-पुस्तकात्संयोजितः। ६ वाच्चिके सम्बन्धा देवा मू-पुस्तके। ७ कमप्यधिकारिणं कुर्यात् मु.। ८ अनुशयेत् मु.। ९ राजानमव० मु.। १० नापराध्येष्वा० मु.। ११ उपकर्ताधिकारी. मु.। १२ सर्वमेवार्थं लुम्पति मु.। १३ मु-पुस्तके भवतिर्नास्ति।

किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन[1] कार्यं सुखं वा ॥ ४१ ॥

का नाम निर्वृत्तिः[2] स्वयमूढतृणभोजिनो गजस्य ॥ ४२ ॥

सैंधवा[3] स्वधर्माणः कर्मसु विनियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत ॥ ४३ ॥

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वासकरणम् ॥ ४४ ॥

ऋवेद्धिश्चित्तविकारिणी[4] श्रीरिति सिद्धानामादेशः ॥ ४५ ॥

सर्वोऽप्यतिसमृद्धो भवत्यायत्यामसाध्यः[5] कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ॥ ४६ ॥

भक्षणमुपेक्षणं प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्थाप्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्यदोषाः ॥ ४७ ॥

बहुमुख्यमनित्यं च करणं[6] स्थापयेत् ॥ ४८ ॥

स्त्रीष्वर्थेषु[7] च मनागप्यधिकारे[8] न जातिसम्बन्धः ॥ ४९ ॥

परदेशजत्वापेक्षानित्यश्चाधिकारः[9] ॥ ५० ॥

अदायकनिबन्धकप्रतिकण्टकविनिग्राहकराजाध्यक्षाः करणानि ॥ ५१ ॥

आयव्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी[10] ॥ ५२ ॥

नीवीनिबन्धनपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधेत् ॥५३॥

---

१ यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुखं वा स्वामिनः मु.। २ निर्वृतिः—सुखं। ३ अश्वेण धर्मिण: पुरुषाः मु-पुस्तके। ४ ऋद्धिश्चित्तविकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः मु.। ५ त्यायलाभसाध्यः मु.। ६ करणं राज्यतंत्रं तद्बहुमुखं बहूनामधिकारिणां बुद्धया निर्वहणीयं कुर्यात्। एकोधिकारी स्वेच्छया कदाचिदनर्थमप्युत्पादयेत्। ७ ष्वर्थे मु.। ८ कारेण जाति० मु.। ९ स्वपरपरदेशजावनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकारः मु.। १० आयव्ययविशुद्धं द्रव्यनीवीनिबन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् मु.।

आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

नित्यपरीक्षणं कर्मविपर्ययः प्रतिपत्तिदानं च नियोगिष्वर्थग्रहणोपायाः ॥ ५५ ॥

नापीडिता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तःसारमुद्वमन्ति ।५६।

पुनः पुनरभियोगो नियोगिषु महीपतीनां वसुधारा ॥५७॥

सकृन्निष्पीडितं स्नानवस्त्रं किं जहाति सार्द्रताम् ॥ ५८ ॥

देशमापीडयन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभेत ॥ ५९ ॥

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र नियोजयेत् ॥ ६० ॥

न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किन्तु बुद्धिपुरुषकारौ[2] वा शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥ ६१ ॥

अनिवेद्य भर्तुर्न कंचिदारंभं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः। ६२ ।

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः[3] ॥ ६३ ॥

परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥ ६४ ॥

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां[4] द्वितीयः कोशः ॥ ६५ ॥

सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान् ॥ ६६ ॥

यन्निबन्धनं जीवितम् ॥ ६७ ॥

न[5] खलु मुखे प्रक्षिप्तं सत्करोति द्रविणं प्राणत्राणं यथा धान्यम् ॥ ६८ ॥

---

१ वस्त्रिति मू पुस्तके नास्ति । २ कारावेन । ३ अस्मादग्रे दं सूत्रं मुद्रितपुस्तके ' मूल-धनाद्द्विगुणाधिको लाभो भाण्डस्थो वणिजो भवति राज्ञः ' । ४ अस्मादग्रे ' सकलः प्रयासश्च इत्यधिकः पाठः मु—पुस्तके । ५ अस्य स्थाने न खलु मुखे प्रक्षिप्तं महदपि द्रव्यं प्राणत्राणाय यथा धान्यं ।

सर्वधान्येषु चिरंजीविनः कोद्रवाः ॥ ६९ ॥
अनवं नवेन वर्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥ ७० ॥
लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥ ७१ ॥
सर्वरसमप्यलवणमन्नं गोमयायते ॥ ७२ ॥

इत्यमात्य-समुद्देशः ।

---

१ सर्वशब्द; नास्ति मु-पुस्तके । २ सर्वसरस मु. ।

जनपद-समुद्देशः ।

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रं ॥ १ ॥

भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशति ददातीति देशः ॥ २ ॥

विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विसिनोति बध्नातीति विषयः ॥ ३ ॥

सर्वकामदुघोत्वेन पतिहृदयं मंडयति भूषयतीति मण्डलं॥४॥

जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥ ५ ॥

निर्जेपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रुहृदयं दारयति भिनत्तीति दरंत् ॥ ६ ॥

आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निगमयति निर्गमयतीति निगमः ॥ ७ ॥

अन्योन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवानतिवृद्धानतिहीन-ग्रामो बहुसारविचित्रधान्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्य-हितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणाः॥ ८ ॥

विषतृणोदकोषरपाषाणकंटकगिरिगर्तगव्हरप्रायभूमिर्भूरिवर्षा-जीवनो व्याललुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाभाव इति देशदोषाः ॥ ९ ॥

---

१ राजा मु. । २ दुघत्वेन मु. । ३ नरपति मु । ४ जनपते मु. । ५ दारकः मु. । ६ अयं मु-पुस्तके नास्ति । ७ निर्गमः मु. । ८ मातिवृद्धहीनग्रामो बहुसारविचित्रो धान्यहिरण्यपण्योत्पत्ति० मु. । ९ फलाधार मु. ।

तत्र सदा दुर्भिक्षं[1] यत्र जलदजलेन[2] सस्यनिष्पतिरकृष्टभूमिकश्चारंभः ॥ १० ॥

क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुद्ध्यन्ते ॥ ११ ॥

ति। कासु? आबाधासु पीडासु परिभवजासु। किंविशिष्टासु? स्वल्पास्वपि, अपि क्षात्रा अर्थवसात्। तथा च शुक्रः—

वसन्ति क्षत्रिया येषु ग्रामेष्वतिनिरर्गलाः।
स्वल्पापराधतोऽप्येव तेषु युद्धं न शाम्यति ॥ १ ॥

अथ द्विजलोकस्य स्वरूपमाह—

म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं[3] प्रयच्छति ॥ १२ ॥

टीका—योऽसौ द्विजलोको ब्राह्मणजनः स म्रियमाणोऽपि प्राणात्ययेऽपि योऽर्थो गृहीतस्तं न प्रयच्छति। केन? सान्त्वेन साम्ना यावद्दण्डो न दर्शितः। तथा च शुक्रः—

ब्राह्मणैर्भक्षितो योऽर्थो न स सान्त्वेन लभ्यते।
यावन्न दण्डपारुष्यं तेषां च क्रियते नृपैः ॥ १ ॥

अथ राजा स्वदेशोत्थस्य जनस्य परदेशं गतस्य यत्क्रियत तदाह—

स्वभूमिकं भुक्तपुर्वमभुक्तं[4] वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च ॥ १३ ॥

टीका—आवहेत् आनयेत्। कं? जनपदं। कस्मात्? परदेशात्। वासयेच्च। कं? जनपदं लोकं। किंविशिष्टं? भुक्तपूर्वं यं पुरा भुक्तं गृहीतकरं तं यदि परदेशगतं भवति अभुक्तं वा आनयेत् आत्मीयदेशीयं त्वा (यत्वात्) यस्य करो न गृहीतस्तमप्यानयेत्। कथं स्वदेशाभिमुखो यथा भवति। काभ्यां आनयेत्? दानमानाभ्यां। तथा च शुक्रः—

---

१ दुर्भिक्षमेव मु.। २ जलदेन, जलेनेति शब्दो नास्ति मु। ३ प्रयच्छति सिद्धमध्यर्थं मू०। ४ भूतपूर्वमभूतमूर्वं वा।

परदेशं गतं लोकं निजदेशे समानयेत् ।
भुक्तपूर्वमभुक्तं वा सर्वदैव महीपतिः ॥ १ ॥

अथ स्वल्पोऽप्युपद्रवो यत् करोति तदाह—

स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति ॥ १४ ॥

टीका—नाशयति नाशं नयति । किं तत्? अर्थं । किंविशिष्टं? महान्तं प्रभूतमपि । कोऽसौ? उपद्रवः अन्यायेनार्थग्रहणं । किंविशिष्टं (ष्टः)? स्वल्पमपि (पोऽपि) । कासां? प्रजानां । केषु? आदायेषु आदायस्थानेषु आगतिस्थानेषु । स्वल्पोऽपि योऽसा उपद्रवोऽअन्यायकरणं प्रभुतस्यार्थस्य नाशं करोति । कथं न तत्र स्थाने व्यवहारेणागच्छति ततः किं न भवति । तथा च गुरुः—

शुल्कस्थानेषु योऽन्यायः स्वल्पोऽपि च प्रवर्तते ।
तत्र नागच्छते[1] कश्चिद्व्यवहारी कथंचन ॥ १ ॥

अथ क्षीरिषु कणिशेषु यद्भवति तदाह—

क्षीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ॥ १५ ॥

टीका—उद्वासयति देशान्तरं प्रेषयति । कोऽसौ? सिद्धादायः परिपच्यमानग्रहणं । कं? जनपदं । केषु,? क्षीरिषु कणिशेषु क्षीरिणः कणशा यवगोधूमादयस्तेषां यद्ग्रहणं राजा करोति । एतदुक्तं भवति, अपरिपक्केषु यवगोधूमेषु पक्का (?) यो दण्डस्तस्य ग्रहणं स्वेच्छया करोति तज्जनपदमुद्वासयति । तथा च शुक्रः—

क्षीरयुक्तानि धान्यानि यो गृह्णाति महीपतिः ।
कर्षकाराणां करोत्यत्र विदेशगमनं हि सः ॥ १ ॥

अथ लवनकाले यस्य सेनाप्रचारो भवति तस्मिन् देशे यत्स्यात्तदाह—

लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ॥ १६ ॥

---

1 गम्लृ इति परस्मैपदिधातुस्तस्य आत्मनेपदित्वं चिन्त्यम् ।

टीका—परिपक्वसस्यकाले योऽसौ सेनाप्रचारः । स किं करोति ? दुर्भिक्षं आवहति—तस्मिन् देशे दुर्भिक्षं जनयति । एतदुक्तं भवति, पक्वमानेन सकस्तै श्रुवतिः कस्मात् (?) तत्र परदेशे सैन्यप्रचारः कर्तव्यः न स्वदेशे । तथा च जैमिनिः—

सस्यानां परिपक्वानां समये यो महीपतिः ।
सैन्यं प्रचारयेत्तत्र दुर्भिक्षं प्रकरोति सः ॥ १ ॥

अथ प्रजानां पीडनेन कोशस्य यद्भवति तदाह—

सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति ॥ १७ ॥

टीका—पीडयति रिक्ततां नयति । कं ? कोशं, भाण्डागारं । काः पीडयंति ? सर्वबाधाः सर्वपीडनानि । कासां ? प्रजानां यानि पीडनानि तैर्भूपालै (?) भांडागारेऽर्थो न प्रविशति । तथा गर्गः—

प्रजानां पीडनाद्वित्तं न प्रभूतं प्रजायते ।
भूपतीनां ततो ग्राह्यं प्रभूतं येन तद्भवेत् ॥ १ ॥

अथ स्वयं दत्तस्य राज्ञा यत्कर्तव्यं तदाह—

दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात् ॥ १८ ॥

टीका—अनुगृह्णीयात् कथं दत्तपरिहारं यथा भवति येऽकराः कृतास्तेषां करो न ग्राह्यः । तथा च नारदः—

अकरा ये कृताः पूर्वं तेषां ग्राह्यः करो न हि ।
निजवाक्यप्रतिष्ठार्थं भूभुजा कीर्तिमिच्छता ॥ १ ॥

अथ मर्यादातिक्रमेण यादृग्भूमिर्भवति तदाह—

मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥ १९ ॥

टीका—अरण्यानी भवति अरण्यं भवति । कासौ भूमि ? किं विशिष्टापि ? फलवत्यपि समृद्धापि । केन कृत्वा ? मर्यादातिक्रमेण व्यवहारलंघनेन । तथा च गुरुः—

मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते।
समृद्धापि च सा द्रव्यैर्जायतेऽरण्यसन्निभा ॥ १ ॥

अथ प्रजानां वर्धनोपायो यथा भवति तदाह—

क्षीणजनसम्भावनं तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः कदाचित्किंचिदुपजीवनमिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥ २० ॥

टीका—वर्धनोपायः वृद्धिकारी उपायः। कासां? प्रजानां। क्षीणजनसम्भावनं तावत् क्षीणो दुर्बलो यः कुटुम्बी, सम्भावनं उद्धारकदानं प्रतिशतकवृद्धया। तथाग्रहोऽग्रहणं कस्यास्तृणशलाकाया अपि। आस्तां तावत्, कदाचित्कस्मिन् काले किंचिदुपजीवनं दण्डग्रहं स्तोकं ग्राह्यं येन स्वयमुपजीवनं निर्वाहणं भवति इत्यनेन त्रिविधेन परम उत्कृष्टो वर्द्धनोपायः प्रजानामिति। तथा च नारदः—

चिन्तनं क्षणवृत्तानां स्वग्राहस्य विवर्जनम्।
युक्तदण्डं च लोकानां परमं वृद्धिकारणं ॥ १ ॥

अथ न्यायेन रक्षिता पिण्ठा राज्ञो यादृग्भवति तदाह—

न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी पिण्ठा राज्ञां कामधेनुः २१

टीका—कामधेनुर्भवति वाञ्छितप्रदात्री भवति। कासौ? पिण्ठा शुल्कस्थानं। किंविशिष्टा पिण्ठा? पण्यपुटभेदिनी पण्यानि वणिग्जनानां कुंकुमहिंगुवस्त्रादीनि क्रयाणकानि तेषां पुटाः स्थानानि भिद्यन्ते यस्यां सा पण्यपुटभेदिनी। किंविशिष्टा सती स्यात्कामधेनुः? (रक्षिता) परिपालिता सती। केन कृत्वा? न्यायेन नीत्या, किंविशिष्टं रक्षणं तस्या अधिकशुल्काग्रहणं तथा चौरादिभिर्यद्गृह्यते तस्यां तत्स्वयमेव दातव्यं। तथा च शुक्रः—

ग्राह्यं नैवाधिकं शुल्कं चौरैर्यच्चाहृतं भवेत्।
पिण्ठायां भूभुजा देयं वणिजां तत्स्वकोशतः ॥ १ ॥

अथ राज्ञां चतुरंगबलहेतवो ये भवन्ति तानाह—

राज्ञां चतुरंगबलाभिवृद्धये भूयांसो भक्तग्रामाः ॥ २२ ॥

टीका—राज्ञो भूपस्य चतुरंगबलाभिवृद्धये भवन्ति चतुरङ्गं यद्बलं हस्त्यश्वरथपदातिसङ्गं वृद्धिहेतवो वृद्धिकारणानि एते भक्तग्रामाः। येषु भक्तं धान्यं उत्पद्यते। किंविशिष्टास्ते ? भूयांसो बहवः कस्यचित्ते न देयाः। तथा च शुक्रः—

चतुरंगबलं येषु भक्तग्रामेषु तृप्यति।
वृद्धिं याति न देयास्ते कस्यचित्सस्यदा यतः॥ १ ॥

अथ राज्ञः कोशहेतुर्यद्भवति तदाह—

सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याय युक्तं शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः॥२३॥

टीका—यस्य राज्ञो देशे गोमण्डलं प्रचुरगावो भवन्ति। कस्मै ? द्रव्याय हिरण्याय भवति तद्रू(प)तेर्युक्तं तथा शुल्कं च शुल्कशब्देन वणिग्जनस्य पण्यस्य युक्तं यदर्थग्रहणं तच्छुल्कमुच्यते तेन कोशो वृद्धिं याति। तथा च गुरुः—

प्रभूता धेनवो यस्य राष्ट्रे भूपस्य सर्वदा।
हिरण्याय तथा शुल्कं युक्तं कोशाभिवृद्धये ॥ १ ॥

देवद्विजप्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुश्च सुखनिर्वाहा ॥ २४ ॥

टीका—देवद्विजानां विबुधब्राह्मणानां या देया भूमिः सा किंप्रमाणा ? गोरुतप्रमाणा गोरुतं गोशब्दो यावन्मात्रायां भूमौ श्रूयते तावन्मात्रा देया। ननु कस्मादभ्यधिका न दीयते यतस्तावन्मात्रा दत्ता भवति सुखावहा आदातुश्च प्रतिग्रहयुक्तस्य स्तोकं मत्वा न कश्चिल्लोपं नयति। तथा च गौतमः—

देवद्विजप्रदत्ता भूः प्रदत्ता लोपं नाप्नुयात्।
दातुश्च ब्राह्मणस्यापि शुभा गोशब्दमात्रका ॥ १ ॥

---

१ वृद्धिहेतव इत्यपि पाठः। २ ' प्रभूता लोपमाप्नुयात् ' इति सुभाति।

अथान्येषां भूदानानां स्वरूपमाह

क्षेत्रवप्रखण्डगृहधर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधितः (घते) पुनरुत्तरं पूर्वः ॥ २५ ॥

टीका—एतेषां पंचप्रकारणां भूदानानां योऽयं स्याद्भूदानविषयस्योत्तरो द्वितीयः स पूर्वं प्रथमं आबाधयेत् लघुतां नयेदित्यर्थः। न प्रथमो द्वितीयं। एतदुक्तं भवति क्षेत्रदानात्परं तडागदानं तस्मात्खंडदानं तस्माद्गृहदानं तस्माद्धर्मायतनदानं, तत्सारदानां देवायतनकरमित्यर्थः (?)। तथा नोत्तरात् पूर्वं। सर्वेषामुत्तरः प्रासादः तस्मादत्यर्थगृहं ताप्या(?) (तस्मादुत्तरं गृहं)। तस्मात्खण्डं तस्माद्वप्रः तस्मात्कोलघुः (क्षेत्रं) वाशब्दः समुच्चये।

इति जनपदसमुद्देशः।

---

२० दुर्ग-समुद्देशः ।

अथ दुर्गसमुद्देशो लिख्यते । तत्रादावेव दुर्गलक्षणमाह—

यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गं ॥ १ ॥

टीका—यस्य दुर्गस्याभियोगात्प्राप्तेः परे शत्रवो दुःखं यान्ति तथा दुर्जनान्वेषणायां यत्तद्ग्रहणार्थं योऽसावुद्यमः तस्य विषयो गोचरं यद्दुर्गं लक्षेन प्रविशति । तथा च व्यासः—

> **ज्ञेयं वप्रवनावासप्रासादानां च सम्भवं ।**
> **उत्तरे भूरिजं दानं ज्ञात्वा कार्यं विपद्भवम् ॥ १ ॥**

तथा स्वस्य विजगीषां (षोः) स्वामिनो यद्दुर्गं नाशं नयति । कां ? आपदं व्यसनं तद्दुर्गमुच्यते । तथा च शुक्रः—

> **यस्य दुर्गस्य संप्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः ।**
> **स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥ १ ॥**
> **दंष्ट्राविरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः ।**
> **दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवेद्रिपोः ॥ २ ॥**

अनु च—

> **देशगर्भे तु यद्दुर्गं तद्दुर्गं शस्यते बुधैः ।**
> **देशप्रान्तगतं दुर्गं न सर्वं रक्षितो जनैः ॥ १ ॥**

तद्द्विविधमाहार्यं स्वाभाविकं च ॥ २ ॥

टीका—आहार्यं यत्स्वयं क्रियते। स्वाभाविकं यत्स्वयं जातं पर्वतदुर्गं जलदुर्गं स्थलदुर्गं च ।

अथ दुर्गसम्पदः स्वरूपमाह—

वैषम्यं पर्याप्तावकाशो यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं स्वस्य परेषामभावो बहुधान्यरससंग्रहः प्रवेशापसारौ वीरपुरुषा इति दुर्गसम्पत्, अन्यद्वन्दिशालावत् ॥ ३ ॥

टीका—दुर्गस्य यासौ सम्पत् विभूतिः सा किंविशिष्टा ? वैषम्यं तावत् विषमता पर्वतेन, तथा पर्याप्तावकाशो विस्तीर्णता तथा यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं यवसो घासः,इन्धनं काष्ठानि, उदकं पानीयं एतेषां त्रयाणां भूयस्त्वं प्रचुरत्वं, कस्य ? स्वस्यात्मनः एतानि वस्तूनि यत्र दुर्गे । तथा एतेषां पूर्वोक्तानां परेषां शत्रूणां ये रोधार्थमागच्छन्ति तेषामभावो यत्र दुर्गद्वारे पूर्वोदितानि वस्तूनि न भवन्ति । तथा यत्र दुर्गे बहुधान्यरससंग्रहः प्रवेशापसारौ भवतः प्रभूतानि धान्यानि प्रभूता रसा अन्यद्वारेण प्रविशन्ति अपसरन्ति निर्गच्छन्तीति निर्गमश्च प्रवेशश्च यस्मिन् दुर्गे तावुभौ सर्वेषामेव वस्तूनां तद्दुर्गं अन्यद्वन्दिशालेव न दुर्गं तत् यदेवंविधं न स्यात् गुप्तिरन्यथा । तथा च शुक्रः—

न निर्गमः प्रवेशश्च यत्र दुर्गे प्रविद्यते ।
अन्यद्वारेण वस्तूनां न दुर्गं तद्धि गुप्तिदं ॥ १ ॥

अथ यस्मिन् देशे दुर्गं न भवति तत्स्वरूपमाह—

अदुर्गो देशः कस्य नाम न परिभवास्पदं ॥ ४ ॥

टीका—यत्र देशे दुर्गं न भवति स देशः कस्य नामाहो परिभवास्पदं परिभवस्थानं न भवति । अपि तु सर्वेषामेव नृपशत्रूणां ।

अथ दुर्गरहितस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः ॥ ५ ॥

टीका—दुर्गरहितस्य राज्ञः आश्रयः स्थानं नास्ति कस्यां ? आपदि व्यसने स्थिते । किंवत् ? पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवत् यथा पयो-

धिमध्ये पोतच्युतस्य तीर्थभ्रष्टस्य पक्षिण आश्रयो नास्ति तथा राज्ञो दुर्ग-रहितस्य । तथा च शुक्रः—

दुर्गेण रहितो राजा पोतभ्रष्टो यथा खगः ।
समुद्रमध्ये स्थानं न लभते तद्वदेव सः ॥ १ ॥

अथ जिगीषोः परदुर्गलंभार्थमुपायानाह—

उपायतो गमनमुपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलंभोपायाः ॥ ६ ॥

टीका—सामादिभिरुपायैस्तावत् शत्रुदुर्गाधिगमनं । तथोपजापो भेदः कार्यः । तथा चिरानुबन्धश्चिरकालवेष्टनं । तथावस्कन्दो धाटीप्रदानच्छलेन । तथा तीक्ष्णपुरुषप्रयोगस्तीक्ष्णा ये पुरुषा घातकास्ते शत्रोः प्रहेतव्याः । यदि वा तीक्ष्णा विषधरास्तैः परदुर्गं शोधनीयं इत्येते परदुर्गहरणे विजिगीषोरुपायाः । तथा च शुक्रः—

न युद्धेन प्रशक्यं स्यात्परदुर्गं कथंचन ।
मुक्त्वाभेदाद्युपायांश्च तस्मात्तान् विनियोजयेत् ॥ १ ॥

तथा च—

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
परेषामपि वीर्याढ्यं तस्माद् दुर्गेण युध्यते ॥ १ ॥

अथ राज्ञा दुर्गविषये यत्कर्तव्यं तदाह—

नामुद्रहस्तो[1]ऽशोधितो[2] वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ७ ॥

टीका—राज्ञो यद्दुर्गं तत्र मुद्रया बाह्यमशोधितस्य पुरुषस्य प्रवेशो न देयो निर्गमश्च न देयः । तथा च शुक्रः—

---

१ यस्य हस्ते राजमुद्रा न दत्ता । २ कोऽयं कुत्रत्यः कस्मादागतः कुत्र वा गच्छतीति न विचारितः ।

प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गे मुद्राविवर्जिताः ।
अशुद्धा निःसरन्ति स्म तद्दुर्गं तस्य नश्यति ॥ १ ॥

अथ दुर्गविषये दृष्टान्तमाह—

श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥ ८ ॥

टीका—एतत् किल श्रूयते हूणाधिपतिर्यो राजा स जग्राह, किं तत्? चित्रकूटं। कैः कृत्वा? सुभटैः। किंविशिष्टैः? पण्यपुटवाहिभिः पण्यपुटा क्रियाणकानां स्थागिकाः प्रोच्यंते तासां मध्ये प्रविश्य सायुधान् पुरुषान् प्रभूतांस्ततो रात्रौ निष्क्रामयित्वा दुर्गाधिपत्यं व्यापाद्य जग्राह। तथा च गुरुः—

भिन्दापयति यो राजा करिष्णाय शलाकया ।
स्थगिका वणिजानां च तस्य दुर्गं न नश्यति ॥ १ ॥

अथान्यमपि दृष्टान्तमाह—

खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांचीपतिमिति ॥ ९ ॥

टीका—तथा खेटखड्गधरा ये पुरुषा नियोधकाः खेटेनाभ्यासेन ये खड्गं धरन्ति ते, सेवार्थं कांचिपतेः शत्रुणा प्रहिताः तैर्भद्राख्यं कांचीपतिं व्यापद्य स्वस्वामिनः कांची दत्ता एवं ज्ञात्वा परदेशगतानां सेवकानां विश्वासो न कर्तव्यः। तथा च जैमिनिः—

स्वदेशजेषु भृत्येषु विश्वासं यो नृपो व्रजेत् ।
स द्रुतं नाशमायाति जैमिनिस्त्विदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इति दुर्गसमुद्देशः ।

---

१ पण्यवस्तुवाहकवेषेण स्वसैनिकान् प्रवेशयित्वा चित्रकूटं स्ववशं प्रापितवान्।

२१ कोश-समुद्देशः ।

अथ कोशसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव कोशलक्षणमाह—

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः ॥ १ ॥

टीका—कुश आश्लेषणे । अर्थवृद्धिं करोतीत्यर्थः । कस्मिन् काले तंत्रवृद्धिं सैन्यवृद्धिं करोति ? सम्पदि तथा विपदि च स कोशः कथ्यते । सम्पत्काले तंत्रवृद्धिं करोति आपत्काले च । तथा च शुक्रः—

> **आपत्काले च सम्प्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः ।**
> **तंत्रं विवर्धयते राज्ञां स कोशः परिकीर्तितः ॥ १ ॥**

अथ कोशगुणानाह—

सातिशयहिरण्यरजतप्रायो व्यावहारिकनाणकबहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणाः ॥ २ ॥

टीका—यस्मिन् कोशे सातिशयमतिशयसहितं हिरण्यं सुवर्णं भवति तथा रजतं रूप्यं प्रायो बाहुल्येन, व्यावहारिकाणि यानि नाणकानि द्रम्मात्मकानि तैर्बहुलः प्रचुरः, व्ययसहः प्रभूतव्ययसमर्थः, कस्या ? आपदि । स कोशः कथ्यते । तथा च गुरुः—

> **आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहक्षमः ।**
> **हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः ॥ १ ॥**

अथ कोशवृद्धिं कुर्वता भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

कोशं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥ ३ ॥

---

१ यः सम्पदि विपदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं करोति कोशयति संश्लेषयतीति स कोश इति पाठान्तरं मुद्रित—पुस्तके ।

टीका—कोशवृद्धिं नयन् उत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत । एतदुक्तं भवति कोशस्थाने यदुत्पाद्यते धनं तद्बुद्ध्वा किंचित्किंचिद्रक्षणीयं न कोशात्स्वल्पमपि ग्राह्यं । तथा च वशिष्ठः—

कोशवृद्धिः सदा कार्या नैव हानिः कथंचन ।
आपत्काले हते प्राज्ञैर्यत्कोशो राज्यरक्षकः ॥ १ ॥

अथ कोशमवर्धयतो राज्ञो यद्भवति तदाह—

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति ॥ ४ ॥

टीका—कुतस्तस्यायत्यां परिणामे आगामिनि काले श्रेयांसि कल्याणानि पार्थिवस्य भवन्ति । कस्मान्न कदाचिदेव । यः किं करोति ? न वर्धयति न वृद्धिं नयति । कं ? कोशं । कया ? काकिण्यापि नित्यमेव । तस्माद्भूभुजा सदैव कोश आपद्विनाशनिमित्तं वृद्धिं नेयः । तथा च गुरुः—

काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः ।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः ॥ १ ॥

अथ कोशो महीपतीनां यादृशस्तमाह—

कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः ॥ ५ ॥

टीका—योऽसौ कोशः, स किंविशिष्टः ? जीवितं । केषां ? महीपतीनां । यतस्तस्य क्षये संजाते वृत्त्यभावात् सेवकैर्मुच्यते ततः शत्रुभिर्विध्यत इति । तथा च भागुरिः ।

कोशहीनं नृपं भृत्या कुलीना अपि चोन्नतं ।
संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥ १ ॥

अथ कोशहीनो राजा यत्करोति तदाह—

क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥ ६ ॥

---

१ पुस्तकेऽयं पाठो वर्तते न चास्य व्याख्यास्ति । २ कुलिनपि पुस्तके पाठः

टीका—ग्रसते दण्डयति । कोऽसौ? राजा। कान्? पौरजनपदान्। किंविशिष्टो राजा? क्षीणकोशो गतभाण्डागारः। छलं विनापि जनान् दण्डयति ततो राष्ट्रशून्यता भवति एवं ज्ञात्वा भूभुजा कोशवृद्धिः करणीया। तथा च गौतमः—

कोशहीनो नृपो लोकान् निर्दोषानपि पीडयेत्।
तेऽन्यदेशं ततो यान्ति ततः कोशं प्रकारयेत् ॥ १ ॥

अथ कोशस्य माहात्म्यमाह—

कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरं ॥ ७ ॥

टीका—यः कोशः स राजोच्यते न शरीरं। तथा च रैभ्यः—

राजाशब्दोऽत्र कोशस्य न शरीरे नृपस्य च।
कोशहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीड्यते ॥ १ ॥

अथ द्वयोर्नृपयोः संग्रामकाले जाते यस्य जयो भवति तमाह—

यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ॥ ८ ॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ धनहीनस्य यद्भवति तदाह—

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ॥ ९ ॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ राजा कुलीनोऽपि न यथा सेव्यतामेति तदाह—

न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सेव्यतामेति ॥ १० ॥

टीका—वृत्तिमलभमानानां सेवकानां खलु निश्चयेन। एतदुक्तं भवति। धनहीनः कुलीनो वा न सेव्यते केनापि तथाचारवानपि। अथ सर्वोऽपि पुरुषो यदि वित्तदो भवति सोऽकुलीनोऽपि आचार-भ्रष्टोऽपि सेव्यते वृत्त्यर्थं तस्माद्वृद्धि नेयः। तथा च व्यासः—

अर्थस्य पुरुषो दासो नार्थो दासोऽत्र कस्यचित्।
अर्थार्थं येन सेव्यन्ते नीचा अपि कुलोद्भवैः ॥ १ ॥

अथ धनस्य माहात्म्यमाह—

स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनं ॥ ११ ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य अस्ति विद्यते । किं तत्? धनं । किंविशिष्टं? अनूनं प्रचुरं । स किंविशिष्टो? महान् महत्वसहितः तथा च कुलीनश्च निकृष्टोऽपि जराजतोऽपि? । एवं ज्ञात्वा कोशो वृद्धिं नेयः । तथा च जैमिनिः—

कुलीनोऽपि सुनीचोऽत्र यस्य नो विद्यते धनम् ।
अकुलीनोऽपि सद्वंश्यो यस्य सन्ति कपर्दिकाः ॥ १ ॥

अथ कुलीनमहत्वयोर्दूषणमाह—

किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान् ॥ १२ ॥

टीका—किं तया महत्तया माहात्म्येन व्यर्थेन । तथा कुलीनतया व्यर्थया। किं या न सन्तर्पयति न पोषयति। कान्? परान् समाश्रितान्। तथा च गर्गः—

वृथा तद्धनिनां वित्तं यन्न पुष्टिं नयेत्परान् ।
कुलीनोऽपि किं तेन कृपणेन स्वभावतः ॥ १ ॥

तस्य किं सरसो महत्वेन यत्र न जलानि ॥ १३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ क्षीणकोशेन राज्ञा कोशः कर्तव्यो यथा तदाह—

देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिकासंघपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविणसंविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीका मंत्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् १४

टीका—एतैश्चतुर्भिः पदार्थैः कोशवृद्धिं कुर्यात् । कथं देवद्विजवणिजां यद्वित्तं धनमनुपयोगि अवशेषं, केषां धर्माध्वरपरिजनानां यथासं-

स्येन येन द्रव्येण धर्मक्रिया न भवति तस्य धर्म(न)स्य किं कार्यं भूभुजा तस्य विभागकार्यः, एतेन द्रव्येण एतेषां निर्वाहो भवति, शेषा ये विभागास्तैः कोशस्य वृद्धिं कुर्यात् । तथा आढ्या ये जनास्तथा विधवा याः स्त्रियाः, तथा नियोगिनो ये धर्माधिष्ठानकारिणः, तथा ग्रामकूटा ये ग्रामव्यवहारिणः, तथा, वेश्यासंघातः तथा पाखण्डिजना ये स्युः तेषां योऽसौ विभवस्तस्य प्रत्यादानैः ग्रहणैः कोशवृद्धिं कुर्यात् । प्रत्यादानशब्देन नृपाणां अर्थादायः प्रोच्यते तेषां मध्यात् कश्चिदर्थादायस्तेषामाढ्यादीनां ग्रहणके आर्धो धर्तव्यः ततोऽर्थस्तेभ्यः सकाशात् गृहीत्वा क्षीणकोशेन राज्ञा कोशवृद्धिः कार्येति । तथा समृद्धा ये पौराः पुरवासिनः तथा जनपदाः कुटुम्बिनः समृद्धास्तेषां यद्द्राविणं वित्तं तस्य संविभागप्रार्थनैः साम्ना कोशवृद्धिं कुर्यात् । अनुपहतश्रीका नोपक्षयं गता येषां श्रीर्लक्ष्मीस्ते मंत्रिपुरोहितसेनापतिसामन्तभूपालास्तेषामनुनयगृहागमनाभ्यां व याचित्वा द्रव्यं कोशेष्ववृद्धिं कुर्यात् । तथा च शुक्रः—

देवद्विजातिशूद्राणामुपभोगाधिकं धनं ।
क्षीणकोशेन संग्राह्यं प्रविचिन्त्य विभागतः ॥ १ ॥

तथा च—

पौराणां राष्ट्रजातानां ग्राह्यं साम्ना च नान्यथा ।
दर्शयित्वा तथादायां ग्राह्यं वित्तं ततो नृपैः ॥ १ ॥
तथा शाश्वतलक्ष्मीकान् पुरोहितसमंत्रिणः ।
श्रोत्रियांश्चैव सामन्तान् सीमापालांस्तथैव च ॥ २ ॥
गृहं गत्वा प्रयाचेत यथा तुष्टिमाययुः ॥ ३/२ ॥

इति कोशसमुद्देशः ।

२२ बल-समुद्देशः।

अथ बलस्वरूपमाह—

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ॥ १ ॥

टीका—प्रयोजनावस्थासु दशासु बलते बलं ददाति संवृणोतीति केनारातिनिवारणेन शत्रुनिषेधेन तद्बलं सैन्यमुच्यते। तथा च शुक्रः—

धनेन प्रियसंभाषैर्यतश्चैव पुरार्जितम्।
आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

अथ बलस्य स्वरूपमाह—

बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥ २ ॥

टीका—चतुर्भिः पादैस्तावद्युध्यन्ते दन्तयुगलेन च शुण्डया पुच्छेन च शत्रून् विनाशयतीति न चान्यद्बलं अष्टाङ्गैर्युध्यते इति। तथा च पालकिः—

अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि।
तथा च पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ॥ १ ॥

अथ हस्तिनां माहात्म्यमाह—

हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥ ३ ॥

टीका—राज्ञां योऽसौ विजयः। स किंविशिष्टः ? हस्तिप्रधानो हस्तिमुख्यः। ननु कथं हस्तिप्रधानो विजयो ? यद्यस्मादेकोऽपि हस्ती

सहस्रं योधयति तथा सहस्राणामपि प्रहाराणां लग्नेन न सीदति न व्यथां याति। तथा च शुक्रः—

सहस्रं योधयत्येको यतो याति न च व्यथां।
प्रहारैर्बहुभिर्लग्नैस्तस्माद्धस्तिमुखो जयः॥ १॥

अथ हस्तिनां यत्प्रधानबलं तदाह—

जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्रीसम्पत्तिः॥ ४॥

टीका—हस्तिनां किल चत्वारि बलानि जातिकुलवनप्रचारसम्भवानि तेषां मध्ये यच्छरीरं बलं तत्प्रधानं यदि पुष्टिर्न भवति शरीरस्य ततः सर्वाण्येतानि आपदर्थानि। जातिश्चतुर्विधा मन्द—मृग—संकीर्ण—भद्र-संज्ञा। तथा कुलमष्टविधं, ऐरावतः पुण्डरीककामनः कुमुदः अञ्जनः पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकानां सन्तानं। तथा वनमष्टविधं प्राच्यमगरूपकं दाशार्णं मार्गणरवकं कालेयकं अपरान्तिकं सौराष्ट्रं पंचनन्दमिति गजवनानि। प्रचारास्त्रयः पर्वतप्रचारः नदीप्रचारः उभयप्रचारश्चेति। तथा च वल्लभदेवः—

जातिवंशवनभ्रान्तैर्बलैरेतैश्चतुर्विधैः।
युक्तोऽपि बलहीनः स यदि पुष्टो भवेन्न च॥ १॥

अथाशिक्षिता हस्तिनो यादृशा भवन्ति तानाह—

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः॥ ५॥

टीका—ये हस्तिनोऽशिक्षिता भवन्ति अक्रीडापिता भवन्ति तेऽर्थ-प्राणहराः। एकं तावदर्थं हरन्ति घासादिभिः। अपरं प्राणान् हरन्ति महामात्रादिकानां। तस्माद्भूभुजा सुशिक्षिता हस्तिनः कर्तव्याः। तथा च नारदः—

शिक्षाहीना गजा यस्य प्रभवन्ति महीभृतः।
कुर्वन्ति धननाशं ते केवलं जनसंक्षयम्॥ १॥

अथ गजैर्यद्भवति तदाह—

सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धा वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ॥ ६ ॥

टीका—एते हस्तिनां गजानां गुणाः । एकं तावत् सुखेन यानं गजैः क्रियते । तथात्मरक्षा भवति । परपुरावमर्दनं शत्रुपुरभंगः । तथारिव्यूहविघातः शत्रुसमुदायविघातः । तथा जलेषु नदीसंभवेषु सेतुबन्धाः क्रियन्ते । तथा वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवः संभाषणं मुक्त्वान्ये सर्वे विनोदा हस्तिनां सकाशाद्भवन्तीति हस्तिगुणाः । तथा च भागुरिः—

सुखयानं सुरक्षा च शत्रोः पुरविभेदनम् ।
शत्रुव्यूहविघातश्च सेतुबन्धो गजैः स्मृतः ॥ १ ॥

अथाश्वसैन्येन यद्भवति तदाह—

अश्वबलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः ॥ ७ ॥

टीका—यदश्वबलं । किंविशिष्टं ? प्रकारलक्षणं। पुनरपि कथंभूतं ? जंगमं बलं । यत्र स्थाने वाञ्छा क्रियते तत्र याति । कस्य प्रकारभूतं ? सैन्यस्य । एतदुक्तं भवति, यत्र स्थाने सैन्यं गच्छति तत्र परिवर्ज (र्य) रक्षां करोति । तथा च नारदः—

तुरंगमबलं यच्च तत्प्रकारो बलं स्मृतं ।
सैन्यस्य भूभुजा कार्यं तस्मात्तद्वेगवत्तरम् ॥ १ ॥

अथाश्वबलस्य माहात्म्यमाह—

अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति, भवन्ति दूरस्था अपि करस्थाः शत्रव आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धयस्तुरंगमा एव शरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरंगमसाध्यमेतत् ॥ ८ ॥

टीका—एतत्सर्वं तुरंगमसाध्यं भवति राज्ञोऽश्वबलप्रधानस्य कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति विनोदतां यान्ति कदनं युद्धं तदेव कन्दुकी सूत्रमयस्तेन यथा क्रीडाविनोदः क्रियते तथाश्वबलेनापि राज्ञो युद्धक्रीडा विनोदयति (विनोदतां याति) तथैते शत्रवः। किंविशिष्टाः ? करस्था इव दूरस्था अपि। तुरंगमा एव शरणं रक्षास्थानं। कासु ? आपत्सु। तथा समस्तमनोरथसिद्धयो विजिगीषोर्भवन्ति। तथावस्कन्दो धाटीप्रदानं। तथा परानीकभेदनं च तुरंगमसाध्यमेव। तथा च शुक्रः—

प्रेक्षतामपि शत्रूणां यतो यान्ति तुरंगमैः।
भूपाला येन निघ्नन्ति शत्रुं दूरेऽपि संस्थितम्॥ १॥

अथ जात्याश्वानां माहात्म्यमाह—

जात्यारूढो विजिगीषुः शत्रोर्भवति तत्तस्य गमनं नारातिर्ददाति॥ ९॥

टीका—नारातिर्ददाति। किं तत् ? गमनं। कस्य ? शत्रोः। किंविशिष्टस्य ? न्यूनस्येति।

अथ जात्याश्वानामुत्पत्तिस्थानान्याह—

तर्जिका, (स्व) स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गाव्हरा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्तिस्थानानि॥ १०॥

तथा च शालिहोत्रम्—

तर्जिका स्वस्थलाणा सुतोखरास्थोत्तमा हयाः।
गाजिगाणाः सकेकाणाः पुष्टाहाराश्च मध्यमाः॥ १॥
गाव्हरा सादुयाराश्च सिन्धुपारा कनीयस्थाः।
अश्वानां शालिहोत्रेण जातयो नव कीर्तिताः॥ २॥

अथ रथबलस्य स्वरूपमाह—

समा भूमिर्धनुर्वेदविदो रथारूढाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणां ॥ ११ ॥

टीका—यदा धनुर्वेदविदो महाधानुष्का रथारूढा भवन्ति तथा समा गर्तपाषाणरहिता भूमिर्भवति। किंविशिष्टा धानुष्काः? प्रहर्तारो युद्धशौण्डास्तदा किं नामाहो असाध्यं भवति। केषां? नृपाणां। सर्वमेव साधयंतीत्यर्थः। तथा च शुक्रः—

रथारूढाः सुधानुष्का भूमिभागे समे स्थिताः।
युद्ध्यन्ते यस्य भूपस्य तस्यासाध्यं न किंचन ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि रथमाहात्म्यमाह—

रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यक-भृत्य-श्रेणी मित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बलं यतेत ॥ १२ ॥

टीका—रथैरवमर्दितं यत्परबलं यद्राजा सुखेन जीयते व्यापादयति तस्मात्परबलं समाहि(?) व्यापादयितुं यतेत यत्नं कुर्यात्। सत्सु मौलभृत्यकभृत्यश्रेणिमित्राटविकेषु, मूले भवा मौला ये योद्धारः, तथा भृत्यका नियोगिनः, तथा भृत्याः सामान्यसेवकाः, तथा श्रेणिसंज्ञा योजयनशालाधिपादयः, तथा मित्रसंज्ञा ये सुहृदः तथाटविका येऽटव्यां वसन्ति आज्ञां कुर्वन्ति, तेषु सम्बन्धि यद्बलं तेन पूर्वं प्रथमं यद्बलं सारभूतं विजिगीषुणा तेन बलेन परबलं सुखेन हन्तव्यं। तथा च नारदः—

रथैर्विमर्दितं पूर्वं परसैन्यं जयेन्नृपः।
षड्भिर्बलैः समादिष्टैर्मौलाद्यैः ससुखेन च ॥ १ ॥

अथौत्साहिकबलस्य सप्तमस्य गुणानाह—

अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं बलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले

---

१ अस्य व्याख्या पुस्तके नास्ति। तथा सुगममेव।

परराष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति क्षत्रसारत्वं शस्त्रज्ञत्वं शौर्यसारत्व-मनुरक्तत्वं चेत्यौत्साहिकस्य गुणाः ॥ १३ ॥

टीका—यदौत्साहिकबलस्यैते चत्वारो गुणा भवन्ति । प्रथमं ताव-त्क्षत्रसारत्वं क्षत्रा राजपुत्रास्तैः सारत्वं प्रधानं यस्य । तथा शस्त्रज्ञत्वं शस्त्रविद्याकुशलत्वं । तथा शौर्यसारत्वं शूरैः पुरुषैः प्रधानत्वं । तथा-नुरक्तत्व सानुरागं यत् । एते चत्वारोऽपि यस्य बलस्य गुणा औत्साहि-कस्य तेन परबलं हन्यते । तथा च नारदः—

क्षत्रियाढ्यं सुशस्त्रज्ञं शूरसारं सरागकृत् ।
यद्बलं तद्बलं प्रोक्तं न तत्स्यादन्यदेव यत् ॥ १ ॥

अन्यदपि बलं भूभुजा यथा कार्यं तदाह—

मौलबलाविरोधेनान्यद्बलमर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ॥ १४ ॥

टीका—अनुगृह्णीयात् सानुरागं कुर्यात् । किं तत् ? अन्यद्बलं यत्रो-त्कालौत्सुक्यसंज्ञं । केन कृत्वा ? मौलबलाविरोधेन यथा मौलबलं विरोधं न करोति । तथा च बादरायणः—

अन्यद्बलं समायातमौत्सुक्यात्परनाशनं ।
दानमानेन तत्तोष्यं मौलसैन्याविरोधतः ॥ १ ॥

अथ मौलसैन्यं यादृग्भवति तदाह—

मौलाख्यमापद्यनुगच्छति दण्डितमपि न द्रुह्यति भवति चापरेषामभेद्यं ॥ १५ ॥

टीका—मौलं बलं व्यसनेऽप्यनुगच्छति । दण्डितमपि न द्रुह्यति न द्रोहं करोति परैरपि न भेद्यते तस्मान्मौलबलस्य नापमानं कुर्वीत । तथा च वशिष्ठः—

न दण्डितमपि स्वल्पं द्रोहं कुर्यात्कथंचन ।
मौलं बलं न भेद्यं च शत्रुवर्गेण जायते ॥ १ ॥

अथ स्वामिप्रसादस्य यो गुणः सेवकानां तमाह—

न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसम्मानः ॥ १६ ॥

टीका—न तथार्थः पुरुषान् योधयति संग्रामं कारयति यथा प्रभुसम्मानं योधयति । तथा च नारायणः—

न तथा पुरुषानर्थः प्रभूतोऽपि महाहवं ।
कारापयति योद्धॄणां स्वामिसंभावना यथा ॥ १ ॥

अथ सैन्यस्य विरक्ति कारणान्याह—

स्वयमनवेक्षणं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविधावसंभावनं च तंत्रस्य विरक्तिकारणानि ॥ १७ ॥

टीका—एतानि पंच तंत्रस्य सैन्यस्य विरक्तिकारणानि । कानि तानि ? स्वयमनवेक्षणं तावत् स्वयमात्मनैव यन्नित्यमेव नावेक्ष्यते । तथा देयांशहरणं देयं वृत्तिलक्षणं यत् तस्य मध्यादंशहरणं विभागग्रहणं । तथा कालयापना दानकाले यासौ वृत्तिः दानलक्षणा तस्य यासौ यापना विलम्बलक्षणा तस्या अभ्यासनं सेवनं व्यसने आपत्काले प्रतीकारचिंत्ता न क्रियते । (विशेषविधौ विशिष्टे काले पुत्रोत्पत्त्यादिसमये असंभावनं किंचिद्दानं)[1]। तथा च भारद्वाजः—

यः सैन्यं वीक्षते नैव वृत्तिभंगं करोति च ।
न काले यच्छते वृत्तिं न विशेषं करोति च ॥ १ ॥
विशेषदर्शिते लोके न विशेषं करोति च ।
व्यसने च प्रतीकारं यः स्वामी न करोति च ॥ २ ॥
तस्य तंत्रं प्रयात्येव विरक्तं सर्वतो दिशं ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तोष्यं तंत्रं महीभुजा ॥ ३ ॥

अथ सैन्यमनालोकयतः क्षितिपतेर्यद्भवति तदाह—

---

१ नास्त्ययं कंसस्थः पाठः पुस्तके किन्तु कल्पितः ।

स्वयमवेक्षणीय सन्य परैरवेक्षयन्नर्थतंत्राभ्यां परिहीयते॥१८॥

टीका—परिहीयते हीनो भवति। काभ्यां ? अर्थतंत्राभ्यां। किं कुर्वन् ? स्वयमवेक्षणीयमात्मनावेक्षणीयं यत्सैन्यं तदन्येषां पार्श्वादवलोकयन्। ततस्तत्सीदति तस्माद्भूभुजा स्वयमेव सैन्यमवलोकनीयं। तथा च जैमिनिः—

स्वयं नालोकयेत्तंत्रं प्रमादाद्यो महीपतिः।
तदन्यैः प्रेक्षितं धूर्तैर्विनश्यति न संशयः॥ १॥

अथ येषु येषु पदार्थेषु प्रतिहस्ता न क्रियन्ते तानाह—

आश्रितभरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः॥ १९॥

टीका—एतेषु चतुर्षु पदार्थेषु न सन्ति न विद्यन्ते न क्रियन्त इत्यर्थः। के ते ? प्रतिहस्ताः। केष्वित्याह, आश्रितभरणे तावत् ये आश्रिताः सेवका भवन्ति तेषां स्वयं दृष्ट्वा भक्तकं देयं न परहस्तेन। तथा स्वामिसेवायां यत्प्रयोजनं भवति तत्स्वयमेव विज्ञाप्यं स्वामिने (ना) नान्यस्य मुखेन। तथा धर्मानुष्ठाने धर्मकृत्यं यद्भवति तत्स्वयमेव कार्यं नान्यपार्श्वात्कारापनीयं। तथा च शुक्रः—

भृत्यानां पोषणं हस्ते स्वामिसेवाप्रयोजनं।
धर्मकृत्यं सुतोत्पत्तिं परपार्श्वान्न कारयेत्॥ १॥

अथाश्रितानां यथा देयं तदाह—

तावद्देयं यावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति॥ २०॥

टीका—आश्रितानां सेवकानां कदाचिन्न त्यजन्ति तेषां तावद्देयं वित्तं यावत्सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति न केनापि सीदन्ति। तथा च शुक्रः—

आश्रिता यस्य सीदन्ति शत्रुस्तस्य महीपतेः।
स सर्वैर्वेष्ट्यते लोकैः कार्पण्याच्च सुदुःस्थितः॥ १॥

---

१ अस्य व्याख्या नास्ति पुस्तके।

अथ राज्ञो वृत्तिमयच्छतो भृत्यस्य यत्कृत्यं तदाह—

न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः ॥ २१ ॥

टीका—सेवकानां यदि राजा वृत्तिं न प्रयच्छति तद्भृत्यान् प्राह्यो भवति साम्नैव त्याज्यः । तथा च शुक्रः—

वृत्त्यर्थे कलहः कार्यो न भृत्यैर्भूभुजा समं ।
यदि यच्छति नो वृत्तिं नमस्कृत्य परित्यजेत् ॥ १ ॥

को नाम सचेताः स्वगुडं चौर्यात्खादेत ॥ २२ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ सतृष्णस्य राज्ञो दृष्टान्तमाह—

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥ २३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ॥ २४ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथाविशेषज्ञस्य राज्ञो यद्भवति तदाह—

अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे[1] प्राणाव्ययेनोत्सहेत ॥ २५ ॥

टीका—विशेषरहिते राजनि यो विशेषं न जानाति तस्यार्थे को नामाहो कः प्राणव्ययेन प्राणनाशेनोत्सहेत उत्साहं करोति, अपि तु न कोऽपि । तथा चांगिराः—

काचो मणिर्मणिः काचो यस्य सम्भावनेदृशी ।
कस्तस्य भूपतेरग्रे संग्रामे निधनं व्रजेत् ॥ १ ॥

इति बलसमुद्देशः ।

---

१ मुद्रित-पुस्तके त्वयं पाठो नास्ति न चास्य व्याख्याप्यस्ति अस्य प्रयोजनमपि किंचिन्न दृश्यते ।

२३ मित्र-समुद्देशः ।

अथ मित्रसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्र तावन्मित्रलक्षणमाह—

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥ १ ॥

टीका—यः पुरुषः सम्पदीव समृद्धकालवत् तथा विपद्यपि आपत्कालेऽपि मेद्यति स्नेहं करोति तन्मित्रम् । तथा च जैमिनिः—

यत्समृद्धो क्रियात्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि ।
तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भिर्वैपरीत्येन वैरिणः ॥ १ ॥

अथ नित्यमित्रस्य लक्षणमाह—

यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ॥ २ ॥

टीका—यः पुरुषः कारणं विना प्रयोजनं विना रक्ष्यो रक्ष्यते वा विकल्पेन रक्षको भवति तन्नित्यं मित्रमुच्यते । तथा च नारदः—

रक्ष्यते वध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः ।
रक्षेद्वा वध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते ॥ १ ॥

अथ सहजमित्रलक्षणमाह—

तत्सहजं मित्रं यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥ ३ ॥

टीका—यस्य मित्रस्य पूर्वपुरुषपरंपरायातः सम्बन्धो भवति तत्सहजं मित्रमुच्यते । पूर्वपुरुषाः पितृपितामहाभ्यां द्वाभ्यामपि ताभ्यां यः सम्बन्धस्तेन यः समायातः तत्सहजं मित्रं । तथा च भागुरिः—

सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ ।
मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ॥ १ ॥

अथ कृत्रिममित्रस्य लक्षणमाह—

यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रितं तत्कृत्रिमं मित्रम् ॥ ४ ॥

टीका—यः पुरुषो जीवितहेतोर्वृत्तिं गृह्णाति स्नेहं दर्शयति तत्कृत्रिमं मित्रमुच्यते यतो वृत्तेरभावान्मैत्रीं त्यजति । तथा च भारद्वाजः—

वृत्तिं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः ।
तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥ १ ॥

अथ मित्रगुणानाह—

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोपप्रसाद-विषये वाप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणाः ॥ ५ ॥

टीका—यन्मित्रं व्यसनेष्वापत्कालेषु उपस्थानं करोति समागच्छत्यनाहूतोऽपि । किंविशिष्टः ? विकल्पो विकल्परहितः। केषु? अर्थेषु प्रयोजनेषु । तथा स्त्रीषु विषये यः करोति परमं शौचं मित्रस्त्रीषु विषये निःस्पृहत्वं करोतीत्यर्थः । तथा कोपप्रसादविषये वाप्रतिपक्षत्वं कोपे समुत्थितेऽप्रतिपक्षत्वं प्रसादनं नापेक्षते स्वयमागच्छतीति मित्रगुणाः । तथा च नारदः—

आपत्काले च सम्प्राप्ते कार्ये च महति स्थिते ।
कोपे प्रसादनं नेच्छेन्मित्रस्येति गुणाः स्मृताः ॥ १ ॥

अथ मित्रस्य दोषस्वरूपमाह—

दानेन प्रणयः स्वार्थपरत्वं विपद्युपेक्षणमहितसम्प्रयोगो विप्रलम्भनगर्भप्रश्रयश्चेति मित्रदोषाः ॥ ६ ॥

टीका—(दानेन प्रणयः किंचिद्दत्वा स्नेहकरणं । स्वार्थपरत्वं स्वार्थे नियुक्तता) विपद्युपेक्षणं आपत्कालेऽसाहाय्यं । तथाहितसंप्रयोगः शत्रुमेलनं । तथा विप्रलंभनगर्भप्रश्रयः विप्रलंभनं विप्लवस्तेन गर्भो मिश्रः प्रश्रयो यस्येति मित्रदोषाः । तथा च रैभ्यः—

दानस्नेहो निजार्थत्वमुपेक्षा व्यसनेषु च ।
वैरिसंगोऽप्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

अथ मैत्रीभेदकारणान्याह—

स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्ष-दोषग्रहणं पैशून्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ॥ ७ ॥

टीका—स्त्रीसंगतिस्तावन्मित्रभार्यासंगमः सदैवास्ते । विवादं यः करोति तथाभीक्ष्णं याचनं । तथाऽप्रदानं न किंचित्कदाचिदपि ददाति । तथाऽर्थसम्बन्धोऽर्थव्यवहारः । तथा परोक्षे दोषग्रहणं । तथा पैशून्या-कर्णनं च यदि कश्चिन्मित्रपैशून्यं करोति तदा तदाकर्णयति । एतानि सप्तवस्तूनि मैत्रीभेदकारणानीति । तथा च शुक्रः—

स्त्रीसंगतिर्विवादोऽथ सदार्थित्वमदानता ।
स्वसम्बन्धस्तथा निन्दा पैशून्यं मित्रवैरिता ॥ १ ॥

अथ क्षीरस्य प्रशंसामाह—

न क्षीरात्परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति नीरमात्म-समं ॥ ८ ॥

टीका—क्षीरादन्यद्द्वितीयं न महदस्ति न विद्यते । यत् किं कुर्यात् ? यत् संगतिमात्रेणैव करोति । किं तत् ? नीरं पानीयं । किं विशिष्टं ? आत्मसममात्मतुल्यं । तस्मात्तेन सह संगतिः क्रियते मिलनमात्रेणैव येन गुणरहितोऽप्यात्मगुणाढ्यः सम्भाव्यते जनैः । तथा च गौतमः—

गुणहीनोऽपि चेत्संगं करोति गुणिभिः सह ।
गुणवान् मन्यते लोकैर्दुग्धाढ्यं [१]कं यथा पयः ॥ १ ॥

अथ पानीयमाहात्म्यमाह—

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण[२] क्षीरम् ॥ ९ ॥

१ पानीयं २ अग्नितापनात्स्वयं क्षयं याति दुग्धं च रक्षतीति ।

टीका—न नीरात्पानीयात्परमन्यद्द्वितीयं मित्रमस्ति न विद्यते, कस्माद्धेतोर्येन्मिलितमात्रमेव संवर्धयति वृद्धिं नयति तत्क्षीरं दुग्धं । न केवलं संवर्धयति रक्षति च । केन कृत्वा ? स्वक्षयेणात्मविनाशेन । एतदुक्तं भवति, यस्य पानीयस्य मिलितं दुग्धं वृद्धिं याति सर्वोऽपि जनो वेत्ति यदेतत्क्षीरम् । तथा रक्षति च यथात्मक्षयेणात्मविनाशेन, अदर्शनेन पानीयं कश्चिन्न पश्यति यदि पुनरास्वादयति तद्दुग्धं मत्वा तदाविरसत्वान्न पिबति, एवं रक्षा भवति । तथा च भागुरिः—

न पानीयात्परं मित्रं विद्यते येन मिश्रितं ।
दुग्धं वृद्धिं समायाति रक्षते च निजक्षयात् ॥ १ ॥

अथ तिर्यंचोऽपि यथोपकारिणो भवन्ति मनुष्या अपि यथानुपकारिणो भवन्ति तदाह—

येन केनाप्युपकारेण तिर्यंचोऽपि प्रत्युपकारिणो व्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ॥ १० ॥

टीका—एताभ्यां व्याख्यानं बृहत्कथायां ज्ञातव्यम् ।

तथा चोपाख्यानकं[1]—अटव्यां[2] किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिकसौवर्णिकेषु कृतोपकारः कंकायननामा कश्चित्पान्थो विशालायां पुरि तस्मादक्षशालिकाद्व्यापदमवाप नाडीजंघश्च गौतमादिति ॥ ११ ॥

इति मित्रसमुद्देशः ।

---

१ ऐतिह्यं २ कस्मिंश्चित्प्रदेशे (अन्धकूपे) केनचिद् दुष्टेन तृणादिभिः पिहितमुखे यदृच्छया देवचोदिताः कपिसर्पसिंहाक्षिशालिकाः पतयाम्बभूवुः । एवमन्धकूपे विपद्यमानास्ते कंकायननाम्ना केनचिद्दयालुना पान्थेन तस्मादन्धकूपाद्बहिः निःसारिताः । तेषु च कपिसिंहसर्पास्त्रयस्तिर्यंचस्तस्मै उपकर्त्रे कंकायनाय स्वात्मसमर्पणं कृत्वा तेनानुज्ञाता यथेष्टं देशं जग्मुः । मानवोऽक्षशालिकस्तु कपटोक्तिशतैस्तं तोषयित्वा तस्य मित्रत्वमापन्नः । तेन सह नगरग्रामादिषु पर्यटन् तस्य धनमपजिहीर्षुर्विशालायां पुरि शून्ये देवालये शयानं तं रात्रौ जघानेति श्रूयते । तथैव नाडीजंघनामा कश्चनोपकर्तापि गौतमान्मरणमवापेति बहून्याख्यानानि श्रूयन्ते । मुद्रित–पुस्तकस्थमिदं टिप्पणम् ।

२४ राजरक्षा-समुद्देशः ।

अथ राजरक्षासमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव राजरक्षाकारणमाह—

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवत्यतः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥ १ ॥

टीका—रक्षितव्यो रक्षणीयः । कोऽसौ ? राजा । केभ्यः ? स्वेभ्य आत्मीयभ्यः सकाशात् तथा परेभ्यः । कथं ? नित्यमेव (तस्मिन् रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति यतः) । तथा च गैभ्यः—

> **रक्षिते भूमिनाथे तु आत्मीयेभ्यः सदैव हि ।**
> **परेभ्यश्च यतस्तस्य रक्षा देशस्य जायते ॥ १ ॥**

अथ राज्ञो रक्षा यथा भवति तथाह—

अतएवोक्तं नयविद्भिः—पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्मणां च जनं आसन्नं कुर्वीत ॥ २ ॥

अथ राज्ञो रक्षा यथा भवति तथाह—

टीका—अत एवोक्तमस्माद्भणितं । कैः ? नयविद्भिः नीतिविद्भिः । किं तदुक्तमित्याह—एतद्गुणविशिष्टं जनं लोकं समासन्नं कुर्वीत कुर्याद्रक्षार्थं । किंविशिष्टं जनं ? महासम्बन्धानुबद्धं महान् योऽसौ परिणयन् लक्षणस्तेनानुबद्धं यंत्रितं । तथा शिक्षितं विचक्षणं । तथानुरक्तं कृतकर्मणां येन राजकर्माणि कृतानि । तथा पितृपैतामहमन्वयागतं समासन्नं कुर्यात् । तथा च गुरुः—

वंशजं च सुसम्बन्धं शिक्षितं राजसंयुतं ।
कृतकर्मं जनं पार्श्वे रक्षार्थे धारयेन्नृपः ॥ १ ॥

अथ यादृशं जनं समीपगं न कुर्वीत तादृशमाह—

अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्नं न कुर्वीत ॥ ३ ॥

टीका—अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतं जनं समीपे न धारयेन्न स्थापयेत् । कं जनं कथंभूतं, ? अन्यदेशीयं । तथा अपकृत्योपगृहीतं अपकृत्य दण्डयित्वोपगृहीतं स्वस्थाने स्थापितं यतस्तस्य वित्तक्षतिः स्यात् । तथा च शुक्रः—

नियोगिनं समीपस्थं दंडयित्वा न धारयेत् ।
दण्डको यो न वित्तस्य बाधा चित्तस्य जायते ॥ १ ॥
अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत् ।
अपूजितं स्वदेशीयं वा विरुद्धय प्रपूजितं ॥ २ ॥

अथ दण्डयित्वा यः स्थाप्यते तत्स्वरूपमाह—

चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति मातापि राक्षसी ॥४॥

टीका—चित्ते विकृतिर्विकारो यस्य स तथा तस्य चित्तविकृतेः पुरुषस्य नास्ति कोऽसावविषयो गोचरं पापं कुर्वाणस्य । यतः किन्न भवति कासौ ? माता । किंविशिष्टा ? राक्षसी यदा माता शाकिनी धर्ममनुतिष्ठति तदा पुत्रमपि व्यापादयतीति । तथा च शुक्रः—

यस्य चित्ते विकारः स्यात् सर्वं पापं करोति सः ।
जातं हन्ति सुखं माता शाकिनीमार्गमाश्रिता ॥ १ ॥

अथ स्वामिरहिताः प्रकृतयो यथा भवन्ति तथाह—

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥ ५ ॥

टीका—न समर्था भवन्ति। काः? प्रकृतयोऽमात्याद्याः। किं कर्तुं? निस्तरीतुं निर्वाहं गन्तुं। किं विशिष्टाः प्रकृतयः? अस्वामिका न विद्यते स्वामी यासामस्वामिकाः। पुनरपि कथंभूतास्ताः समृद्धा अपि सर्वकामान्विता अपि। तथा च वशिष्ठः—

राजप्रकृतयो नैव स्वामिना रहिताः सदा।
गन्तुं निर्वाहणं यद्वत् स्त्रियः कान्तविवर्जिताः॥ १॥

अथ गतायुषि पुरुषे यद्भवति तदाह—

देहिनि गतायुषि सकलाङ्गे किं करोति धन्वन्तरिरपि वैद्यः॥ ६॥

टीका—किं करोति अपि तु (न) करोति। कोऽसौ धन्वन्तरिरपि वैद्यः। यस्य किं विशिष्टस्य देहिनः सकलांगस्यापि सकलाः? कला द्विसप्ततिप्रमाणा यस्य शरीरेऽङ्गे तिष्ठति। तथा च व्यासः—

न मंत्रा न तपो दानं न वैद्यो न च भेषजं।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम्॥ १॥

अथ येषां सकाशाद्राज्ञो रक्षणं कार्यं तानाह—

राज्ञस्तावदासन्ना स्त्रिय आसन्नतरा दायादा आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्त्रीभ्यो रक्षणं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः॥ ७॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ स्त्रीसुखकृते यद्भवति तदाह—

आवण्ठादाचक्रवर्तिनः सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति॥ ८॥

टीका—वण्ठशब्देन निकृष्टः पुमानुच्यते। चक्रवर्ती समस्तद्वीपाधिपतिः। आङ् मर्यादायां। वण्ठचक्रवर्तिनां मध्ये यो जनः स सर्वोऽपि

स्त्रीसुखकृते क्लिश्यति स्त्रीसुखार्थं क्लेशं करोति येन स्त्रीसुखाढ्यो भवति ।
तथा च गर्गः—

कृषिं सेवां विदेशं च युद्धं वाणिज्यमेव च ।
सर्वं स्त्रीणां सुखार्थाय स सर्वो कुरुते जनः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीसंगरहितस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥ ९ ॥

टीका—स्त्रीसंगरहितस्य यः सम्पल्लक्षणो विभवः । स किंविशिष्टः ? मृतमण्डनमिव यथा मृतमण्डनं वृथा न किंचित्सुखमुत्पादयति तथा प्रभूतोऽप्यर्थो व्यर्थो वनितासंगरहितस्य । तथा च वल्लभदेवः—

प्रभूतमपि चेद्वित्तं पुरुषस्य स्त्रियं विना ।
मृतस्य मण्डनं यद्वत् तत्तस्य व्यर्थमेव हि ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां स्वरूपमाह—

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥ १० ॥

टीका—या एताः स्त्रियः ताः सर्वा विषामृतस्थानं । किंविशिष्टा इव ? क्षीरोदवेला इव दुग्धसमुद्रलहर्य इव । तथा च वल्लभदेवः—

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
विरक्ता मारयेद्यस्मात्सुखायत्यनुरागिणी ॥ १ ॥

भूयोऽपि स्त्रीस्वरूपमाह—

मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥ ११ ॥

टीका—एताः स्त्रियो यास्ताः सर्वा वक्रशीलाः वक्रं शीलं यासां ता वक्रशीलाः । कस्मात्स्वभावादेव नियमेन । का इव वक्रशीलाः ? मकरदंष्ट्रा इव । तथा च वल्लभदेवः—

स्त्रियोऽतिवक्रता युक्ता यथा दंष्ट्रा झषोद्भवाः ।
ऋजुत्वं नाधिगच्छन्ति तीक्ष्णत्वादतिभीषणाः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि स्त्रीस्वरूपमाह—

स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥ १२ ॥

टीका—स्त्रीणां विरुद्धानां योऽसौ वशोपायो वशं कर्तुमुपायः सामदामभेदोपप्रदानदण्डलक्षणः स देवानमपि दुर्लभः। तमुपायं देवा अपि न जानन्तीत्यर्थः। तथा च वल्लभदेवः—

> चतुरः सृजता पूर्वमुपायांस्तेन वेधसा।
> न सृष्टः पंचमः कोऽपि गृह्यंते येन योषितः ॥ १ ॥

अथ सुकलत्रस्य स्वरूपमाह—

कलत्रं रूपवत्सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥ १३ ॥

टीका—एतदुक्तं भवति, तस्येदृशं वक्ष्यमाणं स्यात् येनान्यस्मिन् देहान्तरे महत्पुण्यं कृतं तस्य फलं। एतत्किंविशिष्टं कलत्रं? सुरूपं रूपाढ्यं तावत्। तथा सुभगत्वं। तथानवद्याचारं, अनवद्योऽकुत्सित आचारो व्यवहारो यस्य। तथापत्यवत्पुत्रयुतं। तथा च चारायणः—

> सुरूपं सुभगं यद्वा सुचरित्रं सुतान्वितं।
> यस्येदृशं कलत्रं स्यात्पूर्वपुण्यफलं हि तत् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि स्त्रीस्वरूपमाह—

कामदेवोत्संगस्थापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ॥ १४ ॥

टीका—अभिलषति वाञ्छति कासौ? स्त्री। किमभिलषति पुरुषान्तरं पुरुषविशेषं। किंविशिष्टा स्त्री? कामदेवोत्संगस्थापि। एतदुक्तं भवति, कामादपरो रूपवान् कश्चिन्न भवति तथापि तं परित्यज्य स्त्री अन्यमभिलषति चापल्यात्। तथा च नारदः—

> कामदेवोपमं त्यक्त्वा मुखप्रेक्षं निजं पतिं।
> चापल्याद्वाञ्छते नारी विरूपांगमपीतरम् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि स्त्रीणां स्वरूपमाह—

न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणता च ॥ १५ ॥

टीका—स्त्रीणां तावत् कुटुम्बमोहो रक्षणं न करोति, भयं न करोति, लज्जा न करोति। तर्हि कथं रक्षणं भवतीत्याह। तासां परपुरुषादर्शनं तावत् अन्यपुरुषदर्शनं यदि न स्यात्। तथा संभोगः कामसेवनं। तथा सर्वसाधारणत्वं च पत्युः सकाशात्सर्वं वाञ्छितं लभंते। सर्वसाधारणत्वं, ईर्ष्याधर्मं यदि भर्ता न करोति। एतत्त्रयं स्त्रीणां रक्षणं नान्यत् तथा च जैमिनिः—

> अन्यस्यादर्शनं कोपात् प्रसादः कामसंभवः।
> सर्वासामेव नारीणामेतद्रक्षत्रयं मतम् ॥ १ ॥

अथ यथा न विरुध्यन्ते भर्तुः स्त्रियः तथाह—

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ॥१६॥

टीका—नापराध्यन्ते न विरोधं कुर्वन्ति। काः स्त्रियः। कस्मिन्? पुंसि भर्तरि। किंविशिष्टे? समवृत्तौ समप्रसादे। काभ्यां? दानदर्शनाभ्यां। एतदुक्तं भवति यस्य पुरुषस्य बह्वः स्त्रियो भवन्ति स यदा तुल्यवृत्तो तुल्यचेष्टितो भवति काभ्यां दानमानाभ्यां विशेषं न करोति तदा ताः सानुरागा भवन्ति। तथा च नारदः—

> दानदर्शनसंभोगं समं स्त्रीषु करोति यः।
> प्रसादेन विशेषं च न विरुध्यन्ति तस्य ताः ॥ १ ॥

अथ परिगृहीतासु स्त्रीषु पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ॥ १७ ॥

टीका—न मन्येत। किं तत् ? प्रियाप्रियत्वं। कासु ? स्त्रीषु। किंविशिष्टासु स्त्रीषु ? परिगृहीतासु विवाहितासु। याः स्त्रियो भवन्ति विवाहितास्तासु समत्वेन वर्तितव्यं प्रियाप्रियत्वे विषये। तथा च भागुरिः—

समत्वेनैव द्रष्टव्या याः स्त्रियोऽत्र विवाहिताः।
विशेषो नैव कर्तव्यो नरेण प्रियमिच्छता॥ १॥

अथ दुर्लभास्वपि स्त्रीषु यथा वर्तितव्यं तदाह—

कारणवशान्निम्बोऽप्यनुभूयते एव॥ १८॥

टीका—यस्मादेतदुक्तमाचार्येण। स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न कुर्यात्। यतश्चानुभूयते सेव्यते। कोऽसौ ? निम्बोपि। कस्मात् ? कारणवशात् प्रयोजनवशात:। यथा निम्बोऽपि भक्ष्यत औषधार्थं तथा दुर्भगापि स्त्री विरूपापि सेवनीया नो चेदपमानिता सती सा वधादिकं चिन्तयति भर्तुः। तथा च भारद्वाजः—

दुर्भगापि विरूपापि सेव्या कान्तेन कामिनी।
यथौषधकृते निंबः कटुकोऽपि प्रदीयते॥ १॥

अथ यस्मिन् काले स्त्री अवश्यमेव सेव्यते तथाह—

चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री तीर्थं तीर्थोपराधो महानधर्मानुबन्धः॥ १९॥

टीका—ऋतुकाले संजाते त्रीणि दिनानि यावदपवित्रा स्त्री भवति चतुर्थे दिवसे पुनस्तीर्थं भवति पवित्रा भवति। किंविशिष्टा सती ? स्नाता सती। एतस्मात् कारणात्तीर्थोपराधे कृते परित्यागे कृते महानधर्मानुबन्धो धर्मक्षतिर्भवति। तथा यश्चतुर्थदिवसे स्त्रियं न भजते तस्य महती क्षतिर्भवति। तथा च बादरायणः—

ऋतुस्नातां न यो नारीं भजते पापकृत्तमः।
न तस्य हव्यं गृह्णंति देवाः कव्यं च पूर्वजाः॥ १॥

अथ ऋतुस्नातां स्त्रियं न भजति तस्य यद्भवति तदाह—

ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितॄणामृणभाजनं ॥ २० ॥

टीका—ऋणभाजनं भवति, केषां ? पितॄणां पूर्वजानां । कोऽसौ ऋणभाजनं भवति ? उपेक्षमाणोऽगच्छन् पुरुषः । कां ? ऋतुस्नातां स्त्रियं । तथा च गर्गः—

ऋतुं यच्छति नो योऽत्र भार्यायाः स्नानजे दिने ।
तस्य देवा न गृह्णंति हव्यं कव्यं च पूर्वजाः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणामृतुप्रदातुः पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति।२१।

टीका—याः स्त्रियोऽवरुद्धा उद्वाहिता भवन्ति ऋतुमात्रेणापि न सम्भाव्यन्ते ता द्वाभ्यामेकतमं कुर्वन्ति । किं वा स्वयं नश्यंति अथवा पतिं नाशयन्ति। तस्मात्पुरुषेणापि वश्यं स्त्रीणां ऋतुर्देयः। तथा च गर्गः-

ऋतुकाले च सम्प्राप्ते न भजेद्यस्तु कामिनीं ।
तद्दुःखात्सा प्रणश्येत स्वयं वा नाशयेत्पतिम् ॥ १ ॥

अथर्तुकाले स्त्रियो वर्जिता यत्कुर्वन्ति तदाह—

न स्त्रीणामकर्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहो नोढोपेक्षणं ॥२२॥

टीका—नास्ति न विद्यते। कासौ ? मर्यादा। कासां ? स्त्रीणां। कस्मिन् ? अकर्तव्ये । तस्माद्वरं वध्वानं अविवाहो नोढानां विवाहितानामुपेक्षणं ऋतोरप्रदानं । तथा च भार्गवः—

नाकृत्यं विद्यते स्त्रीणामपमाने कृते सति ।
अविवाहो वरस्तस्मान्न तूढानां विवर्जनम् ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां यानि विरक्तिकारणानि तान्याह—

अकृतरक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ॥ २३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तिकारणानि ॥ २४ ॥

टीका—एतानि पंच स्त्रीणां विरक्तिकारणानि । तस्मान्न कार्याणि । एकं सपत्नीविधानं तावत् यदन्या भार्या न विशेषः कार्यः । पत्युरसमंजसं पत्युर्मनोमलिनता। विमाननमपमाननं (?) कार्यं। अपत्याभावो वन्ध्यता । तथा चिरविरहश्च । चिरकाले देशान्तरगमनं पत्युः । तथा च जैमिनिः—

> **सपत्नी वा समानत्वमपमानमपत्यता ।**
> **देशान्तरगतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ॥ १ ॥**

अथ स्त्रीणां भूयोऽपि स्वरूपमाह—

न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किंतु नद्यः समुद्रमिव यादृशं गतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥ २५ ॥

टीका—आसां स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वा नास्ति भर्तुर्गुणेन गुणा भवन्ति, दोषेण दोषाः । केन दृष्टान्तेन ? यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति । का इव नद्य इव यथा नद्यः समुद्रं पतिं प्राप्य तादृग्रूपा भवन्ति । तथा च शुक्रः—

> **गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत् ।**
> **भर्तुः सदृशतां यांति समुद्रस्यापगा यथा ॥ १ ॥**

अथ भूयोऽपि स्त्रीस्वरूपमाह—

स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥ २६ ॥

टीका—स्त्रीणां विषयं यद्दौत्यं तत्स्त्रीसकाशात् कारापनीयं न पुनः पुरुषाणां सकाशात् । यतः पुंयोगस्तैरश्चोऽपि तिर्यक्सम्भवोऽपि गर्दभा-

श्वसमुत्थोऽपि दृष्टोऽपि दूषयति सदोषं करोति स्त्रियं किं पुनर्मानुष्य-संभवः संयोगः । तथा च गुरुः—

स्त्रीणां दौत्यं नरेन्द्रेण प्रेष्या नार्यो नरो न वा ।
तिर्यंचोऽपि च पुंयोगो दृष्टो दूषयति स्त्रियं ॥ १ ॥

अनु च—

पतिव्रतापि या नारी दृष्ट्वाश्वखरसन्निभं ।
सुतरां कुरुते वाञ्छां त मैथुनसमुद्भवम् ॥ १ ॥

अथ स्त्रियो यदर्थं रक्ष्यन्ते तदाह—

वंशविशुद्धयर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थं ॥ २७ ॥

टीका—एताः स्त्रियः कस्माद्रक्ष्यन्ते ? वंशविशुद्धयर्थं येन वंशस्यान्वयस्य विशुद्धिर्भवति । अनर्थपरिहारार्थं च रक्ष्यन्ते । न भोगार्थं गतार्थं च । तथा च गुरुः

वंशस्य च विशुद्धयर्थं तथानर्थक्षयाय च ।
रक्षितव्याः स्त्रियो विज्ञैर्न भोगाय च केवलम् ॥ १ ॥

अथ पण्याङ्गनानां स्वरूपमाह—

भोजनवत्सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ॥ २८ ॥

टीका—पण्याङ्गना वेश्याः समानाः सर्वसाधारणाः । कथं ? भोजनवत् यथा भोजनकाले कमपि पुरुषं दृष्ट्वा प्रोच्यते भोजनं क्रियतां शोभार्थं तथा वेश्यापि सेवनीया शोभार्थं कौतुकार्थं च । कस्तासामर्थे हर्षामर्षौ-वा प्राप्तायामानन्दः क्रियते न, नाप्राप्तायां कोपः कार्य इति । तथा-च गुरुः—

सर्वसाधारणा वेश्या यथा भोजनकर्मणि ।
न प्राप्त्या कारयेत्तुष्टिं तासां कोपो न बाह्यतः ॥ १ ॥

अथ वेश्यासंग्रहणस्वरूपमाह—

यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनीर्ष्यावान् कल्याणावहः प्रक्रमोऽद्वौरिके द्वारे को नाम न प्रविशति ॥ २९ ॥

टीका—यथाकामं यथासौख्यं कामिनीनां वेश्यानां संग्रहः कार्यः। परमनीर्ष्यावान् केवलं ईर्ष्यारहितैः संग्रहः कल्याणाय कल्याणप्रदो भवति ईर्ष्यारहितः स तस्याः प्रक्रमोऽनुष्ठानं यतः। तासां गृहे सर्वोऽपि-जनः प्रविशति न कश्चिन्निवार्यते। येन कारणेनादौवारिके द्वारे को न प्रविशति यत्र द्वारे द्वारपालो न भवति। तथा च जैमिनिः—

वेश्याः कामं प्रसेव्याश्च परमेर्ष्याविवर्जितैः।
सर्वगम्यं भवेद्द्वारं यतस्तासामहर्निशम् ॥ १ ॥

अथ पुरुषेण स्त्रीणां विषये यत्कर्तव्यं तदाह—

मातृव्यंजनविशुद्धा राजवसत्युपरिस्थायिन्यः स्त्रियः संभक्तव्याः ॥ ३० ॥

टीका—याः स्त्रियो मातृव्यञ्जनविशुद्धा भवन्ति मातृचिन्हं यत्तेन या विशुद्धा भवन्ति। राजवसत्युपरिस्थायिन्यो भवन्ति वेश्याः स्त्रियः ता संभक्तव्याः सेवनीया इत्यर्थः। तथा च भागुरिः—

मातृचिह्नविशुद्धा या राजहर्म्ये वसन्ति च।
ता वेश्याः सेवनीयाश्च नान्या सेव्या विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्त्रीगृहप्रवेशनिरतस्य यद्भवति तदाह—

दर्दुरस्य सर्पगृहप्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञः ॥ ३१ ॥

टीका—राज्ञः योऽसौ स्त्रीगृहप्रवेशः। स किंविशिष्टः? सर्पगृहप्रवेश इव। कस्य? दर्दुरस्य। यथा मण्डुकः सर्पगृहे प्रविष्टो न जीवति तथा राज्ञोऽपि स्त्रीगृहप्रवेशः स्यात्। तथा च गौतमः—

प्रविष्टो हि यथा भेको बिलं सर्पस्य मृत्युभाक्।
तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ॥ १ ॥

अथ राज्ञा स्त्रीणां विषये यत्कर्तव्यं तदाह—

न हि स्त्रीगृहादायातं किंचित्स्वयमनुभवनीयम् ॥ ३२ ॥

टीका—नानुभवनीयं न भक्षणीयमित्यर्थः। किंचिदपि स्वल्पमपि वस्तु, किंविशिष्टं वस्तु ? आयातं प्राप्तं। कस्मात् ? स्त्रीगृहात्। कथं न भक्षणीयं ? स्वयमात्मना—अर्थाद्राज्ञा। तथा च बादरायणः—

स्त्रीणां गृहात् समायातं भक्षणीयं न भूभुजा।
किंचित्स्वल्पमपि प्राणान् रक्षितुं योऽभिवाञ्छति ॥ १ ॥

नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥ ३३ ॥

टीका—स्वयमनुभवनीयेषु स्वयं सेव्येषु भोजानाद्येषु स्त्रियो न नियोक्तव्या न प्रेरणीया यतो विष दिदोषैर्दूषयन्ति। तथा च भृगुः—

भोजनादिषु सर्वेषु नात्मीयेषु नियोजयेत्।
स्त्रियो भूमिपतिः क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ॥ १ ॥

अथ स्त्रियो यत्कुर्वन्ति तदाह—

संवननं स्वातंत्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ३४

टीका—एताः स्त्रियः किमनिष्टं न कुर्वन्ति, अपि तु सर्वं कुर्वन्ति। संवननं कार्मणमभिचारकं तावदभिलषन्ति तथा स्वातंत्र्यं स्वेच्छया वर्तनं वाञ्छन्ति। तथा च भारद्वाजः—

कार्मणं स्वेच्छयाचारं सदा वाञ्छन्ति योषितः।
तस्मात्तासु न विश्वासः प्रकर्तव्यः कथंचन ॥ १ ॥

अथ स्त्रियो विरक्ताः स्वातंत्र्यमिच्छन्त्यो यत्कुर्वन्ति दृष्टान्तेन तदाह—

श्रूयते हि किल—आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम् ॥ ३५ ॥

टीका—गतार्थमेतत्। एतत्संविधानकं बृहत्कथायां।

अथान्यासामपि दुष्टस्त्रीणां संविधानानि लिख्यन्ते।

विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशितनेमिना मुकुरेण मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कवरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति[२] ॥ ३६ ॥

टीका—एतानि पंच संविधानकानि गतार्थानि बृहत्कथायां ज्ञेयानि।

अथ स्त्रीणां माहात्म्यमाह—

अमृतरसवाप्य इव श्रीजसुखोपकरणं[३] स्त्रियः ॥ ३७ ॥

टीका—एता याः स्त्रियः। ताः किंविशिष्टाः? श्रीजसुखोपकरणं श्रीर्लक्ष्मीस्तस्या जातं श्रीजं, श्रीजं च तत्सुखोपकरणं च श्रीसंभवसुखद्रव्यं च। काः? स्त्रियः। का इव अमृतरसवाप्य इव आनन्दकारिण्य इत्यर्थः। तथा च शुक्रः—

> **लक्ष्मीसंभवसौख्यस्य कथिता वामलोचनाः।**
> **यथा पीयूषवाप्यश्च मनआल्हाददा सदा ॥ १ ॥**

अथ तासामेव माहात्म्यमाह—

कस्तासां कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥ ३८ ॥

टीका—या एता अमृतवाप्युपमाः स्त्रियस्तासां कार्याकार्यविलोकने कोऽधिकारः किं प्रयोजनं अपि तु न किंचित्। किन्तु अनुवर्तनीयाः सर्वदेवताः। तथा च वशिष्ठः—

---

१ मेखलाभणितेति पाठान्तरं मुद्रितपुस्तके। २ जघानेति सम्बन्धः ३ क्रीडासुखोपकरणमिति लिखितपुस्तके मुद्रितपुस्तके च पाठः। टीकानुसारेण परिवर्तितः।

स्त्रीणां दुश्चरितं किंचिन्न विचार्यं विचक्षणैः ।
नाभिवाह्यं न जीवोऽतः यतस्ता अमृतोपमाः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीणां येषु येषु कृत्येषु स्वातंत्र्यं दीयते तान्याह—

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥ ३९ ॥

टीका—आसां स्त्रीणां यत्स्वातंत्र्यं स्वच्छन्दता, एतेषु चतुर्षु स्थानेषु दीयते नान्यत्र । अपत्यपोषणे तावत् बालपुष्टिकरणे, । तथा गृहकर्मणि गृहकृत्ये । तथा शरीरसंस्कारे निजकायमण्डने । तथा शयनावसरे शयनप्रस्तावे । तथा च भागुरिः—

स्वातंत्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम् ।
बालानां पोषणं कृत्यं शयनं चाङ्गभूषणं ॥ १ ॥

अथातिशक्तस्य स्त्रीणां पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातंत्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥ ४० ॥

टीका—अतिप्रसक्तेर्हि सकाशात् स्त्रीषु यत्स्वातंत्र्यं, तत्किं करोति न विश्राम्यति न विश्रामं गच्छति। किं कृत्वा ? अविदार्य । किं तत् ? हृदयं। कस्य ? पत्युः कान्तस्य । किमिव? करपत्रमिव। तथा च गर्गः—

स्वातंत्र्यं यद्भवेत्स्त्रीणां सुरतेषु यथेच्छया ।
मर्मण्यसकृतस्त्वेन ? हृदयं पुरुषस्य च ॥ १ ॥

अथ स्त्रीवशगतस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति।४१।

टीका—न दीर्घकालं वृद्धिं याति । कोऽसौ ? पुरुषः । किंविशिष्टः ? स्त्रीवशगः । क इव ? पादप इव । किंविशिष्टः पादपः ? नदीप्रवाह-

पतितः। यथा नदीप्रवाहे पतितो वृक्षश्चिरं कालं न वृद्धिं याति तथा पुरुषो स्त्रीवशगतः। तथा च शुक्रः—

न चिरं वृद्धिमाप्नोति यः स्त्रीणां वशगो भवेत्।
नदीप्रवाहपतितो यथा भूमिसमुद्भवः॥ १॥

अथ स्त्रीमाहात्म्यमाह—

पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति॥४२॥

टीका—कमुत्सवं न जनयति, अपि सर्वमपि करोति। का सा? स्त्री। केव? खड्गयष्टिरिव करवालवल्लीव। या स्त्री पुरुषमुष्टिस्था भवति पतिव्रतत्वसहिता भवति सा भर्तुः कं न कुर्यान्मनोरथमिति।

या नारी वशगा पत्युः पतिव्रतपरायणा।
सा स्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं हृदि स्थितम्॥ १॥

अथ स्त्रीणां पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु, शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते॥ ४३॥

टीका—स्त्रियः पत्या पुरुषेण नातीव व्युत्पादनीया नातिशयेन कामशास्त्रपंडिताः कर्तव्याः यतः स्वभावसुभगोऽपि कामशास्त्रोपदेशो विषमतां प्रतिपद्यते विरूपतां प्रतिपद्यते करोति। कासु? स्त्रीषु। कास्विव? शस्त्रीष्विव च्छुरिकास्विव। यथा पयोबिन्दुः छुरिकायां निर्मलायां विषमतामुत्पादयति विरूपतां नयति एवं कुलस्त्रीणां स्वभावसुभगोऽपि कामशास्त्रोपदेशः कुलस्त्रीणां धर्मं दूषयति। तथा च भारद्वाजः—

न कामशास्त्रतत्वज्ञाः स्त्रियः कार्याः कुलोद्भवैः।
यतो वैरूप्यमायान्ति यथा शास्त्र्यं दुसंगमः॥ १॥

---

१ वृक्षः

अथ वेश्याश्चिरं यथा पुरुषमनुभवंति तदाह—

अध्रुवेन साधिकोऽप्यर्थेन वेश्यामनुभवति ॥ ४४ ॥

टीका—यः पुरुषः अध्रुवेन चलेषयार्थेन साधिकोनापि वेश्यामनुभवति स चिरं प्रभूतं कालं तं सेवते यः पुनर्नित्यदानेन स्वल्पेनापि सेवते तस्य त्रुटिर्भवति । तस्माद्वेश्याया नित्यमर्थो न देयः । स्वल्पोऽपि प्रभूतोऽपि कालान्तरेण देयः । येन साऽविद्यमानेऽप्यर्थे कृताशाया न त्यजति । तथा च शुक्रः—

वेश्यानां नित्यदानं यत् तद्धि दानं शुभं न हि ।
अपि स्तोकं प्रभूतं च चिरदत्तं सुसिद्धये ॥ १ ॥

अथ वेश्यानां नित्यमेवाकारणविसर्जनाद्यैरनर्थौ भवतः तावाह—

विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥ ४५ ॥

टीका—एता वेश्याः सर्वसामान्या भवन्ति तद्गच्छंत्यो वा गृहादागच्छन्त्यो वा यदि कश्चिद्विद्वांस्तदनुभवं करोति ता अभिलषति । तद्धनलोभेन तं भजते ततश्च तेन सह प्राणान्तिकं युद्धं भवति स महाननर्थः । तस्माद्वेश्यानामकारणविसर्जनं न कार्यं किं वा गृहेषु कर्तव्यं, अथ कौतुकमात्रं संसेव्य मोचनीयाः । तथा च गुरुः—

किं वा गुप्ताः प्रकर्तव्याः किं वा कौतुकमात्रकं ।
आनीय ताः प्रमोक्तव्या वेश्याः पुंभिर्विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथ वेश्यानां स्वरूपमाह—

वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥ ४६ ॥

टीका—वेश्यानां विषये यासौ पुरुषस्यासक्तिरतीव व्यसनं तत्कस्य प्राणहानिं न करोति, अपि तु सर्वस्य । तस्माद्वेश्या त्याज्या तथा च नारदः—

प्राणार्थहानिरेव स्याद्वेश्यायां सक्तितो नृणाम् ।
यस्मात्तस्मात्परित्याज्या वेश्या पुंभिर्धनार्थिभिः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यास्वरूपमाह—

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषं ॥ ४७ ॥

टीका—या एता वेश्या उच्यन्ते ता धनमनुभवन्ति न पुरुषं । मूर्खः पुनरेवं जानाति ममैषा सानुरागा । यदि पुनर्धनं न प्रयच्छति तत्तत्संमुखमपि नावलोकयन्ति । तथा च भारद्वाजः—

न सेवन्ते नरं वेश्याः सेवन्ते केवलं धनम् ।
धनहीनं यतो मर्त्यं संत्यजन्ति च तत्क्षणात् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यानां स्वरूपमाह—

धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ॥ ४८ ॥

टीका—न बध्नन्ति कुर्वन्ति । कां ? प्रीतिं स्नेहं । काः ? वेश्याः । क ? धनहीने । किंविशिष्टे ? कामदेवेऽपि । तथा च भागुरिः—

न सेव्यते धनैर्हीनः कामदेवोऽपि चेत्स्वयं ।
वेश्याभिर्धनलुब्धाभिः कुष्ठी चापि निषेव्यते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यास्वरूपमाह—

स पुमानायतिसुखी यस्य सानुशयं वेश्यासु दानं ॥४९॥

टीका—स पुमान् पुरुषः सुखी स्यात् सुखाढ्यो भवति । कस्यां ? आयत्यां परिणामे भविष्यत्काले । यस्य किं ? दानं । किंविशिष्टं ? सानुशयं सखेदं । कासु ? वेश्यासु । यस्य पुरुषस्य वेश्यासु विषये सानुशयं दानं भवति स आयत्यां परिणामे सुखी भवति । तथा च नारदः—

प्रदानं यस्य वेश्यायां भवेत्सानुशयं सदा ।
परिणामे सुखाढ्योऽयं जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ वेश्यादानप्रसक्तस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवन्तीं करोति वेश्यां ॥ ५० ॥

टीका—स पुरुषः सर्वेषां पशूनां मध्ये प्रधानः पशुः । यः किं करोति ? योऽर्थवर्ती महार्थी । कां ? वेश्यां । केन ? स्वधनेन निजार्थेन । केषां ? परेषामन्येषां । आत्मनोऽपि तावद्वित्तक्षयं करोति, अन्येषामपि। तथा च वल्लभदेवः—

आत्मवित्तेन यो वेश्यां महार्थी कुरुते कुधीः ।
अन्येषां वित्तनाशाय पशूनां पशुः सर्वतः ॥ १ ॥

अथ पुरुषस्य वेश्यासंग्रहो यथा श्रेयःप्रदो भवति तदाह—

आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥ ५१ ॥

टीका—आङ् शब्दो मर्यादायां । आचित्तविश्रान्तेः चित्तविश्रान्ति यावत् पुरुषेण वेश्यासंग्रहः कार्यो न सदैव । एतदुक्तं भवति, वेश्यां दृष्ट्वा यदि चित्तं चलति तत्सेवनीया ततो मोचनीया । एवं कुर्वतः श्रेयः सौख्यं सदैव भवति । तथा च राजपुत्रः—

वेश्यादर्शनतश्चित्तं यदि वाञ्छा करोति च ।
तत्र सेव्याः प्रमोक्तव्या नैव नित्यं कदाचन ॥ १ ॥

अथ पुरुषस्य वेश्यासंग्रहात् यद्भवति तदाह—

सुरक्षितापि वेश्या स्वां प्रकृतिं न मुञ्चति ॥ ५२ ॥

टीका—न मुञ्चति । कासौ ? वेश्या । कां ? प्रकृतिं । किंविशिष्टां स्वां पुरुषान्तरसेवनलक्षणां । लोभोपहता सती पुरुषविशेषान् भजति तस्मात्तस्याः संग्रहो न कार्यः । अथवा नास्ति तस्या दोषः सर्वेऽपि प्राणिनः स्वां प्रकृतिं भजन्ते । तथा च गुरुः—

यद्वेश्या लोभसंयुक्ता स्वीकृतापि नरोत्तमैः ।
सेवयेत्पुरुषानन्यान् स्वभावो दुस्त्यजो यतः ॥ १ ॥

अथ वेश्यादृष्टान्तेन जन्तूनां प्रकृतेः स्वरूपमाह—

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्यते॥५३॥

टीका—न शक्यते। कासौ? प्रकृतिः स्वभावलक्षणा। किं कर्तुं? अपनेतुं नाशयितुं। या यस्य संभवा सहसा। केन? दैवेनापि विधात्रापि। आस्तां तावन्मनुष्येण। तथा च नारदः—

व्याघ्रः सेवति काननं सुगहनं सिंहो गुहां सेवते
हंसः सेवति पद्मिनीं कुसुमितं गृध्रः स्मशानस्थलीं।
साधुः सेवति साधुमेव सततं नीचोऽपि नीचं जनं
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता दुःखेन सा त्यज्यते॥१॥

अथ भूयोऽपि श्वप्रकृतिदृष्टान्तेनात्मप्रकृतिस्वरूपमाह—

सुभोजितोऽपि श्वा किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति॥ ५४ ॥

टीका—श्वा सारमेयः सुभोजितोऽपि तृप्तिं नीतोऽपि, किमशुची-न्यमेध्यानि अस्थीनि परिहरति, अपि न परिहरति। तथा च भृगुः—

स्वभावो नान्यथा कर्तुं शक्यः केनापि कुत्रचित्।
श्वेव सर्वरसान् भुक्त्वा विनामेध्यान्न तृप्यति॥ १ ॥

भूयोऽपि स्वप्रकृतिस्वरूपमाह—

न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति॥ ५५ ॥

टीका—कपिर्वानिरो न परिहरति न त्यजति किं तच्चापल्यं चप-लत्वं। केन कृत्वा? शिक्षाशतेनापि। तथा चात्रिः—

प्रोक्तः शिक्षाशतेनापि न चापल्यं त्यजेत्कपिः।
स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा॥१॥

अथ भूयोऽपि स्वप्रकृतिस्वरूपमाह—

---

१ षेवृङ् सेवने इत्यस्य नित्यमात्मनेपदित्वेऽपि परस्मैपदित्वं चिन्त्यम्।

टीका—आप्ता निजा ये पुरुषास्तैरग्रेसरैः प्रजल्पमानैर्यो विश्वासः समुत्पद्यते तद्वशीकरणं तेषु अन्यत्र गूढचरगुप्तपणिधिस्तेषु वशीकरणं यस्तेषां सर्वं चेष्टितं निवेदयतीति । तथा च शुक्रः—

बलवत्पक्षदायादा आप्तद्वारेण वश्यगाः।
भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ॥ १ ॥

अथ दुर्बोधे सुते दायादे वा यत्कर्तव्यं तदाह—

दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥ ६४ ॥

टीका—अवतारयेत् स्फोटयेत् । किं? दुरभिनिवेशं मूर्खाग्रहं । कस्मिन् सति? दुर्बोधे सति मूर्खत्वयुक्ते सति। कस्मिन्? सुते पुत्रे दायादे वा दुरभिनिवेशमवतारयेत्। काभिः कृत्वा? युक्तिभिः प्रपंचैः । एतदुक्तं भवति यदा तु पुत्रो बान्धवो वा विरुद्धो भवति तदा युक्तिभिः सन्तोषः कार्यः । तथा च रैभ्यः—

पुत्रो वा बान्धवो वापि विरुद्धो जायते यदा ।
तदा सन्तोषयुक्तस्तु सत्कार्यो भूतिमिच्छता ॥ १ ॥

अथ साधूनां सुचाराणां यो विकृतिं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

साधूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥ ६५ ॥

टीका—साधुषु लोकेषूपचर्यमाणेषूपकारं क्रियमाणेषु यद्विकृतिभजनं विरुद्धं क्रियते । तत्किंविशिष्टमिव ? स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव स्वहस्तेन तावदङ्गाराणां कर्षणं क्रियते । तथा च भागुरिः—

साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः ।
स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ॥ १ ॥

अथ मातृपितृभ्यामशुद्धाभ्यामपत्यानि यादृक्षाणि भवन्ति तदाह—

क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥ ६६ ॥

टीका—तथा च—

यथा पुत्रः समाचष्टे मातुः शीलं स्वकैर्गुणैः ।
तथा स्वादु जलं लोके तुः ? ख्याति शुभाशुभम् ॥ १ ॥

क्षेत्रं माता, बीजं पिता ताभ्यां यद्वैकृत्यमकुलीनता स्यात् अपत्यानि तद्विकारयति विकृतिं नयति । अपत्यानां चेष्टितेन मातृपितृभ्यामकुलीनता ज्ञायते । तथा च गर्गः—

परभूतान्यपत्यानि तानि स्युर्यौवने स्थिते । ?
तानि बुद्धिं वदन्तिस्म पितृमातृसमुद्भवं ॥ १ ॥

अथ पुरुषोत्तमस्य यथोत्पत्तिर्भवति तदाह—

कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनःप्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसरस्वत्यावाहनमंत्रपूतपरमान्नोपयोगश्च पुरुषोत्तममवतारयन्ति ॥ ६७ ॥

टीका—एते ये पदाङ्काः प्रोक्तास्तैर्यथोदितं तेनानुष्ठितेन गर्भाधानेन गर्भग्रहणसमये पुरुषोत्तमं पुरुषप्रधानमवतारयन्ति जनयन्ति । कथं ? तावत् कुलविशुद्धिः मातृपितृसमुद्भवा ततश्च ताभ्यामुभयतः प्रीतिः परस्परं स्नेहः । ततश्च मनःप्रसादः एकचित्तता । ततश्चानुपहतकालसमयश्च निरुपहतवेला धूलिकादिभिर्दोषैः । तथा श्रीसरस्वत्यावाहनमंत्रपूतपरमान्नोपयोगश्च श्रीर्लक्ष्मीः सरस्वती भारती द्वाभ्यामपि ये मंत्रास्तैरभिमंत्र्य पूतं पवित्रीकृतं परमं उत्कृष्टं अन्नं तस्योपयोगो भक्षणं । तेन यत् समयसुरसेन (?) यो गर्भो भवति स पुरुषोत्तमो भवतीति । तथा च शुक्रः—

बीजयोनौ तथाहारौ यस्य नो विकृतिर्भवेत् ।
तथा मैथुनसम्पर्कः श्रेष्ठः संजायते पुमान् ॥ १ ॥

अथापत्येषु लाभालाभद्वयमाह—

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥ ६८ ॥

टीका—अपत्येषु कर्मरूपेषु एतद्यथासंभाव्येन देहलाभात्मलाभयोः कारणमस्ति । कस्य कस्य किं ? देहस्य तावद्गर्भशर्म यदि मातापत्येन शर्मवती तदापत्यस्यापि देहं शरीरं पुष्टमारोग्यं भवति । यदि जन्म-कर्म जन्मविद्यानन्दशुभं भवति शुभग्रहनिरीक्षितो भवति तदात्मलाभो जीवितलाभ इत्यर्थः । तदपत्यमुत्तममुत्कृष्टं कारणमिति । तथा च गुरुः—

गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते ।
तद्ववेद्धि शुभो देहो जीवितव्यं च जन्मनि ॥ १ ॥

अथ यादृशानां पुरुषाणां राज्याधिकारो भवति प्रव्रज्याधिकारश्च तानाह—

स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्यं प्रव्रज्यायां च नास्त्य-धिकारः ॥ ६९ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते कोऽसावधिकारः । क ? राज्ये । केषां ? स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां स्वकीया जातिः स्वजातिस्तस्या योग्यो योऽसौ संस्कारोऽनुष्ठानलक्षणस्तेन हीना ये तेषामधिकारो नास्ति राज्ये प्रव्रज्यायां च । तथा च शुक्रः—

स्वजात्ययोग्यसंस्कारैर्ये नरा परिवर्जिताः ।
अधिकारो न राज्येषु न च तेषां व्रतेषु च ॥ १ ॥

अथ व्यंगानां यथा राज्याधिकारोऽस्ति तदाह—

असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रो-त्पत्तेः ॥ ७० ॥

टीका—असति अविद्यमानेऽन्यस्मिन् पुत्रे योग्ये व्यंगोऽपि पुत्रः काणः कुब्जोऽन्धो वा पितृपदमर्हति राजावसाने स्थितः। कियत्कालं यावत्? आ पुत्रोत्पत्तेः यावत्तद्व्यङ्गस्य पुत्रो भवति पुत्रे जाते सति स जातमात्रोऽपि राज्यपदे कर्तव्यो न व्यंगः। तथा च शुक्रः—

राजाभवे तु संजाते योग्यः पुत्रो न चेद्भवेत्।
तदा व्यंगोऽपि संस्थाप्यो यावत्पुत्रसमुद्भवः॥ १॥

अथ राजपुत्राणां यथाभ्युदयो न दोषवान् भवति तदाह—

साधुसम्पादितो हि राजपुत्राणां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति॥ ७१॥

टीका—न दोषयुक्तं करोति कोऽसौ? विनयः। कं? अन्वयं वंशं अभ्युदयं च राज्यवृद्धिं च। केषां? राजपुत्राणां। किंविशिष्टो विनयः? साधुसम्पादितः साधुभिः सम्पादितः शिष्टनियोजितः। तथा च बादरायणः—

विनयः साधुभिर्दत्तो राजज्ञानां भवेद्धि यः।
न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम्॥ १॥

अथाविनीतस्य राजपुत्रस्य चेष्टितं राज्यं यादृग्भवति तदाह—

घुणजग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येत्॥ ७२॥

टीका—भज्येत् विनाशं याति। किं तत् राज्यं राजवंशः। यदि किं? यदि अभियुक्तं यदि राज्ये स्थापितं। कं? राजपुत्रं। किंविशिष्टं? अविनीतं दुराचारं। किमिव भज्येत्? काष्ठमिव। किंविशिष्टं काष्ठं? घुणजग्धं कृमिविशेषभक्षितं। तस्मादविनीतो राजपुत्रो राज्ये न नियोक्तव्यः। तथा च भागुरिः—

राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्योतिषेवितः?।
तद्राज्यं नाशमायाति घुणजग्धं च दारुवत्॥ १॥

अथ यादृक्षा राजपुत्राः पितरं न द्रुह्यन्ति तेषां स्वरूपमाह—

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्ति ॥ ७३ ॥

टीका—ये राजपुत्रा आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धा भवन्ति । आप्ता निजा ये विद्यावृद्धा विद्वांसो विद्यया कृत्वा ये वृद्धा न जरसा तैर्ये उपरुद्धा वृद्धिं नीताः । तथा सुखोपरुद्धाः सुखेन ये वृद्धिं नीतास्ते कदाचिदेव पितरं न द्रुह्यन्ति न व्यापादयन्ति । तथा च गौतमः—

आप्तैर्विद्याधिकैर्येऽत्र राजपुत्राः सुरक्षिताः ।
वृद्धिं गताश्च सौख्येन जनकं न द्रुह्यन्ति ते ॥ १ ॥

अथ राजपुत्राणां मातापितरौ यादृग्भूतौ तदाह—

मातृपितरौ राजपुत्राणां परमं दैवं ॥ ७४ ॥

टीका—माता च पिता च मातृपितरौ राजपुत्राणां । किंविशिष्टौ भवतः? परममुत्कृष्टं दैवं प्राक्तनं कर्मेत्यर्थः । यदि तैरन्यजन्मनि सुकृतं कृतं भवति तन्मातृपितृभ्यां सकाशात् राज्यप्राप्तिर्भवति । अथवा दुष्कृतं कृतं भवति तत्ताभ्यां पार्श्वाद्विनाशो भवति । तथा च गर्गः

जननीजनकावेतौ प्राक्तनं कर्म विश्रुतौ ।
सर्वेषां राजपुत्राणां शुभाशुभप्रदौ हि तौ ॥ १ ॥

अथ मातृपितॄणां सकाशात् राजपुत्राणां यद्भवति तदाह—

यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥ ७५ ॥

टीका—याभ्यां प्रसादादात्मलाभः शरीरलाभो राज्यलाभश्च भवति। तथा च रैभ्यः—

अत एव हि विज्ञेयौ जननीजनकावुभौ ।
दैवं याभ्यां प्रसादेन शरीरं राज्यमाप्यते ॥ १ ॥

अथ ये राजपुत्रा मातृपितृभ्यामपमानं कुर्वन्ति तेषां यद्भवति तदाह—

मातृपितृभ्यां मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥ ७६ ॥

टीका—भवन्ति जायन्ते। काः? श्रियो लक्ष्म्यः। किंविशिष्टाः? विमुखा वैपरीत्येन संयुक्ताः। कीदृश्योऽपि? सम्मुखा अपि सप्रसादा अपि। केषु? राजपुत्रेषु। किंकुर्वाणेषु? अपमन्यमानेषु अपमानपरेषु। केन कृत्वा? मनसापि। आस्तां तावत्कर्तव्येन। काभ्यां? मातृपितृभ्यां तस्माद्राजपुत्रेण मनसापि न मातृपितृभ्यामपमानः कार्यः। तथा च वादरायणः—

मनसाप्यमानं यो राजपुत्रः समाचरेत्।
सदा मातृपितृभ्यां च तस्य श्रीः स्यात् पराङ्मुखा ॥ १ ॥

अथ मातृपितृभ्यामपमानेन कृत्वा लब्धेनापि राज्येन यद्भवति तदाह—

किं तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ॥ ७७ ॥

टीका—किं तेन राज्येन वृथैव तद्राज्यं। यत्र किं स्यात्? जन्म। किंविशिष्टं दुरपवादोपहतं दुष्टोऽपवादो दुरपवादो लोकनिन्दा सा यत्र राज्ये भवति तद्राज्यं वृथैव। तथा च शुक्रः—

जनापवादसहितं यद्राज्यमिह कीर्त्यते।
प्रभूतमपि तन्मिथ्या तत्पापायं राजसंस्थिते ॥ १ ॥

अथ राजपुत्रेण यत्कर्तव्यं तदाह—

क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां नो लंघयेत् ॥ ७८ ॥

टीका—नो लंघयेत् नातिक्रमेत्। कोऽसौ? राजपुत्रः। कां? आज्ञामादेशं। कस्य? पितुः। क्व विषये? क्वचिदपि कर्मणि। तथा च भृगुः—

राजपुत्रः समादिष्टः पित्रा रौद्रेऽपि कर्मणि।
आदेशं नान्यथा कुपस्य यततोऽपि च? ॥ १ ॥

अथ रामदृष्टान्तेन पितुराज्ञाकरणमाह—

किन्तु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥ ७९ ॥

टीका—गतार्थमेतत्।

अथ राजपुत्रस्य यथाविरुद्धं न कर्तव्यं तदाह—

यः खलु पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्तव्यः ॥ ८० ॥

टीका—यः पुत्रो लभ्यते। कथं? मनसितपरंपरया देवानामुपयाचितशतैः स कथमपकर्तव्यः कथं तस्य वधादिकं चिन्तनीयमित्यर्थः। तथा च गुरुः

उपयाचितसंघातैर्यः कृच्छ्रेण प्रलभ्यते।
तस्मादात्मजस्य नो पापं चिन्तनीयं कथंचन ॥ १ ॥

अथाशुभस्यापि कर्मणः करणीयमाह—

कर्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥ ८१ ॥

टीका—अशुभमपि कर्म कर्तव्यं पुरुषेण। यदि किं तत्स्यात्? यदि विपद्विधानं यत्तस्य क्रियते वाढं रक्षणं तदा ह्यात्मनो न भवेत्। एतदुक्तं भवति, पुत्रे हते यदेतस्य कोपि पक्षपतिस्तस्य वचनाधारो न भवेत्, हन्यमानस्यापरस्य यज्जातं तदात्मनो यदि न भवेत्। तथा च गर्गः—

अनिष्टमपि कर्तव्यं कर्म पुंभिर्विचक्षणैः ॥
तस्य चेद्धन्यमानस्य यज्जातं तत्स्वयं भवेत् ॥ १ ॥

अथ राजपुत्राणां यथा सौख्यं भवति तदाह—

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राज्यभारः ॥८२॥

---

१ अस्यावतरणिकाप्युक्तिश्च वर्तते न सूत्रं नापि व्याख्या, सूत्रं तु मुद्रितमूलपुस्तकात् संयोजितं वृत्तिश्च कल्पिता।

टीका—(ते राजपुत्रा भवंति। किंविशिष्टाः ? सुखिनः सुखसमाक्रान्ताः। येषां किं ? येषां राज्यभारः राज्यकीयं कृत्यं वर्तते। क ? पितरि)। तथा चात्रिः—

येषां पिता वहेदत्र राज्यभारं सुदुर्वहम्।
राजपुत्रा सुखाढ्याश्च ते भवन्ति सदैव हि ॥ १ ॥

अथ राज्यश्रियो दूषणमाह—

अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासंगपरंपराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥ ८३ ॥

टीका—अलं तया श्रिया पर्याप्तं व्यर्थया तया लक्ष्म्या। या किमपि सुखं कियन्मात्रं स्तोकं शर्म जनयन्ती व्यासंगपरम्पराभिः क्लेशमालाभिः शतस्य प्रभूततरं दुःखं कष्टं अनुभावयति प्रकटयति। तस्मादक्लेशेन या श्रीः सा श्रीर्भण्यते नान्या। तथा च कौशिकः—

अल्पसौख्यकरा या च बहुक्लेशप्रदा भवेत्।
वृथा सात्र परिज्ञेया लक्ष्म्याः सौख्यफलं यतः ॥ १ ॥

अथ निष्फलस्यारम्भस्य स्वरूपमाह—

निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ॥ ८४ ॥

टीका—फलरहितो य आरंभः प्रयोजनः स कस्योदर्के परिणामकाले सुखावहः सुखं जनयेत् न तं प्राज्ञः कथमपि कुर्यात्। तथा च[1]—

... ...।
... ... ॥ १ ॥

अथ परक्षेत्रं यः कृषति कर्षापयति वा यो ग्रामीणः तस्य यद्भवति तदाह—

परक्षेत्रं स्वयं कृषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ॥ ८५ ॥

---

१ त्रुटितोऽयं श्लोकः कर्तुर्नाम च।

टीका—परं क्षेत्रं स्वयं कृषतोऽन्यपार्श्वात्कर्षापयतो वा पुरुषस्य न किञ्चित्फलं भवति तत्र यत्फलमुत्पद्यते तत्क्षेत्रस्वामिन एव। तथा च कौशिकः—

परक्षेत्रे तु यो बीजं परिक्षयति मन्दधीः।
परिक्षेपयतो वापि तत्फलं क्षेत्रपस्य हि ॥ १ ॥

अथ ये राजन्युपरते राजार्हा भवन्ति तानाह—

सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्तिः ॥ ८६ ॥

टीका—राजन्युपरते एतेषां सप्तसंख्यानां उत्तरोत्तरन्यायेन तयोर्यस्य कुर्वतस्तस्य तद्राज्यपदस्याधिकारः। पुत्रस्य तावत् प्रथमाधिकारः। तदभावे सोदरस्य भ्रातुः। तदभावे सपत्नस्य वैमात्रिकस्य। तदभावे पितृभ्रातुः। तदभावे कुल्यस्य गोत्रिणः। तदभावे दौहित्रस्य सुतासुतस्य। तदभावे आगन्तुकस्य राज्यार्हस्य पदं योग्यं। तथा च शुक्रः—

सुतः सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रिणस्तथा।
दौहित्रागन्तुका योग्या पदे राज्ञो यथाक्रमम् ॥ १ ॥

अथ पापाचारस्य सभायां गतस्य लक्षणमाह—

शुष्कश्याममुखता वाक्स्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेपथुः प्रस्खलनमास्यप्रेक्षणमावेगः कर्मणि भूमौ वानवस्थानमिति दुष्कृतं कृतः करिष्यतो वा लिंगानि ॥ ८७ ॥

टीका—दुष्कृतं पापं कृतवतः पुरुषस्य करिष्यतो वा सभां नीतस्यैतानि पूर्वोक्तानि लिंगानि चिन्हानि भवान्ति। तैरव लक्षयेत्पापाचारोऽयं। कानि कानि लिङ्गानि शुष्कस्तावद्भूत्वा कृष्णमुखो भवति। तथा वाक्स्तम्भो वक्तुं न शक्नोति। तथा प्रस्वेदः प्रस्विद्यति। तथा विजृम्भणं मुखप्रसरणं मुहुर्मुहुः करोति। तथातिमात्रं वेपथुरतिशयेन कम्पनं।

तथा प्रस्खलनं प्रस्खलनयुक्तैः पदैः समागच्छति। तथास्यप्रेक्षणं अन्यथा वान्यथा वर्तते। तथा आवेगः कर्माणि कृत्ये यामाह(?)। तथा भूमौ अनवस्थानं एकस्मिन् स्थाने न तिष्ठतीति। तथा च शुक्रः—

आयाति स्खलितैः पादैः सभायां पापकर्मकृत्।
प्रस्वेदनेन संयुक्तो अधोदृष्टिः सुर्म्मनाः ?॥ १॥

इति राजरक्षासमुद्देशः।

२५ दिवसानुष्ठान-समुद्देशः ।

अथ सर्वेषां सामान्यो नित्याचारो व्याख्यायते तत्र तावद्गृहस्थेन यत्कर्तव्यं तदाह—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थायेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥ १ ॥

सुखनिद्राप्रसन्ने मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थग्राहिका बुद्धयः ॥ २ ॥

उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥ ३ ॥

आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ॥ ४ ॥

न प्रातर्वर्षधरं विकलाङ्गं वा पश्येत् ॥ ५ ॥

सन्ध्यास्वधौतमुखपादं जेष्ठा देवता नानुगृह्णाति ॥ ६ ॥

नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥ ७ ॥

न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥ ८ ॥

न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानं ॥ ९ ॥

वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन-स्वच्छन्दवृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥ १० ॥

---

१ अस्मादग्रेऽयं पाठः 'एवं करिष्यामि इति कृत्वा उत्थाय, कस्मिन् काले मुहूर्ते, किंविशिष्टे ? ब्राह्मे '। अस्माच्चाग्रेतनः पाठः पुस्तकाच्च्युतोऽतः मूलपुस्तकद्वयं विलोक्य केवलो मूलपाठ एव प्रकाश्यते । २ हि मनसि मु. । ३ सर्वा बुद्धयो यथार्था वा. मु. । ४ सन्धिषु मु. । ५ आत्ममुखवैकृत्यमाज्ये दर्पणे वा स्वयं निरीक्षेत मू० । ६ रजस्वलां वा मु. । ७ सन्ध्यासु धौतमुखं जप्त्वा देवतानुगृह्णाति मु. । ८ नातिमुख० मु. ।

शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसंरोधोऽश्मरी-भगंदरगुल्मार्शसां हेतुः ॥ ११ ॥

गन्धलेपावसानं शौचमाचरेत् ॥ १२ ॥

बहिरागतो नानाचम्य गृहं प्रविशेत् ॥ १३ ॥

गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्यः ॥ १४ ॥

शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥ १५ ॥

शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥ १६ ॥

आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥ १७ ॥

बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥ १८ ॥

अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥१९॥

इन्द्रियात्ममनोमरुतां[1] सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥ २० ॥

यथास्वात्म्यं[2] स्वपाद्भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥ २१ ॥

अघटितमपिहितं[3] च भाजनं न[4] साधयत्यन्नानि ॥ २२ ॥

नित्यस्नानं[5] द्वितीयकमुत्सादनं तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥ २३ ॥

धर्मार्थकाम[6]शुद्धिदुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥ २४ ॥

श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलं ॥ २५ ॥

---

१ इन्द्रियात्ममनसां मु. २ यथासात्म्यं मु.। ३ सुघटितं मु.। ४ नो नास्ति मु-पुस्तके। ५ हस्तपादमर्दनमुत्साहवर्धनमायुष्यं त्रिगुह्येरकृतकर्म कृत्या (?) पुष्पं स्त्रीगुह्ये रोमावहरणे दशमेऽह्नि नित्यं स्नानं इत्यादि पाठः मु-पुस्तके। ६ धर्मकामार्थाशुद्ध० मु-पुस्तके।

जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि।२६।

प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात्[1] ॥ २७ ॥

आतपसंतप्तस्य[2] जलावगाहो दृग्मान्द्यं शिरोव्यथां[3] च करोति ॥ २८ ॥

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥ २९ ॥

अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तं च भवति विषं ॥ ३० ॥

जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ[4] सदैव वज्रकं बलयेत्॥३१॥

निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्निं[5] नाशयति ॥ ३२ ॥

अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः[6] परं कारणमस्ति ॥ ३३ ॥

घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥ ३४ ॥

सकृद्भूरि[7] नीरोपयोगो वन्हिमवसादयति ॥ ३५ ॥

क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥ ३६ ॥

विध्याते वन्हौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

यो मितं भुंक्ते स बहु भुंक्ते ॥ ३८ ॥

अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ॥ ३९ ॥

फल्गुभुजमननुकूलं[8] क्षुधितमतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ॥ ४० ॥

गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ॥ ४१ ॥

तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्यते[9] वन्हिः ॥४२॥

न भुक्तिपरिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति ॥ ४३ ॥

वन्ह्यभिलाषायत्तं हि[10] भोजनं ॥ ४४ ॥

---

१ न कुर्यात् मु. । २ तप्तस्य मु. । ३ शिरोभितापं मु. । ४ भोजनादौ मु. । ५ अग्निनांशयति मु. । ६ पेयायः परं कारणमसिघृताधरोत्तरं भुञ्जानो मु. । ७ प्रभूतं मु. । ८ फल्गुभुज. मु. । ९ विपद्येत मु. । १० च मु. ।

अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ॥ ४५ ॥

दीप्तो वन्हिर्लघुभोजानाद्बलं क्षपयति ॥ ४६ ॥

अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणामः ॥ ४७ ॥

श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥ ४८ ॥

न जिहत्सुर्न प्रस्त्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनाश्च नानपनीय पिपासोद्रेकमश्नीयात् ॥ ४९ ॥

भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणं ॥ ५० ॥

आजन्मसात्म्यं[1] विषमपि पथ्यं ॥ ५१ ॥

असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यं ॥ ५२ ॥

सर्वं बलवतः पथ्यमिति[2] न कालकूटं सेवेत[3] ॥ ५३ ॥

सुशिक्षितोऽपि विषतंत्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ॥ ५४ ॥

संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ॥ ५५ ॥

देवान् गुरून् धर्म चोपचरन्न[4] व्याकुलमतिः स्यात् ॥ ५६ ॥

व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥ ५७ ॥

स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनं ॥ ५८ ॥

यथाकामसमीहानाः[5] किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनां ॥ ५९ ॥

सततं सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय[6] सरसः[7] स्वैरालापस्ताम्बूलभक्षणं च ॥ ६० ॥

चिरायोर्ध्वजानुर्[8]जडयति रसवाहिनीः स्नसाः[9] ॥ ६१ ॥

---

१ सात्म्येन मु. । २ मिति मत्वा मु. । ३ खादेत् मु. । ४ भाकुलमतिः मु. । ५ समीहाः मु. । ६ सुखायेति मु. पुस्तके नास्ति । ७ रसैस्वैरालापः तांबूलं च मू. । ८ चिरमूर्ध्वंस्थो मु. । ९ वाहिनीर्नसाः मू. पुस्तके ।

सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि मनसि शरीरे च ॥ ६२ ॥

अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥ ६३ ॥

नादेवं देहप्रसादं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति प्रत्ययः[1] ॥ ६५ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥ ६६ ॥

तस्यैवैतानि खलु विशेषनामान्यर्हन्नजोऽनन्तः शंभुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥ ६७ ॥

आत्मसुखानुरोधेन[2] कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥ ६८ ॥

कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमं ॥ ६९ ॥

आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः[3] ॥ ७० ॥

अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥ ७१ ॥

आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ॥ ७२ ॥

सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं[4] यायात् ॥ ७३ ॥

अनधिकृतोऽनभिमतश्च[5] न राजसभां प्रविशेत् ॥ ७४ ॥

आराध्यमुत्थायाभिवादयेत्[6] ॥ ७५ ॥

देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥ ७६ ॥

कुहकाभिचारकार्मणकारिभिः सह न संगच्छेत् ॥ ७७ ॥

प्राण्युपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्तयेत् ॥ ७८ ॥

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥ ७९ ॥

नाति क्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ॥ ८० ॥

---

१ संप्रत्ययः मु. । २ आत्मसुखानवरोधेन मु. । ३ नास्त्यपरो धर्मस्य मु. ४ धर्मासनं मु. । ५ कृतामंत्रितश्च मु. । ६ ध्यं, समुत्थाय मु. ।

नाप्ता[1]शोधितपरस्थानमुपेयात्[2] ॥ ८१ ॥

नाप्तजनैरनारूढं वाहनमध्यासीत ॥ ८२ ॥

न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ॥ ८३ ॥

नया[3]र्पिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ॥ ८४ ॥

न विषापहारौषधम[4]णीन् क्षणमप्युपासीत[5] ॥ ८५ ॥

मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥ ८६ ॥

वन्हावन्यचक्षुषि च भोग्यमुपभोग्यं च परीक्षेत ॥ ८७ ॥

अमृते मरुति प्रविश[6]ति सर्वदा चेष्टेत[7] ॥ ८८ ॥

भुक्तिसुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥ ८९ ॥

परमात्मना समीकुर्वन् न[8] कस्यापि भवति द्वेष्यः[9] ॥ ९० ॥

मनःपरिजन[10]शकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेर्लिंगम् ॥ ९१ ॥

नैको नक्तं दिवं[11] हिंडेत ॥ ९२ ॥

नियमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ॥ ९३ ॥

अहनि संध्यामुपासीताऽऽनक्षत्रदर्शनात् ॥ ९४ ॥

'च[12]तुः पयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहबालधिं वर्णाश्रम[13]खुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशौचचक्षुषं न्यायमु[14]खीमिमां गां गोपयाम्यस्तमहं मनसापि न सं[15]हेयोपराध्येत्तस्यै, इतीमं मंत्रं समाधिस्थो जपेत् ॥ ९५ ॥

---

१ नाशोधित मु.। २ मुपावशेद्उपेयाद्वा मु.। ३ नयाष्टिकः मु.। ४ मणिः क्षणमप्यासीत मू०। ५ अस्मादग्रे 'सदैव जांगलिकीं विद्यां कंठे न धारयेत्' मु.। ६ विशति सति मु. ७ चेष्टेत कृत्यानि सर्वाणि मु। ८ नेति मु.—पुस्तके नास्ति। ९ द्वेष्यमनः मु.। १० परिजनदिनशकुन० मु. ११ दिवं वाऽऽहिंडेत् मु.। १२ ततः पयोधि० मु.। १३ वर्णाश्रमकर्णा मु.। १४ न्यायमार्गाभिमुखीं मु.। १५ सहेयं योऽपराद्धयेदेतस्यै मु.।

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ॥ ९६ ॥

चकोरवन्नक्तंकामो दिवा च ॥ ९७ ॥

पारावतकामो वृष्याभयोगान् चरेत् ॥ ९८ ॥

बष्कयणीनां सुरभीणां पयःसिद्धं माषत्नसपरमान्नं परो योगः स्मरसंवर्धने ॥ ९९ ॥

नावृषस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ॥ १०० ॥

उष्णप्रकर्षवान् प्रदेशः परमरहस्यमनुरागे प्रथमप्रकृतीनां ॥ १०१ ॥

स्त्रीपुंसयोर्न समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति ॥ १०२ ॥

प्रकृतिरुपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोगवैदग्ध्यमिति समसमायोगकारणानि ॥ १०३ ॥

क्षुत्तर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ॥ १०४ ॥

न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥१०५॥

पर्वणि पर्वणि संधौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ।१०६।

न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥ १०७ ॥

वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा कं न विडम्बयति ॥ १०८ ॥

---

१ शब्दोऽयं मु-पुस्ते नास्ति । २ आचरेत् मु. । ३ मकृत्नसूतां । ४ स्त्रिय. मु. । ५ उत्तरः प्रवर्षवान् देशः मु. । ६ अस्मादग्रे इमानि सूत्राणि मु-पुस्तके 'द्वितीयप्रकृतिः सशाङ्कनमृदुपवन प्रदेशः । तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् । धर्मार्थस्थाने लिंगोत्सवं लभते । ७ स्त्रीपुरुषाणां स्त्रीपुंसयो मु. । ८ पर्वसन्धौ मु. । ९ सोपद्रुते मु । १० नोपसेवेत मु. । ११ नापवादंदेतत् इत्यपि पाठः ।

अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किंचित्प्रवेशयेन्निष्कासयेद्वा ॥ १०९ ॥

श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेण पल्लवनरेन्द्रं हयपतिश्च मेषविषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघानेति ॥ ११० ॥

सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित्क्रिया ॥ १११ ॥

इति दिवसानुष्ठानसमुद्देशः ।

---

१ निर्यासयेद्वा मु. । निःकासयेद्वा मू. २ इमस्ते मु. ।

२६ सदाचार-समुद्देशः

लोभप्रमाद विश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्चयते वा॥१॥

टीका—..।

अविरोधेन यत्कर्तव्यं तदाह—

बलवताधिष्ठितस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥ २ ॥

टीका—बलवताधिष्ठितस्य गृहीतस्य विदेशवासः परदेशगमनं श्रेयः श्रेयस्करं भवति। अथवा तदनुप्रवेशस्तेन सह संधाने श्रेयस्करमिति। तथा च शुक्रः—

बलवान् स्याद्यदाशंसस्तदा देशं परित्यजेत्।
तेनैव सह सन्धि वा कुर्यान्न स्थीयतेऽन्यथा ॥ १ ॥

अथ परदेशस्य दोषमाह—

विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः[1] को नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥ ३ ॥

टीका—विदेशवासोपहतस्य दूषितस्य पुरुषस्य को नामाहो तदिह पुरुषकारः। कस्मात्? येन पुरुषेण न ज्ञायते स महानपि तस्याधमस्यापि लघुर्भवति नारातमाप्नोतीत्यर्थः (?)। तथा चात्रिः—

महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते।
अज्ञानमानैस्तद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकं ॥ १ ॥

अथालब्धप्रतिष्ठितस्य यद्भवति तदाह—

अलब्धप्रतिष्ठितस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥ ४ ॥

---

१ पुरुषप्रयत्नः। २ अज्ञायमानैः इति मुभाति।

टीका—नाहंकारं करोति अहं उत्तम एवं एवं संजातः वदति पापाचारो भवति स इत्थंभूतोऽहंकारोऽर्थः कं न विद्वांसं परिभवति अपि तु समस्तं जनं। तथा च भारद्वाजः—

जलप्रमाणं कुमुदस्य नालं
कुलप्रमाणं पुरुषस्य शीलं।
कुशीलवान् शंसति चेत्स्ववंशो
अयेवमन्यं (?) स करोति मन्दः ॥ १ ॥

अथार्तस्य स्वरूपमाह—

आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥ ५ ॥

टीका—आर्तो व्याधिग्रस्तः सर्वोऽपि जनो धर्मबुद्धिर्भवति न च नीरोगः। तथा च शौनकः—

व्याधिग्रस्तस्य बुद्धिः स्याद्धर्मस्योपरि सर्वतः।
भयेन धर्मराजस्य न स्वभावात्कथंचन ॥ १ ॥

स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥ ६ ॥

टीका—स पुरुषो नीरोगः कथ्यते यः स्वयमप्रेरितोऽपि केनापि समीहते वाञ्छापरो भवति। कस्मै ? धर्माय। तथा च हारीतः—

नीरोगः स परिज्ञेयो यः स्वयं धर्मवाञ्छकः।
व्याधिग्रस्तोऽपि पापात्मा नीरोगोऽपि स रोगवान् ॥ १ ॥

अथ व्याधिग्रस्तस्य यदौषधं भवति तदाह—

व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥ ७ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत् ? औषधं। किंविशिष्टं ? परममुत्कृष्टं। ऋते मुक्त्वा। कस्मात् ? धैर्याद्दृढत्वात्। कस्य ? व्याधिग्रस्तस्य। व्याधिग्रस्तो यः पुरुषो भवति तस्य धैर्यमौषधं नान्यदेव। तथा च धन्वन्तरिः—

---

१ दर्पः पुस्तके पाठः।

व्याधिग्रस्तस्य यद्धैर्यं तदेव परमौषधं।
नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधशतैरपि ॥ १ ॥

अथ महाभागः पुरुषो यथोच्यते तदाह—

स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥ ८ ॥

टीका—स पुरुषोऽत्र जगति महाभाग उच्यते। किं तस्य? दुरपवादोपहतं कुत्सितदोषोपहतं जन्म न भवति। तथा च गर्गः—

आजन्ममरणान्तं च वाच्यं यस्य न जायते।
सुसूक्ष्मं स महाभागो विज्ञेयः क्षितिमण्डले ॥ १ ॥

अथ मन्दमतीनां यद्भवति तदाह—

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनां ॥ ९ ॥

टीका—मन्दमतीनां दुष्टबुद्धीनां पुरुषाणां स्वोत्कर्षसंभावनं भवति निजाल्हादोत्कर्षो भवति। केषु? अर्थेषु प्रयोजनेषु। किंविशिष्टेषु पराधीनेषु। यो मूर्खो भवति स आत्मीयानि तानि मन्यमानस्तुष्टिं याति। तथा च कौशिकः—

कार्येषु सिद्धयमानेषु परस्य वशगेषु च।
आत्मीयेष्विव तेष्वेव तुष्टिं याति स मन्दधीः ॥ १ ॥

अथ भयेषु यथा प्रकारो भवति तदाह—

न भयेषु विषादः प्रतीकारः किन्तु धैर्यावलम्बनं ॥ १० ॥

टीका—न भयेषु भयस्थानेषु प्रतीकार उपकारको भवति। कोऽसौ? विषादो हृदयक्षोभः, तर्हि उपकारकः को भवति? धैर्यावलम्बनं भवति धैर्यावस्थितिः। तथा च भृगुः

भयस्थाने विषादं यः कुरुते स विनश्यति।
तस्य तज्जयं दं (?) ज्ञेयं यच्च धैर्यावलम्बनं ॥ १ ॥

अथ धानुष्केन तपस्विना च यत्कर्तव्यं तदाह—

स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणे शरसन्धाने मनः-समाधाने च मुह्यति ॥ ११ ॥

टीका—स किं धन्वी धानुष्को। यस्य किं? यस्य मनो मुह्यति। कस्मिन्? शरसन्धाने शरयोजने कस्मिन् काले? रणे संग्रामे युद्धकाले, यस्य शरसन्धाने मनो मुह्यति स धानुष्को न भवति लगुडायुध इत्यर्थः। तथा यस्य तपस्विनो मनो मुह्यति। कस्मिन्? मनःसमाधाने आत्मावलो-कने। कस्मिन्? मरणे प्राणावसाने, स तपस्वी योगी न भवतीत्यर्थः। तथा च नारदः—

व्यर्था यान्ति शरा यस्य युद्धे स स्यान्न चापधृक्।
योगिनोऽत्यन्तकालेन स्मृति (?) न च योगवान् ॥ १ ॥

अथ यस्य पुरुषस्यैहिकं फलं भवति तदाह—

कृते प्रतिकृतमकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिकं च ॥ १२ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्? फलं। किंविशिष्टं? ऐहिक-मिहजन्मसम्भवं, आमुत्रिकं पारलौकिकं च। कस्य? पुरुषस्य। किं-कृतवतः? अकुर्वतः। किं कृत्? कृते प्रतिकृतं, यः कृते शुभे वस्तुनि केन-चिच्छुभं न करोति, पापे कृते तस्यानिष्टं न करोति। तथा च हारितः—

कृते प्रतिकृतं नैव शुभं वा यदि वाशुभं।
यः करोति च मूढात्मा तस्य लोकद्वयं न हि ॥ १ ॥

अथ शत्रुणापि सूक्ते उक्ते यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रुणापि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ॥ १३ ॥

टीका—न दूषयितव्यं। किं तत्? सूक्तं शुभवचनं। कथंभूतं? उक्तं। केन? शत्रुणापि वैरिणापि। तथा च नारदः—

शत्रुणापि हि यत्प्रोक्तं सालङ्कारं सुभाषितं।
न तद्दोषेण संयोज्यं ग्राह्यं बुद्धिमता सदा ॥ १ ॥

अथ दुर्जनानां सज्जनानां यादृग्वचनं तदाह—

कलहजननमप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्म(र्मो) न सज्जनानां ॥ १४ ॥

टीका—दुर्जनानां यद्वचनं तत्किंविशिष्टं? कलहजननं युद्धं करोति। अप्रीत्युत्पादनं चास्नेहजननं चासजनानां। यत्पुनः सज्जनानां वचनं तद्धर्मं श्रेयस्करमित्यर्थः। तथा च भारविः—

खलो वदति तद्येन कलहः संप्रजायते।
सज्जनो धर्ममाचष्टे तच्छ्रोतव्यं क्रिया तथा ॥ १ ॥

अथ यादृक्पुरुषस्य लक्ष्मीसंमुखी न भवति तत्स्वरूपमाह—

श्रीर्न तस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सन्तुष्टः ॥ १५ ॥

टीका—तस्य पुरुषस्य लक्ष्मीः कदाचिदपि सम्मुखी न भवति। यो भवति। किंविशिष्टः? सन्तुष्टः। केन? अर्थेन द्रव्येण। किंविशिष्टेन? लब्धार्थमात्रेणापि स्तोकेनापीत्यर्थः। तथा च भागुरिः—

अल्पेनापि प्रलब्धेन यो द्रव्येण प्रहृष्यति।
पराङ्मुखी भवेत्तस्य लक्ष्मीर्नैवात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ यस्य वंशवृद्धिर्न भवति तमाह—

तस्य कुतो वंशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धम् ॥ १६ ॥

टीका—तस्य पुरुषस्य कुतो वंशवृद्धिः कुतः सन्तानवृद्धिः यो न प्रशमयति नोपशमं नयति। कं? वैरानुबन्धं परमवृत्ति (?) वैरानुबन्धं। तस्मात्पुरुषेण सर्वोपायैर्वैरं नाशं नेतव्यं। तथा च शुक्रः—

सामादिभिरुपायैर्यो वैरं नैव प्रशामयेत्।
बलवानपि तद्वंशो नाशं याति शनैः शनैः ॥ १ ॥

अथ यदुत्कृष्टं दानं सर्वेषां दानानां मध्ये भवति तदाह—

भीतेष्वभयदानात्परं न दानमस्ति ॥ १७ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्? परमुत्कृष्टं दानं यद्दीयते। केषु? भीतेषु भयत्रस्तेषु। (कस्मात्? अभयदानात्) अभयदानं रक्षासंज्ञमित्यर्थः। तथा च जैमिनिः—

भयभीतेषु यद्दानं तद्दानं परमं मतं।
रक्षात्मकं किमन्यैश्च दानैर्गजरथादिभिः॥ १॥

अथोत्साहवतः पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

स्वस्यासंपत्तौ न चिन्ता किंचित्कांक्षितमर्थं [प्रसूते] दुग्धे किन्तूत्साहः॥ १८॥

टीका—दुग्धे जनयति। कोऽसौ? उत्साहः। कं? अर्थं द्रव्यं। किंविशिष्टं? कांक्षितं वाञ्छितं। पुनरपि किंविशिष्टं? किंचित् अपूर्वं। एवं ज्ञात्वा चिन्ता न कार्याऽसम्पत्तौ। कस्य? (स्वस्य) चित्तस्य। एतज्ज्ञात्वा चिन्ता न कार्या केवलमुत्साहः समाश्रयणीयः सोऽपि सर्वं जनयति। तथा च शुक्रः—

उत्साहिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥ १॥

अथ पूर्वकर्मणः फलमाह—

स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्पफलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि बन्ध्यः॥ १९॥

टीका—खलु निश्चयेन सोऽपुण्योदयोऽन्यजन्मकर्मप्राप्तिः। यत्किं स्यात्? बन्ध्यः फलं न प्रयच्छति। कोऽसौ? स्वामी। कस्मिन्? आत्मनि। अपराधो वा, कस्मिन्? स्वामिनः कृते। यः सर्वेषु सेवकेषु कल्पवृक्षफलप्रदो भवति कल्पवृक्षवद्वाञ्छितं फलं ददाति। तथा च भागुरिः—

यत्प्रयच्छति न स्वामी सेवितोऽप्यल्पकं फलं।
कल्पवृक्षोपमोऽन्येषां तत्फलं पूर्वकर्मणः॥ १॥

अथ सदा दुःखितः पुरुषो यथा भवति तदाह—

स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंवर्धयन्ननुभवति॥ २०॥

टीका—स पुरुषः सदैव दुःखितो भवति। यः किं करोति? अनुभवति व्ययं करोति। किं कुर्वन्? असंवर्धयन्। किं तत्? मूलधनं पितृपैतामहं नाम। कथमसंवर्धन्? केवलं। केवलं भक्षयन् न वृद्धिं नयति सदा दुःखितो दरिद्रो भवतीत्यर्थः। तथा च गौतमः—

न वृद्धिं यो नयेद्वित्तं पितृपैतामहं कुधीः।
केवलं भक्षयत्येव स सदा दुःखितो भवेत्॥ १॥

अथ मूर्खदुर्जनपतितैः सह संगेन यद्भवति तदाह—

मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात्॥ २१॥

टीका—न कुर्यान्न विदधीत। कां? संगतिं मैत्रीं। कथं? सह सार्द्धं। कैः? मुर्खदुर्जनपतितचाण्डालैः। तथा च—

मूर्खदुर्जनचाण्डालैः संगतिं कुरुतेऽत्र यः।
स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य कथंचिदपि जायते॥ १॥

अथ क्षणिकचित्तानुरागलक्षणमाह—

किं तेन तुष्टेन यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुरागः॥ २२॥

टीका—किं तेन पुरुषेण तुष्टिं गतेन। यस्य किं? यस्य चित्तानुरागो हरिद्राराग इव—क्षणमात्रं सततं न भवति। तथा च जैमिनिः—

आजन्ममरणान्ते यः स्नेहः स स्नेह उच्यते
साधूनां यः खलानां च हरिद्राराग सन्निभः॥ १॥

अथात्मानमजानन् यः पराक्रमं करोति तमाह—

स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति॥२३॥

टीका—कस्य पराभवं न करोति अपि तु सर्वस्यापि जनस्य। कोऽसौ? विक्रमः पराक्रमः। किं कृत्वा? अविज्ञाय। किं तत्? आत्मानं। तस्मादात्मानं विज्ञाय शत्रोरुपरि विक्रमः कार्यः। तथा च वल्लभदेवः—

यः परं केवलो याति प्रोन्नतं मदमाश्रितः।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा॥ १॥

पराभियोग्यस्य यदुत्तरं भवति तदाह—

नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः॥२४॥

टीका—न उत्तरं न्यक्कारं। कोऽसौ? आक्रान्तिराक्रमणं। कस्य? पराभियोगस्य शत्रुनिग्रहस्य। किन्तु तर्हि युक्तेरुपन्यासो युक्तिकरणं येन तस्य निग्रहो भवतीति। तथा च गर्गः—

नाक्रान्त्या गृह्यते शत्रुर्यद्यपि स्यात्सुदुर्लभः।
युक्तिद्वारेण संग्राह्यो यद्यपि स्याद्बलोत्कटः॥ १॥

राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः॥ २५॥

टीका—गतार्थ मेतत्।

अथ मृतेषु विषयेषु यत्कर्तव्यं तदाह—

न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः॥ २६॥

टीका—मृतेषु पुरुषेषु पाश्चात्यैर्न रोदितव्यं यतो निपतन्ति तेषां मृतानां हृदयेष्वङ्गाराः। किंविशिष्टाः? अश्रुपातसमा अश्रुपाततुल्याः। किलेति कोमलामंत्रणे। एतज्ज्ञात्वा मृतेषु विषये न रोदितव्यं यदि स्नेहो भवति तदूर्ध्वदैहिकद्वारेण रोदितव्यमिति। तथा च गर्गः—

श्लेष्मास्तु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतो यशः।
तस्मान्न रोदितव्यं स्यात् क्रिया कार्या प्रयत्नतः॥ १॥

अतीते च वस्तुनि यथा शोकः श्रेयस्करो भवति तदाह—

अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः २७

टीका—अतीतेऽतिक्रान्ते वस्तुनि पदार्थे योऽसौ शोकः क्रियते। स श्रेयान् भवति। क्रियतास्ति दोषः (?)। यदि किं स्यात्? यदि तत्समागमो भवति शोकेन कृतेन तस्य वस्तुनोऽन्यथा दोष एव। तथा च भारद्वाजः—

मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन लभ्यते।
तत्कार्येणान्यथा कार्यः केवलं कायशोषकृत्॥ १॥

अथ (शोकमात्मनि चिरामनुवासयन् यथा त्रिवर्गं नाशयति तदाह)[1]—

शोकमात्मनि चिरमनुवासयंस्त्रिवर्गमनुशोषयति॥ २८॥

टीका—अनुशोषयत्युद्वासयति। किं? त्रिवर्गं धर्मार्थकामलक्षणं। किं कुर्वन्ननुवासयन् धारयन्। क? आत्मनि निजशरीरे। कथं धारयन्? चिरं प्रभूतकालं। कं? शोकं। शोकमात्मनि धारयँस्त्रिवर्गं नाशयतीति। तथा च कौशिकः—

यः शोकं धारयेद्देहे त्रिवर्गं नाशयेद्धि सः।
क्रियमाणं चिरं कालं तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत्॥ १॥

अथ कापुरुषस्य स्वरूपमाह—

स किं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषं।२९।

टीका—स किं पुरुषो न भवति पशुरेव। किंविशिष्टः? अकिंचनो दरिद्रः सन् विषयाभिलाषमिन्द्रियसुखमनुभवितुमिच्छति। तस्मात्पुरुषेण धनोपार्जनमादौ कार्यं ततश्च विषयसौख्यमनुभवनीयं। तथा च नारदः-

दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो हीनो विषयसेवने।
तस्य जन्म भवेद्व्यर्थं प्राहेदं नारदः स्वयं॥ १॥

अथ स्वर्गायातस्य पुरुषस्य चिन्हमाह—

1 कल्पितोऽयं. पाठः कंसस्थः।

अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिंगम् ॥ ३० ॥

टीका—स्वर्गविमुक्तानां मर्त्यलोकमुपागतानां पुरुषाणां लिंगं चिन्हं ज्ञायते। कथमपूर्वेषु लोकेषु दृष्टेषु प्रियपूर्वं मधुरं प्रथमं संभाषणं जल्पनं। यः पुरुषोऽपूर्वं जनं दृष्ट्वा प्रियालापैरालापयत्यसौ स्वर्गादवतीर्णो ज्ञेयः। तथा च गुरुः—

अपूर्वमपि यो दृष्ट्वा संभाषयति वल्गु च।
स ज्ञेयः पुरुषस्तज्ज्ञैर्यदोषो[1] त्यागतो दिवः ॥ १ ॥

अथ मृता अपि पुरुषा ये जीवन्त इव ज्ञायन्ते तानुद्दिश्याह—

न ते मृता येषामिहास्ति शास्वती कीर्तिः ॥ ३१ ॥

टीका—ते पुरुषा जीवन्तो ज्ञेया मृता अपि। येषामस्ति कीर्तिः। किंविशिष्टा? शास्वती अविनाशिनी प्रासाददैवकुलादिलक्षणा। तथा च नारदः—

मृता अपि परिज्ञेया जीवन्तस्तेऽत्र भूतले।
येषां सन्दिश्यते कीर्तिस्तडागाकरपूर्विका ॥ १ ॥

अथ भूभारस्वरूपभूपस्य लक्षणमाह—

स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥ ३२ ॥

टीका—स पुरुषः केवलं भूभाराय पृथिवीभाराय जातः। यस्य किं? यस्य न धवलितानि न शुक्लीतानि। कानि? भुवनानि। कैः? यशोभिः। तस्य जन्म पृथ्वीभाराय केवलमिति। तथा च गौतमः—

भुवनानि यशोभिर्नो यस्य शुक्लीकृतानि च।
भूमिभाराय संजातः स पुमानिह केवलं ॥ १ ॥

अथ योगिनां यः परोपकारो भवति तत्स्वरूपमाह—

---

1 यतोऽसावागतो दिवः इति भाव्यं।

परोपकारो योगिनां महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥ ३३ ॥

टीका—श्रेयोबन्धो भवति कल्याणबन्धो भवति । किंविशिष्टः ? महान् । कोऽसौ ? परोपकारः । केषां ? योगिनां महापुरुषाणां । तथा च जैमिनिः—

उपकारो भवेद्योऽत्र पुरुषाणां महात्मनां ।
कल्याणाय प्रभूताय स तेषां जायते ध्रुवम् ॥ १ ॥

अथ शरणागतानां परीक्षामाह—

का नाम शरणागतानां परीक्षा ॥ ३४ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ पातकीनां महासत्वानां च स्वरूपमाह

अभिभवनमंत्रेण परोपकारो महापातकिनां न महासत्वानां ॥ ३५ ॥

टीका—अभिभवनमंत्रेणाभिलाषमंत्रेण परोपकारः । केषां ? महापातकिनां न महासत्वानां । ये महासत्वा तेषामुपकारोऽभिलाषरहितः । तथा च शुक्रः—

महापातकयुक्ताः स्युस्ते निर्यांति वरं बलान् ।
अभिभवनमंत्रेण न सद्वाढं कथंचन ॥ १ ॥

अथ यस्य भूपतेः शत्रुः सभासु गुणग्रहणं न क्रियते तस्य यद्भवति तदाह—

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणप्रागल्भ्यं ॥ ३६ ॥

टीका—तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयः कथं वापि जयः स्यात् । यस्य द्विषत्सभासु नास्ति न विद्यते । किं तत् ? गुणग्रहणप्रागल्भ्यं गुणग्रहणप्राचुर्यं । तथा च शुक्रः—

कथं स्याद्विजयस्तस्य तथैवाभ्युदयः पुनः।
भूपतेर्यस्य नो कीर्तिः कीर्त्यतेऽरिसभासु च ॥ १ ॥

अथ गृहे पुरुषेण कुटुम्बं धरणीयं यत्र तत्स्वरूपमाह—

तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामिषम्॥३७॥

टीका—तस्य पुरुषस्य गृहे कुटुम्बं भार्यादिकं पुरुषेण स्थापनीयं यत्र परेषामिषमुपभोग्यं न भवति। येभ्यो भयं क्रियमाणमास्ते तेषां भयं यत्र न भवति। तथा च जैमिनिः—

नामिषं मन्दिरे यस्य विप्लवं वा प्रपद्यते।
कुटुम्बं धारयेत्तत्र य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः ॥ १ ॥

अथ परस्त्री द्रव्यरक्षणेन यद्भवति तदाह—

परस्त्रीद्रव्यरक्षणेन नात्मनः किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसम्बन्धः ॥ ३८ ॥

टीका—वैरसम्बन्ध इत्यर्थः। तस्मात्परस्त्रियं परवित्तं च रक्षणार्थं न गृह्णीयात्। तथा चात्रिः—

परार्थं परनारीं वा रक्षार्थं योऽत्र गृह्णाति।
विप्लवं याति चेद्वित्तं तत्फलं वैरसम्भवं ॥ १ ॥

अथात्मानुरक्तस्य यत्कर्तव्यं तदाह—

आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यद्यस्ति तदन्ते तस्य सन्तोषः ॥ ३९ ॥

टीका—आत्मानुरक्तः कथमपि न सन्त्याज्यो यद्यस्ति चेत्तस्य सन्तोषः। तथा च गुरुः—

अभियुक्तजनं यच्च न त्याज्यं तद्विवेकिना।
पोषणीयं प्रयत्नेन यदि तस्य शुभार्थता ॥ १ ॥

अथ यादृशो भृत्यो न करणीयस्तत्स्वरूपमाह—

आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥ ४० ॥

टीका—यो भृत्य आत्मसंभावितः सगर्वो भवति स परेषां भृत्यानामसहमानो बहुपरिजनमपि प्रभूतभृत्यमपि स्वामिनमेकाकिनं करोति । एतदुक्तं भवति, यस्य स्वामिनः सगर्वो भृत्योऽन्येषां भृत्यानामहसमानोनुग्रहास्तो भवति स स्वामी एकाकी भवति तथापरभृत्यैस्तज्यत इति । तथा च राजपुत्रः—

प्रसादाढ्या भवेद्भृत्यः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः ।
स त्यज्यतेऽन्यभृत्यैश्च शुष्को वृक्षो अडैर्यथा ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यथा दण्डः पातयितव्यस्तथाह—

अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥ ४१ ॥

टीका—प्रणेतव्यः पातनीयः । कोऽसौ ? दण्डः । किंविशिष्ट ? अपराधानुरूपः । कस्मिन् ? पुत्रेऽपि आस्तां तावदन्येषु । तथा च शुक्रः—

अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा ।
पुत्रस्यापि किमन्येषां ये स्युः पापपरायणाः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥ ४२ ॥

प्रतिपाद्यानुरूपं[1] वचनमुदाहर्तव्यं ॥ ४३ ॥

आयानुरूपो व्ययः कार्यः[2] ॥ ४४ ॥

ऐश्वर्यानुरूपो[3] प्रसादो[4] विधेयः ॥ ४५ ॥

स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥ ४६ ॥

---

१ प्रतिपन्युनुरूप इति पाठान्तरम् । २ कर्तव्यत्यपि पाठः । ३ विलास इत्यपि पाठः । ४ विधातव्य इत्यपि पाठः ।

रजस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥ ४७ ॥

सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ॥ ४८ ॥

स पुमान् सवस्त्रो[2]ऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चरित्रमावरणं ४९

स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः[3] सच्चरित्रेण ॥ ५० ॥

सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ॥ ५१ ॥

न क्षीरघृताभ्यां परं [4]भोजनमस्ति ॥ ५२ ॥

परोपघातेन वृत्तिर्[5]भव्यानां ॥ ५३ ॥

वरमुपवासो [6]न पराधीनं भोजनं ॥ ५४ ॥

स देशो[1]ऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णशंकरः ॥ ५५ ॥

स जात्यन्धो यः [7]परंलोकं न पश्यति ॥ ५६ ॥

व्रतं विद्या सत्यमानृशंस्यमलौल्यता[8] च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रं ॥ ५७ ॥

निस्पृहानां का नाम परापेक्षा ॥ ५८ ॥

कं[9] पुरुषमाशा न क्लेशयति ॥ ५९ ॥

संयमी[10] गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ६०.

शीलमलङ्कारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिः[11] ॥ ६१ ॥

कस्य नाम नृपतिमित्रं ॥ ६२ ॥

---

१ *अस्मादग्रे "सहानुरूपं कर्मारब्धव्यम् । धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः, एतत्सूत्रद्वयमुपलभ्यते मुद्रित-पुस्तके । २ पटावृतोऽपि पाठान्तरम् । ३ यो न भूषितः इति पाठान्तरं मुद्रित-पुस्तके तच्चायुक्तमित्यवभाति । ४ अन्यत्परं रसायनमस्ति पाठान्तरम् । ५ निर्भाग्यानां पाठान्तरम् ६ न पुनः इति पाठान्तरम् । ७ परलोकमिति पाठः । ८ अलौल्यवाचश्चेति पाठान्तरम । ९ कं नामेत्यपि पाठः । १० संयमी वा इत्यपि पाठः । ११ बहिराकल्प इत्यपि पाठः । कटककुण्डलादिभूषणमाकल्पः ।

अप्रियकर्तुर्न प्रियकरणात्परममाचरणं[1] ॥ ६३ ॥

अप्रयच्छन्नर्थिनो[2] न परुषं ब्रूयात् ॥ ६४ ॥

स स्वामी[3] मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च[4] ॥ ६५ ॥

प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥ ६६ ॥

प्रभूतमपि नानपराधसत्वव्यावृत्तये[5] नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरणागतरक्षणाय ॥ ६७ ॥

इति सदाचारसमुद्देशः ।

---

१ परं मारणकारणमस्ति इत्यपि पाठः । २ र्थिने इति पाठः । ३ सा श्रीर्मरु० इति पाठः ४ प्राप्तकामा इति पाठः । ५ व्यापत्तये इति पाठः ।

२७ व्यवहार-समुद्देशः।

अथ व्यवहारसमुद्देशो व्याख्यायते। तत्र तावन्नराणां (कलत्रं) यद्भवति तदाह—

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि दृढं बन्धनमाहुः ॥ १ ॥

टीका—एतद्यत्कलत्रं भार्यालक्षणं नराणामनिगडमपि सुकोमलमपि दृढं बन्धनमाहुः कथयन्ति लोकाः। तथा च शुक्रः—

न कलत्रात्परं किंचिद्बन्धनं विद्यते नृणां।
यस्मात्तत्स्नेहनिर्बद्धो न करोति शुभानि यत् ॥ १ ॥

अथ यानि यावन्ति नरेण पोषणीयानि तान्याह—

त्रीण्यवश्यं भर्तव्यानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि ॥ २ ॥

टीका—अवश्यं निश्चयेन त्रीण्येतानि वक्ष्यमाणानि भर्तव्यानि पोषणीयानि। एका तावन्माता। द्वितीयं कलत्रं। तृतीयमपत्यानि। किंविशिष्टानि? अप्राप्तव्यवहाराणि यानि व्यवहारं कर्तुं न जानन्ति। तथा च गुरुः—

मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च।
अप्राप्तव्यवहाराणि सदा पुष्टिं नयेद्बुधः ॥ १ ॥

अथ तीर्थसेवायाः फलमाह—

दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ॥ ३ ॥

टीका—तीर्थोपासनस्य तीर्थसेवायाः फलत्रयमेतत्। एकं तावद्दानं। तथा द्वितीयं तपः। तृतीयं प्रायोपवेशनं अनशनकरणमित्यर्थः। न तीर्थमाश्रित्य गृहव्यापारे यथा वर्तितव्यं। तथा च गर्गः—

मुक्त्वा दानं तपो वाथ तथा प्रायोपवेशनं ।
करोति यश्चतुर्थं यत्तीर्थे कर्म स पापभाक् ॥ १ ॥

तीर्थसिन्धुदेवस्य परिहरणं क्रव्यादेषु कारुण्यानि स्वाचारा-(रो) द्यतेषु पापभीरुत्वमिव वा प्राहुरधार्मिकमनिष्ठुरत्वमविलु-चकत्वं प्रत (ता) रणेन तीर्थवासिनो[1] प्रकृतिः[2] ॥ ४ ॥

अथ प्रभोर्दूषणमाह—

स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न सम्भावयति भृत्यान् ॥५॥

टीका—(स किं प्रभुर्यः) न (संभावयति) न नियोजयति । कान् ? भृत्यान् । क ? कार्यकाले प्रयोजने जाते । एव शब्दो नियमार्थः । तथा च भृगुः—

कार्यकाले तु संप्राप्ते संभावयति यः (न) प्रभुः ।
यो भृत्यं सर्वकालेषु स त्याज्यो दूरतो बुधैः ॥ १ ॥

अथ भृत्यस्य दूषणमाह—

स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ॥ ६ ॥

टीका—यः कार्यं प्रयोजनमुद्दिश्यार्थं याचते स्वामिनो भृत्यः प्रत्यार्थानां कारणं स च भृत्यो न भवति । सखापि तादृग्रूपो न भवति । तथा च भारद्वाजः—

कार्ये जाते च यो भृत्यः सखा वार्थं प्रयाचते ।
न भृत्यः स सखा नैव तौ द्वावपि हि दुर्जनौ ॥ १ ॥

---

१ तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं क्रव्यादिषु कारुण्यमिव स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव आह अधार्मिकत्वमतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः । मुद्रित-मूलपुस्तकस्थमिदं सूत्रं । २ अस्मिन् विषये किमप्युल्लेखो न कृतः टिकाकर्त्रा । किं वा पाठोऽत्रस्थश्च्युतः इति न जानीमः ।

यार्थेन प्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किं भार्या ॥ ७ ॥

टीका—या स्त्री भार्या अङ्गाकृष्टिं करोति शयनेऽङ्गानि प्रगल्भयति तथार्थेन प्रणयिनी भवति सा भार्या न भवति सा वेश्या। तथा च नारदः—

मोहने रक्षतेऽङ्गानि यार्थेन विनयं व्रजेत्।
न सा भार्या परिज्ञेया पण्यस्त्री सा न संशयः ॥ १ ॥

अथ देशस्य दूषणमाह—

स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ॥ ८ ॥

टीका—वृत्तिशब्देन वर्तनमुच्यते। यत्र यस्मिन् देशे स्वात्मीयेऽपि न वर्तनं भवति स परदेशो विज्ञेयः। तथा च गौतमः—

स्वदेशेऽपि न निर्वाहो भवेत्स्वल्पोऽपि यत्र च।
विज्ञेयः परदेशः स त्याज्यो दूरेण पंडितैः ॥ १ ॥

अथ बान्धवस्य दूषणमाह—

स किं बन्धुर्यो व्यनेषु नोपतिष्ठते ॥ ९ ॥

टीका—यो व्यसनेषु आपत्कालेषु संजातेषु नोपतिष्ठते न साहाय्यं करोति स बान्धवो न भवति। विडो विधः (?) सहाय्यं करोति स बान्धव इति। तथा च चाणिक्यः—

परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥ १ ॥

अथ मित्रस्य दूषणमाह—

तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ॥ १० ॥

टीका—यस्योपरि धनधान्यकलत्राणां विश्वासो न भवति तन्मित्रं न भवति। स तेन सह विषयः (?)। तथा च गर्गः—

धनं धान्यं कलत्रं वा निर्विकल्पेन चेतसा।
अर्पितं रक्षयेद्यस्तु तन्मित्रं कथितं बुधैः ॥ १ ॥

अथ गृहस्थस्य स्वरूपमाह—

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ॥ ११ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । कासौ ? सत्कलत्रसम्पत्तिः। कस्मिन् ? गृहे। कस्य? गृहस्थस्य। एतदुक्तं भवति, यस्य गृहे सत्कलत्रस्य पतिव्रतालक्षणस्य न वासो भवति स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते । तथा च शुक्रः—

कुरूपा गतशीला च बंध्या युद्धपरा सदा ।
स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते ॥ १ ॥

अथ दानस्य दूषणमाह—

तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ॥ १२ ॥

टीका—यत्र नास्ति न विद्यते। कोऽसौ ? सत्कारः पूजालक्षणः तद्दानं न भवति निष्फलं हि तत् । एतदुक्तं भवति, यद्दानं शास्त्रोक्तविधिना न दीयते तद्दानं न भवति यत एव जन्मान्तिकं हि तत्। तथा च वशिष्ठः—

काले पात्रे तथा तीर्थे शास्त्रोक्तविधिना सह ।
यद्दत्तं चाक्षयं तद्विशेषं स्यादेकजन्मजम् ॥ १ ॥

अथ भोजनस्य दूषणमाह—

तत्किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः ॥ १३ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। कोऽसौ ? अतिथिसंविभागः । कस्मिन् ? भुक्ते भोजने यत्र तत्पशुचेष्टितं । यथा पशुस्तृणानि भुक्त्वा जीवनार्थं, मूत्रपुरीषमुत्सृजति तथा सोऽपि ज्ञातव्यः। अतिथिस्त्रीविश्वदेवतास्वर्योढं प्राहुः । गकश्च (गावश्च) । अदत्वा एतेभ्यो योऽश्नाति स विशिष्टाङ्गः पशुर्ज्ञेयः। तथा च नारदः—

अदत्वा यो नरोऽप्यत्र स्वयं भुंक्ते गृहाश्रमी ।
स पशुर्नास्ति सन्देहो द्विपदः शृङ्गवर्जितः ॥ १ ॥

अथ प्रेम्णो दूषणमाह—

तर्त्कि प्रेम यत्र कार्यवशात्प्रत्यावृत्तिः ॥ १४ ॥

टीका--यत्र यस्मिन् स्नेहे कार्यवशात्प्रवृत्तिः प्रयोजनवशाद्गम्यते न सर्वकालं । एतदुक्तं भवति..........। तथा च राजपुत्रः--

यद्गम्यं गुरुगौरवस्य सुहृदो यस्मिंल्लभन्तेऽन्तरं
यद्दाक्षिण्यवशाद्भयाच्च सहसा नर्मोपहासाच्च यान् ।
यल्लज्जां न रुणद्धि यत्र शपथैरुत्पद्यते प्रत्ययः
तत्किं प्रेम स उच्यते परिचयस्तत्रापि कोपेन किं ॥ १ ॥

अथाचरणस्य दूषणमाह--

तत्किमाचरणं यत्र वाच्यता माया व्यवहारो वा ॥ १५ ॥

टीका--आचरणशब्देन सदनुष्ठानमुच्यते । श्रोत्रियाणां यस्य यद-नुष्ठाने रहस्यं वाच्यता भवति परदारचौर्यादिका तदाचरणं न भवति वृथा क्लेशः । अथवा यस्य यो व्यवहारो भवति कपटेन दम्भेन व्यवह-रति तदाचरणं क्लेशाय पारत्रिकं न भवति । तथा च जैमिनिः--

जायते वाच्यता यस्य श्रोत्रियस्य वृथा हि तत् ।
अनाचारात्मदादिष्टं श्रोत्रियत्वं वदन्ति ना ? ॥ १ ॥

अथापत्यस्य दूषणमाह--

तत्किमपत्यं यत्र नाध्ययनं विनियो वा ॥ १६ ॥

टीका--यत्र यस्मिन्नपत्ये नास्ति न विद्यते । किं तत् ? अध्ययनं विद्यालक्षणं विनयो वा भक्तिर्वा जनकस्य तदनपत्यं भवति अपत्यरूपेण तच्छत्रुरूपमन्यदेहजं गृहसंजातं । तथा च वल्लभदेवः--

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।
किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ॥ १ ॥

अथ ज्ञानस्य दूषणमाह--

तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥ १७ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् ज्ञानेऽन्धता भवति गर्वलक्षणा। कस्य ? चित्तस्य तदज्ञानं भवति। लोचनफलस्यापि सैवान्धता तया। एतदुक्तं भवति, बोधस्याः त्सदयोऽपि (?) चित्तं पश्यति, यः पुनर्विद्यागर्वो भवति सोऽपि पुरस्थमपि सज्जनं (न) नमस्करोति। तथा च शुक्रः—

विद्यामदो भवेन्नीचः पश्यन्नपि न पश्यति।
पुरस्थे पूज्यलोकं च नातिवाह्यं च बाह्यतः॥ १॥

अथ सौजनलक्षणमाह—

तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः॥ १८॥

टीका—यत्र यस्मिन् सौजन्ये परोक्षे पृष्टिदेशे पैशून्यं क्रियतेऽग्रतः स्थिते प्रियालापः क्रियते तत्सौजन्यव्याजेन विपक्षत्वमिति। तथा च गुरुः—

प्रत्यक्षेऽपि प्रियं ब्रूते परोक्षे तु विभागते।
सौजन्यं तस्य विज्ञेयं यथा किंपाकभक्षणं॥ १॥

अथ लक्ष्म्या दूषणमाह—

सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणां॥ १९॥

टीका—उत्तमपुरुषाणां यया लक्ष्म्या विद्यमानया सन्तोषो न भवति सापि विद्यमानापि नास्तीति मन्तव्यं। यतोऽधिकां लक्ष्मीं वाच्छन् सत्पुरुषो लक्षं लक्षाधिपतिः स्वराज्यं स्वराज्योऽपि चक्रवर्तित्वं देवत्वं चक्रवर्ती च वाञ्छमानो (?)।

..........................लौल्यमाश्रितः।
ततोऽति लोभा दृश्यन्ते भूमिपा नहुषो यथा॥ १॥

अथ कृत्यस्य दूषणमाह—

तत्किं कृत्यं यत्रोक्तिरुपकृतस्य॥ २०॥

टीका—यत्र यस्मिन् कृत्ये उपकारलक्षणे उक्तिर्भवति चाकृतेश्च व्यर्थता स्यात् तत्कृत्यं न भवति स्नेहलक्षणं पारत्रिकं च। तथा च भागुरिः—

योऽन्यस्य कुरुते कृत्यं प्रतिकृत्यतिवाञ्छया।
न तत्र कृत्यं भवेत्तस्य पश्चात्फलप्रदायकम् ॥ १ ॥

अथ यकाभ्यां मिथो निर्वाहो न भवति तावुच्येते—

तयोः[1] को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पंडितौ लुब्धौ[2] साहंकारौ ॥ २१ ॥

टीका—तयोस्तस्मिन् कृत्ये निर्वाहो भवति ताभ्यां तत्प्रयोजनं सिध्यतीत्यर्थः। ....तथा द्वावपि पण्डितौ शास्त्रज्ञौ परं लुब्धौ तथा द्वावपि मूर्खौ परस्परमसहनौ। एवं ज्ञात्वा तुल्यगुणौ तौ कृत्ये न नियोजनीयौ बुद्धिमता स्वार्थसिद्ध्ये। तथा च हारीतः।

समर्थौ मानसंयुक्तौ पण्डितौ लोभसंश्रयौ।
मिथोपदेशपरौ मूर्खौ कृत्ये मिथो न योजयेत् ॥१॥

अथ स्वदत्तस्य निषेधमाह—

स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाषं कुर्यात् ॥ २२ ॥

टीका—न कुर्यात् न कर्तव्यः। कोऽसौ? अभिलाषो वाञ्छालक्षणः। कस्मिन्? स्वदत्ते आत्मनैव यद्दत्तं दानं। कस्मिन्निव? स्ववान्त इव निजच्छर्दित इव। मिष्टान्नमपि यच्छर्दितं तस्योपरि यथा वाञ्छा न क्रियते, एवं निजदत्तेऽपि। तथा च जैमिनिः—

---

१ लिखितपुस्तके सूत्रमीदृशमेव किंतु व्याख्यातु मुद्रित-पुस्तकस्थसूत्रानुकूला। २ लुब्धौ मूर्खौ वासहनौ वा इति पाठान्तरम्।

स्वयं दत्तं च यद्दानं न ग्राह्यं पुनरेव तत् ।
यथा स्ववान्तं तद्वच्च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १ ॥

कुलीनैः प्रत्युपकारे कृते यत्कर्तव्यं तदाह—

उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ॥ २३ ॥

टीका—येऽभिजाताः कुलीना भवन्ति ते परोपकारं कृत्वा मूका भवन्ति । मया तवैतत्कृतमेवं न वदन्ति प्रत्युपकारभयात् । तथा च वल्लभदेवः—

इयमपरा काचिद्दृश्यते महतां महती वा भावचित्तता ।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशंकया ॥ १ ॥

अथ सत्पुरुषाणां वधिरभावो भवति तदाह—

परदोषश्रवणे वधिरभावः सत्पुरुषाणां ॥ २४ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ ? वधिरभावः । केषां ? सत्पुरुषाणां । क्व ? परदोषश्रवणे । ये सत्पुरुषा भवन्ति ते परदोषश्रवणे वधिरा भवन्ति । कोऽर्थः श्रुतमप्यश्रुतमिव ते परदोषं हृदये न धारयन्ति । तथा च गर्गः—

परदोषान्न शृण्वन्ति येऽपि स्युर्नरपुंगवाः ।
शृण्वतामपि दोषः स्याद्यतो दोषान्यसम्भवात् ॥ १ ॥

अथ महाभाग्यानामन्धभावो यथा भवति तदाह—

परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥ २५ ॥

टीका—महान्ति भाग्यानि पुण्यानि पूर्वकृतानि यैस्ते महाभाग्यास्तेषां सलोचनानामप्यन्धभावो भवति । कस्मिन् सति ? परकलत्रदर्शने । कोऽर्थो दृष्टिगतमपि परकलत्रं नावलोकनीयं । तथा च हारीतः—

अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः ।
इह जन्मनि तेऽन्यस्य न वीक्षन्ते नितंबिनीम् ॥ १ ॥

अथ शत्रोरपि गृहायातस्य यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः कर्तव्यः किं पुनर्न महति ॥२६॥

टीका—संभ्रमशद्बेनादरः कथ्यते। कर्तव्यः। कस्मिन्? शत्रौ। किंविशिष्टे? गृहायाते। आस्तां तावदुत्तमः। तथा च भागुरिः—

अनादरो न कर्तव्यः शत्रोरपि विविकिना।
स्वगृहे आगतस्यात्र किं पुनर्महतोऽपि च ॥ १ ॥

अथ स्वधर्मो यथा रक्षणीयस्तदाह—

अन्तःसारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ॥ २७ ॥

टीका—न प्रकटः कार्यः। कोऽसौ? स्वधर्मः। किमिव? अन्तःसारधनमिव। अन्तःसारधनशब्देन लोकोत्तरं वस्तु कथ्यते, तद्यथा चौरादिकस्य प्रकटं न क्रियते तथा धर्मोऽपि। उक्तं च यतो व्यासेन—

स्वकीयं कीर्तयेद्धर्मं यो जनाग्रे स मन्दधीः।
क्षयं गतः समायाति पापस्य कथितस्य च ॥ १ ॥

अथ मदप्रमादजैर्दोषैः संजातैः यत्कर्तव्यं तदाह—

मदप्रमादजैर्दोषैर्गुरुषु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ॥ २८ ॥

टीका—प्रायश्चित्तं गुरोर्निवेदयेत्। तथा पुरुषमनस्तापं। तथा च भारद्वाजः—

मदप्रमादजं तापं यथा स्यात्तन्निवेदयेत्।
गुरुभ्यो युक्तिमाप्नोति मनस्तापो न भारत! ॥ १ ॥

अथ श्रीमतोऽर्थार्जने यः कायक्लेशो भवति तत्स्वरूपमाह—

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो यो देवद्विजान् प्रीणाति ॥ २९ ॥

टीका—स तस्य कायक्लेशः शरीरसंतोषोऽर्थार्जने। कस्य? धनिनः। किंविशिष्टः कायक्लेशः? येन तुष्टेन प्रीणाति तुष्टिं नयति। कान्? देव-

द्विजान् अर्थिजनांश्च । येनार्जितेन देवान् द्विजान् प्रीणाति तथार्थिजनान् याचकान्, (न) केवलं स्वयमुपभुंक्ते । तथा चर्षिपुत्रकः—

कायक्लेशो भवेद्यस्तु धनार्जनसमुद्भवः ।
स शंस्यो धनिनो योऽत्र संविभागो द्विजार्थिषु ॥ १ ॥

अथ नीचानां स्वरूपमाह—

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥ ३० ॥

टीका—ये नीचा अतिनिकृष्टास्ते उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणा नापकारबाह्यास्तिष्ठन्ति । क इव ? चणका इव । यथा चणका धान्यविशेषाः स्वोदरे धृता नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति जनमध्ये वातकर्मविक्रियं दर्शयन्ति हास्यतां नयन्तीत्यर्थः । तथा च भागुरिः—

चणकैः सदृशा ज्ञेया नीचास्तान्न समाश्रयेत् ।
सदा जनस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति विडम्बनं ॥ १ ॥

अथ वन्द्यचरितस्य पुरुषस्य स्वरूपमाह—

स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनवेक्ष्य परोपकारं करोति ॥ ३१ ॥

टीका—स पुरुषो वन्द्यचरितो वन्द्यं नमस्करणीयं चरितमस्य स वन्द्यचरितः । किंविशिष्टः ? यः प्रत्युपकारमनवेक्ष्यमाणोऽपरेषामुपकारं करोति । तथा च भागुरिः—

उपकाररतो यस्तु वाञ्छते न स्वयं पुनः ।
उपकारः स वन्द्यः स्याद्वाञ्छते यो न च स्वयं ॥ १ ॥

अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदितवेदितव्यस्य तत्त्वाग्रह इति पंच न कस्य मस्तकशूलानि ॥ ३२ ॥

टीका—एतानि पंच वस्तुनि सर्वजनस्य मस्तकशूलानि खेटकरणानि भवन्ति तान्याह—एकं तावदज्ञानस्य वैराग्यं। वैराग्यशब्देन मोक्षमार्गः कथ्यते तं जानाति संकरदोषान् कथयति। अथ द्वितीयं भिक्षोर्विटत्वं भिक्षुस्तापसस्तस्य या कामसेवा। तृतीयं यो दरिद्रस्य विलासो दरिद्रस्य निष्कंचनस्य ये विलासाः शृङ्गारकरणानि। चतुर्थं वेश्यारतस्य शौचं, यद्गृहे वेश्या, (स) श्रोत्रियत्वं जनाग्रे प्रतिपादयति। पंचममविदितवेदितव्यस्य तत्वाग्रहः पृथिव्यां यानि पंचविंशतितत्वानि तेषां ग्रहः। तानि न जानाति तैर्यो वेदितव्यः स्वमात्मा तेषामुपरि अनादरः आत्मज्ञानीति वदति। तथा च भगवत्पादः—

मूर्खस्य तु सुवैराग्यं विटकर्म तपस्विनः।
निर्धनस्य विलासित्वं शौचं वेश्यारतस्य च॥ १॥
तत्वत्यागो ब्रह्मविदो पंचकराः स्मृताः॥ [1]/[2]॥

अथ यः पुरुषः पंचमहापातकी भवति तत्स्वरूमाह—

स हि पंचमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत॥ ३३॥

टीका—स पुरुषो हि स्फुटं पंचमहापातकी। यः किं? योऽभियुंजीत (पुरुषं) अविग्रहार्थं। किंविशिष्टं? अशस्त्रं शस्त्ररहितं सायुधः[2] तथाशास्त्रं मूर्खपंडितः (?)। तथा च गर्गः—

स्त्रीबालगोद्विजस्वामिपंचानां वधकारकः।
अशस्त्रं शास्त्रहीनं च हि युंजति? .... ॥ १॥

अथ नीचस्यापि पार्श्वे कार्यं विभाव्य गन्तव्यमित्याह—

---

१ 'पंचैते कंटकाः स्मृताः' इत्येवं रूपेण पाठेन भाव्यं। २ अनायुधं इत्येवं भाव्यं। तथाशास्त्रं मूर्खपण्डितं।

उपाश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३४॥

टीका—उपसर्पेत् गच्छेत्। कं? नीचमपि अगम्यं। कस्मात्? (कार्य वशात्)। किं कर्तुं? श्रोतुं। कामिव? उपश्रुतिमिव शकुनिशब्दमिव। यथा प्रयोजने जाते शकुनशब्दः श्रोतव्यः सद्योऽभीष्टो भवति तत्कार्यं कर्तव्यं, अथवा न प्रतिभासते तत्त्याज्यं एवं नीचस्यापि समीपं गत्वा तद्वचः श्रोतव्यं यद्यनुकूलं भवति तदा कार्यमथवा त्याज्यं। तथा च गुरुः—

अपि नीचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते।
यदि स्यात्तद्वचो भद्रं तत्कार्यमथवा त्यजेत् ॥ १ ॥

कार्यार्थी दोषं न पश्यतीति वचनात्।

अथ वेश्यायां गृहागतायां यद्भवति तदाह—

वेश्यागमो गृहिणीं गृहपतिं वा प्रत्यवसादयति ॥ ३५ ॥

टीका—यत्र गृहे वेश्यागमो भवति वेश्या प्रविशति तत्र सा प्रविष्टा गृहिणीं तावत्प्रत्यवसादयति नाशं नयति। पश्चाद्गृहपतिं च येनानीता गृहेऽसद्व्ययेन नाशयति। तथा च शुक्रः—

वेश्यारागो गृहस्थस्य गृहिणीं नाशयेत्पुरः।
असद्व्ययेन पश्चाच्च येनानीता तद (म) प्यहो ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि वेश्यासंग्रहेण यद्भवति तदाह—

वेश्यासंग्रहो देवद्विजगृहिणीबन्धूनामुच्चाटनमंत्रः ॥ ३६ ॥

टीका—योऽसौ वेश्यासंग्रहः। स पुरुषस्य किंविशिष्टः? उच्चाटन-मंत्रः कार्मणलक्षणः। केषां? देवद्विजगृहिणीबन्धूनां। तस्माद्विवेकिना वेश्यासंग्रहो न कर्तव्यः। तथा च गुरुः—

न वेश्या चिन्तयेत्पुंसां किमप्यस्ति च मन्दिरे।
स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपि च तद्रसान् (त्) ॥ १ ॥
कृत्वा शीलपरित्यागं तस्या वाञ्छां प्रपूरयेत्।
ततश्च मुच्यते सर्वैर्भार्याबान्धवपूर्वजैः ॥ २ ॥

अथ लोकस्य चौर्यरतस्य स्वरूपमाह—

अहो लोकस्य पापं यन्निजस्त्री रतरतापि निम्बसमा परगृहीता शुनिकापि भवति रम्भासमा ॥ ३७ ॥

टीका—अहो आश्चर्यं लोकस्य पापं जानानः, किं पापमित्याह—या निजभार्या रतरता सुरता गुर्विणी च निम्बसमा कटुका मन्यते । या पुनः परगृहीता अन्यभार्या शुनिकापि निकृष्टापि रम्भासमा स्वर्गविलासनीव मन्यते । तथा च वराहमिहिरः—

मांडव्यगिरिं श्रुत्वा मदीया वेगाथवा
मेवं साध्वीन पुंसु श्रिया यथा स्याज्जघनचपला ? ॥ १ ॥

अथ यस्य एका स्त्री तस्य यद्भवति तदाह—

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ॥ ३८ ॥

टीका—स पुरुषः सुखी भवति, यस्य किं ? यस्य एक एव दारपरिग्रहो द्वितीया भार्या न भवति । तथा च चाणिक्यः—

अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते ।
कलहस्तत्र नो याति गृहान्नैव कदाचन ॥ १ ॥
एका भार्या त्रयो पुत्रा द्वौ हलौ दश धेनवः ।
द्रम्मापंचसहस्राणि दातव्यं भगवन्निदम् ॥ २ ॥
अग्निहोत्रं गृहे यस्य तस्य मर्त्योऽपि नाकभूः ॥ ½ ॥

अथ व्यसनिनो यथा सुखं भवति तदाह—

व्यसनिनो यथासुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ॥ ३९ ॥

टीका—तासां स्वामिनीषु प्रभूतव्ययात् । तथा च दन्तिलः—

अल्पवित्तस्य यः कामः प्रचुरः स सुखप्रदः ।
याति संस्ते(से) विता नैव......यावस्थं ति बहु ? ॥ १ ॥

अथार्थवतीनां दूषणमाह—

महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्यं चार्थवतीषु ॥ ४० ॥

टीका—स्वल्पतरोऽर्थो यासां ता अर्थवत्यो विलासिन्यः। तासां प्रत्ययः तदिच्छानुवर्तनं । इच्छापूरणं (न) स्यात्तदासक्त्या वित्तार्थे धनिनां दैन्यं करोतीति । तथा च दन्तिलः—

यदिच्छा पूरिता नैव पण्यस्त्रीणां समुद्भवा ।
तदा दैन्यं समासाद्य रोचते......हि तत् ॥ १ ॥

अथ ये पदार्थाः पुरुषमलङ्कृतां नयंति तानाह—

प्रावरणं कम्बलो जीवनं गर्दभः परिग्रहो वोढा दारगृहे यस्य सर्वकर्माणश्चासदा...............॥ ४१ ॥

टीका.. ।

अथ सर्वेषां पदार्थानां येनातिलघुः पुमान् भवति तदाह—

न दारिद्र्यात्परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति ॥ ४२ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं ? तल्लाघवं। किंविशिष्टं ? परं प्रधानं। कस्मात् ? दारिद्र्यात् । यतः कारणात्तेन विद्यमानेन सर्वे गुणा निष्फला भवन्ति ।

उपकारपरो याति निर्द्धनः कस्यचिद्गृहे ।
पारयिष्यति मात्रेण गुणाढ्यो समते गृही ? ॥ १ ॥

अथाधनास्यापि धनमतेर्यद्भवति तदाह—

अलब्धार्थोपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥ ४३ ॥

---

१ आस्तरणो कम्बलं जीवधनं गर्दभः परिग्रहो वोढा सर्वकर्माणश्च भृत्याः इति कस्य नाम सुखावहानि इति मूलपुस्तकस्थं सूत्रं । टीका-पुस्तके तु सूत्रं व्याख्या चोभयमपि च्छिन्नम् । उद्धृतांशमपि सूत्रस्य प्रायोऽशुद्धम् ।

टीका—अधिको भवति गुणहीनेऽपि धनिनः ईश्वरस्य । कोऽसौ ? सर्वोऽपि लोकः । एतदुक्तं भवति, किं तद्यस्या विद्यमाना गुणा वाग्मित्वं (?) । तथा च वल्लभदेवः—

न त्वया सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान् ।
कुलीनोऽपि विरूपोऽपि गीयते च धनार्थिभिः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि धनिनो यद्भवति तदाह—

धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः ॥ ४४ ॥

टीका—यः पुमान् धनी तस्य यतयोऽपि सन्यस्ता अपि भवन्ति । किं-विशिष्टा भवन्ति ? चाटुकारा आस्तां तावदन्ये तेऽपि चाटूनि कुर्वन्ति भवत्येतत् । उक्तं च यतो वल्लभदेवेन—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥ १ ॥

अथ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये यत्पवित्रं तदाह—

न रत्नहिरण्यपूताज्जलात्परं पावनमस्ति ॥ ४५ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत् ? अपरं द्वितीयं पावनं पवित्रं । कस्माज्जलात्तोयात् । किंविशिष्टात् ? रत्नहरण्यपूतात् रत्नं मरकतादि हिरण्यं सुवर्णं ताभ्यां यत्पूतं पवित्रं कृतं जलं तस्मात्, अपरं न हि पवित्रं विद्यते लोके स्नानं तेन ततः शुभं ।

अथोदकमाह—

स्वयं मेध्या आपो वन्हितप्ता विशेषतः ॥ ४६ ॥

टीका—एता या आपः सलिलानि तानि स्वयमेव पवित्राणि किं पुनर्वन्हितप्तानि विशेषतो मेध्यानि भवन्ति । तथा च मनुः—

आपः स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्वन्हिसंयुताः ।
तस्मात्सन्तस्तदिच्छन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥ १ ॥

अथ उत्सवस्य लक्षणमाह—

स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥ ४७ ॥

टीका—उत्सवो वर्द्धापनलक्षणः स एव कथ्यते यत्र वन्दिमोक्षः क्रियते तथा दीनानामनाथानामुद्धरणं पोषणं क्रियते स पुत्रसंभवादधिकः । तथा च चारायणः—

स एव पुत्रलाभो यथापरः..................।
मन्यते मुच्यते यत्र पंच दीनान् समुद्धरेत् ॥ १ ॥

अथ पर्वणां माहात्म्यमाह—

तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणं ॥४८॥

टीका—सन्तर्पणं, संक्रान्तौ व्यतीपातादीनि तान्येव पर्वाणि ज्ञेयानि येष्वतिथिपरिजनयोस्तर्पणं दानं दीयते, परिजनस्य गृहस्य । तथा च भारद्वाजः—

अतिथिः पूज्यते यत्र पोषयेत्स्वपरिग्रहं ।
तस्मिन्नहनि सर्वाणि पर्वाणि मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥

अथ तिथीनां माहात्म्यमाह—

तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणं ॥ ४९ ॥

टीका—त्रिंशत्तिथीनां मध्ये तास्तिथयो गण्यन्ते यास्वधर्माचरणं न क्रियते किन्तु धर्म एव क्रियते । तथा च जैमिनिः—

यासु न क्रियते पापं ता एव तिथयः स्मृताः ।
शेषा वंध्यास्तु विज्ञेया इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥

अथ तीर्थ यात्रामाहात्म्यमाह—

---

१ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ नास्ति ।

सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ॥ ५० ॥

टीका—यत्र यस्यां तीर्थयात्रायां गतैरकृत्यं पापं न क्रियते सा तीर्थयात्रा कथ्यते यस्यां तु (पापं) क्रियते सा नरकयात्रा । तथा च पुरोक्तं—

अन्यत्र यत्कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति तत् ।
क्रियते तीर्थगैर्यैश्च वज्रलेपं तु जायते ॥ १ ॥

अथ पंडितस्य माहात्म्यमाह—

तत्पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥ ५१ ॥

टीका—तत्पाण्डित्यं विचक्षणता यत्र वयस उचितं योग्यमनुष्ठानं समाचारलक्षणं तथा विद्यायाश्च । तथा च गुरुः—

विद्याया वयसश्चापि या योग्या क्रिया इह ।
तथा वेषश्च योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पण्डितो जनैः ॥ १ ॥

अथ चातुर्यस्वरूपमाह—

तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥ ५२ ॥

टीका—परस्य पार्श्वात्प्रीतिं कृत्वा यत्कृत्यं साध्यते तच्चातुर्यं दक्षता । यत्पुनरुपप्रदानभेददण्डैः साध्यते सा चतुरता न भवति । तथा च शुक्रः—

यः शास्त्रात्साधयेत्कार्यं चतुरः स प्रकीर्तितः ।
साधयन्ति भेदाद्यैर्ये ते मतिवर्जिताः ॥ १

अथ लोकोचितस्य कृत्यस्य स्वरूपमाह—

तल्लोकोचितत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ॥ ५३ ॥

टीका—तल्लोकोचितत्वं लोकस्य योग्यं कर्म यत्सर्वजनादेयत्वं सर्वं जनं साभिलाषं करोति । तथा च वादरायणः—

तस्योचितं य......यत्कृत्यं नापरं स्मृतं ।
साभिलाषं न कुर्वन्ति यस्य सर्वे जना इह ॥ १ ॥

अथ सौजन्यस्य माहात्म्यमाह—

तत्सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥ ५४ ॥

टीका—तत्सौजन्यं सुजनता यत्र परस्य चिदुद्वेगो न भवति तस्य चेष्टितेनापि सर्वो जनः सानन्दो भवति नोद्वेगं करोति । तथा च वादरायणः—

यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः ।
सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोन्यथा ॥ १ ॥

अथ धीरत्वस्य माहात्म्यमाह—

तद्धीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ॥ ५५ ॥

टीका—पुरुषाणां तद्धीरत्वं कथ्यते येषां यौवनेन पारदारिकोऽनपवादो भवति न युद्धे धीरत्वं । तथा च शौनकः—

परदारादिदोषेण रहितं यस्य यौवनं ।
प्रयाति वा पुमान् धीरो न धीरो युद्धकर्मणि ॥ १ ॥

अथ सौभाग्यस्वरूपमाह—

तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं ॥ ५६ ॥

टीका—तज्जनानां सौभाग्यं कथ्यते यत्रादानेन वशीकरणं न किंचिदपि दीयते सर्वोपि जनो वशगो भवति । तथा च गौतमः—

दानहीनोऽपि वशगो जनो यस्य प्रजायते ।
सुभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिभिर्नरः ॥ १ ॥

अथ सभाया दूषणमाह—

सा सभारण्यानी यस्यां न संति विद्वांसः ॥ ५७ ॥

टीका—यस्यां राज्ञो विद्वांसः पंडिता न स्युः सा सभारण्यानी अटवी विज्ञेया न सा राजसभा । तथा च व्यासः—

---

१ ज्ञिणोऽमेतनः पाठः

.... ।
.... ॥ १ ॥

किं तेनात्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ॥ ५८ ॥

टीका—किं तेन मानुषेण वल्लभेन भवति यस्य स्वयं वल्लभः स्यात्। एतदुक्तं भवति, यन्मानुषं वल्लभं भवति तस्य यदि न भवति तत्प्रियमप्यप्रियं। तथा च राजपुत्रः—

वल्लभस्य न यो भूयो वल्लभः स्याद्विशेषतः।
स वल्लभः परिज्ञेयो योऽन्यो वैरी स उच्यते ॥ १ ॥

अथ प्रभोर्दूषणमाह—

स किं प्रभुर्यो न सहते परिजनसम्बाधम् ॥ ५९ ॥

टीका—परिजनस्य परिग्रहस्य सम्बाधं व्ययोपद्रवं न सहते विरूपं कृत्वा मन्यते स किं प्रभुः स्वामी न भवति स परिचितमात्रो ज्ञेयः। तथा च गौतमः—

भृत्यवर्गार्थजे जाते योऽन्यथा कुरुते प्रभुः।
स स्वामी न परिज्ञेय उदासीनः स उच्यते ॥ १ ॥

अथ लेखस्य स्वरूपमाह—

न लेखाद्वचनं प्रमाणं ॥ ६० ॥

टीका—यदि कश्चिल्लेखं गृहीत्वा कस्यापि पार्श्वात् कार्यार्थी लेखे लिखिते यद्वदति तत्साक्षादप्रमाणं यतो लोकोक्तिरेव, न " लेखाद्वाचिकं प्रमाणमिति "। तथा च राजपुत्रः—

लिखिताद्वाचिकं नैव प्रतिष्ठां याति कस्यचित्।
बृहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्यापि ? कस्यचित् ॥ १ ॥

अथ लेखस्यापि यथा प्रतिष्ठा न भवति तदाह—

अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥ ६१ ॥

टीका—यत्र यस्मिन् लेखेऽभिज्ञानं किंचिन्न भवति स लेखः प्रतिष्ठां न प्राप्नोति यतो धूर्तजनाः कूटलेखं लेखयन्ति। तथा च शुक्रः—

कूटलेखप्रपंचेन धूर्तैरार्यतमा नराः।
लेखार्थो नैव कर्तव्यः साभिज्ञानं विना बुधैः॥ १॥

अथ यानि पातकानि सद्यः फलन्ति तान्याह—

त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीवधो बालवधश्चेति॥ ६२॥

टीका—सद्यः फलं इह लोकेऽपि फलन्ति फलं प्रयच्छन्ति। कानि? पातकानि। किंविशिष्टानि? कृतानि। कतिसंख्यानि? त्रीणि। एकस्तावत्स्वामिवधः। द्वितीयः स्त्रीवधः। तृतीयो बालवधः। तथा च नारदः—

स्वामिस्त्रीबालहंतृणां सद्यः फलति पातकं।
इह लोकेऽपि तद्व्च तत्परत्रोपभुज्यते॥ १॥

अथ दुर्बलस्य बलवता सह विग्रहे यद्भवति तदाह—

अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बलवता सह विग्रहाय टिरिटिल्लितं॥ ६३॥

टीका—अतश्च क्षणमात्रं युद्धं कृत्वा पश्चान्नाशमुपयाति। एतदुक्तं भवति, यः समुद्रं बाहुभ्यां तरति सह क्षणमेकं टिरिटिल्लितं करोति कोऽर्थः क्षणेन जलादधं (?) निःसारयति ततश्च क्षणेन म्रियते। तथा च गुरुः—

बलिना सह युद्धं यः प्रकरोति सुदुर्बलः।
क्षणं कृत्वात्मनः शक्त्या युद्धं तस्य विनाशनात्[1]॥ १॥

अथ बलवन्तमाश्रित्य यो विकृतिभजनं करोति तस्य यत्स्यो भवति तदाह—

---

१ विनाशनम् इति सुभाति।

बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभंजनं सद्यो मरणकारणं ॥ ६४ ॥

टीका—विशेषाकृतिर्विकृतिर्भक्तिलक्षणा तस्या यो भंगोऽभक्तिलक्षणः स सद्यो मरणं तत्क्षणात्करोति । तथा च जैमिनिः—

भक्त्या संसेव्यमानस्य बलवन्तस्य ? कारणं ।
अभक्तिः स्तोकामयाति ? करोति मरणं ध्रुवं ॥ १ ॥

अथ प्रवासस्य स्वरूपमाह—

प्रवासः चक्रवर्तिनामपि सन्तापयन्ति किं पुनर्नान्यं ॥६५॥

टीका—प्रवासो देशान्तरगमनं सन्तापयन्ति सुदुःखं करोति । कं ? चक्रवर्तिनमपि सर्वकामसमृद्धमपि किं पुनरन्यं सामान्यं अल्पपाथेयं स्तोकसंबलं । तथा च चारायणः—

प्रवासे सीदति प्रायश्चक्रवर्त्यपि यो भवेत् ।
किं पुनर्यस्य पाथेयं स्वल्पं भवति गच्छतः ॥ १ ॥

अथ प्रवासो यथा सुखेन नीयते तदाह—

बहुपाथेयं मनोनुकूलः परिजनः सुविहितश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरणतरण्डको वर्गः ॥ ६६ ॥

टीका—प्रवासे देशान्तरगमने एतेषां पदार्थानां योऽसौ वर्गः संघातः । किंविशिष्टः स्यात् ? दुःखोत्तरणतरण्डकः सर्वदुःखानां तरणे लंघने यानपात्रं अधिकं तावत्संबलं भवति । तथा योऽपि परिजनः परिग्रहो मनोनुकूलो भवति । तथा सुविहितोपस्कर उपस्करशब्देन प्रवाससामग्री सर्वान्नाहिका (?) कथ्यते सा च सुविहिता भवति। एतेषां सामग्री सकला चैव प्रवासे [स] सुखं ददेत् ।

इति व्यवहारसमुद्देशः ।

---

२७ विवाद-समुद्देशः।

अथ विवादसमुद्देशो लिख्यते। तत्रादावेव राज्ञः स्वरूपमाह—

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाघवे ॥ १ ॥

टीका—योऽसौ राजा। स किंविशिष्टः? तुलादण्डसमः?। काभ्यां? स्वगुणदोषाभ्यां। कयोः? गुणदोषयोः। केषु? जन्तुषु। कस्मिन्? गौरव-लाघवे। यस्य गुणा अधिकास्तस्य गुरुत्वं। यस्य दोषा अधिकास्तस्य लघुत्वं कर्तव्यं।

अथ समवर्तिनो भूपस्य यद्भवति तदाह—

राजा त्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति॥२॥

टीका—यो राजा भवति समवर्ती भूत्वा तेषामपराधालिंगितानां यत्फलं सम्बन्धः तत्स्वयमेव संभावयति चिन्तयति। तथा च गुरुः—

विजानीयात् स्वयं वाथ भूभुजा अपराधिनाम्।
मृषा किं वाथवा सत्यं स्वराष्ट्रपरिवृद्धये ॥ १ ॥

अथ सभ्यानां स्वरूपमाह—

आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभाः सभ्याः ॥ ३ ॥

टीका—राज्ञो ये सभ्याः सभासदो भवन्ति। ते किंविशिष्टाः? आदि-त्यवद्यथार्थप्रकाशनप्रतिभा यथादित्यो यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभो भवति तथा सभ्यैरपि सर्वव्यावहारिकपदार्थप्रयोजनपरैर्भाव्यं। तथा च गुरुः—

यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् प्रकरोति च।
तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञेयास्तेऽमी सभासदः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि सभ्यानां स्वरूपमाह—

अदृष्टाश्रुतव्यवहाराः परिपन्थिनः सामिषा न सभ्याः ॥४॥

टीका—ये सभ्या अदृष्टाश्रुतव्यवहारा भवन्ति। यैः सभ्यैः स्मृत्युक्तो व्यवहारो दृष्टो न भवति न च श्रुतः ते सभ्या न भवन्ति राज्ञः परिपन्थिनः शत्रवस्ते यतो मूर्खत्वेन धर्माधिकरणं भवति सैत्यानां प्रसादपरा भवन्ति, सभ्यानां निग्रहं कुर्युः ततो राष्ट्रशून्यता भवति। सचिवा अप्येवंविधा भवन्ति सामिषान्तरं योऽन्वेषयन्ति वादिनो भवन्ति ते परिपंथिनः। तथा च शुक्रः—

न दृष्टो न श्रुतो वापि व्यवहारः सभासदैः[1]।
न ते सभ्यारयस्ते[2] च विज्ञेयाः पृथिवीपतेः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि सभ्यानां स्वरूपमाह—

लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सभ्याः सभापतेः सद्यो मानार्थहानिं लभेरन् ॥ ५ ॥

टीका—प्राप्नुयुः, के ते? सभ्याः। कां? मानार्थहानिं। कस्य? सभापते राज्ञः। किंविशिष्टाः? सभ्या अयथार्थवादिन यथोचिताजल्पका ये राज्ञो मानार्थहानिं सद्यस्तस्करा एव कुर्वन्ति। तथा च गर्गः—

अयथार्थप्रवक्तारः सभ्या यस्य महीपतेः।
मानार्थहानिं कुर्वन्ति तस्य सद्यो न संशयः ॥ १ ॥

अथ यत्र सभापतिः स्वयमेव प्रत्यर्थी भवति तत्र विवादार्थिना यत्कर्तव्यं तदाह—

---

१ असभ्यानां इति भाव्यं। २ सभ्याः अरयः इति च्छेदः असंहितोऽयं पाठो विस्मयकरः।

तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थी सभ्यसभापत्योरसामञ्जस्येन कुतो जयः [1]किं बहुभिश्छगलैः श्वा न क्रियते ॥ ६ ॥

टीका—अलं पर्याप्तं। केन? विवादेन । क्व? तत्र तस्यां सभायां । यस्यां किं? यस्यां सभापती राजा स्वयमेव प्रत्यर्थी प्रतिवादी भवति तत्र सभ्यैः सहासांमञ्जस्यं भवति सभ्यानां भूपतिना सह कुतो जयो वादार्थमुपगतानां । यद्राजा वदति तदन्येऽपि बहवो वदन्ति ततो न्यायोऽपि तस्यान्यायो भवति, कथं न्यायः, अन्यायः सञ्जायते । यत्र कि बहुभिश्छगलैः सारमेयो न क्रियते । तथा च शुक्रः

> प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र वादं न कारयेत् ।
> यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोचुस्तथानुगाः ॥ १ ॥

अथ विवादिनो लक्षणमाह—

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुवृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ॥ ७ ॥

टीका—पराजितस्यासत्यवादार्थिनो भवन्ति चिन्हानि। विवादमास्थाय विवादं निरूपयित्वा यः सभायां नोपतिष्ठते नागच्छति । तथा समाहूतोऽपसरति, समाहूत आकारितः, कैः? सभ्यैः अपसरति नागच्छति । तथा पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते, तेन विवादिना सभ्यानां पुरतो यदुक्तं तदुत्तरोक्तेन पाश्चात्यवचनेन बाधतेऽन्यथा वदति । तथा निरुत्तरः पूर्वोक्तिषु वचनेषु, सभ्यैः पृष्ठो निरुत्तरो भवति। तथा स्वदोषमनुवृत्य परदोष-

---

१ अस्मादारभ्याग्रेतनोंशः पुस्तके न वर्तते । २ ' बहुभिश्छगलोश्वः ' पुस्तके पाठः ।

मुपलभते परं द्वितीयं वादिनं । तथा यथार्थवादेऽपि विद्वेष्टि सभां सभ्यैः सत्येऽपि प्रोक्ते दूषयति, कां? सभां ।

अथ यथार्थहानिर्भवति सभायां तथाह—

छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थहानिः[1] ॥ ८ ॥

टीका—न्यान्यत्स्वार्थनां सा बलवत्तथाभासेन बलात्कारेण न क्रियते (?) तथा वचनाकौशलेन क्रियते । एतैस्त्रिविधैः पदार्थैः सभ्यो वादिनामर्थनाशं करोति ते सभ्या न भवन्ति परिपन्थिनस्ते । तथा च भारद्वाजः—

> **छलेनापि बलेनापि वचनेन सभासदः ।**
> **वादिनः स्वार्थहानिं ये प्रकुर्वन्ति च तेऽधमाः ॥ १ ॥**

अथा वादिनां वादे यत्प्रमाणं भवति तदाह—

[2]भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणं ॥ ९ ॥

तथा च जैमिनिः—

> **संवादेषु च सर्वेषु शासनं भुक्तिरुच्यते ।**
> **भुक्तेरनन्तरं साक्षी तदभावे च शासनम् ॥ १ ॥**

भुक्तिसाक्षिशासनानां यथा प्रमाणता भवति तथाह—

भुक्तिः सापवादा, साक्रोशाः साक्षिणः, शासनं च कूट-लिखितमिति न विवादं समापयन्ति ॥ १० ॥

टीका—एते त्रयः पदार्था न विवादं समापयन्ति न विवादं नाशयन्ति वृद्धिं नयन्ति । एका तावद्भुक्तिः सापवादा बलात्कारेण गृहीता यदि भवति । तथा साक्षिणः साक्रोशाः कृतपै(वै)रापवादिनः । तथा शासनं यदि कूटलिखितं भवति तदा त्रीण्येतानि विवादं वृद्धिं नयन्ति । तथा च रैभ्यः—

---

१ चार्थहानिः पाठोऽयं पुस्तके नास्तिः । २ द्वादश संवत्सरात्मिका ।

बलात्कारेण या भुक्तिः साक्रोशाः साक्षिणोऽत्र ये ।
शासनं कूटलिखितमप्रमाणानि त्रीण्यपि ॥ १ ॥

अथान्यदपि प्रमाणं यन्न भवति तदाह—

बलात्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणं ॥ ११ ॥

टीका—अथान्यान्यपि त्रीण्येतानि यद्बलात्कारेणं क्रियते तथाऽन्यायेन क्रियते तथा राजोपधिना राजबलेन क्रियते तदप्रमाणं । तथा च भागुरिः—

बलात्कारेण यत्कुर्युः सभ्याश्चान्यायतस्तथा ।
राजोपधिकृतं यच्च तत्प्रमाणं भवेन्न हि ॥ १ ॥

अथ यत्प्रमाणं भवति तदाह—

वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यं ॥१२॥

टीका—तथा द्यूतकारसम्बधि यद्भवति तदपि ग्रहणानुसारेणैतद्भवति । यदि वेश्याग्रहणकं स्वल्पमूल्यकं भवति गृहीतं बहूनि दिनानि कामुकेन सेवितो तत्तावन्मात्रं मूल्यं लभते ततो नान्यदधिकं । तथा द्यूतकारेणापि यदि स्वल्पमूल्यं ग्रहणं प्रभूतं हारितं, तत्सहिको ग्रहणादधिको ग्रहणादधिकं मूल्यं न लभते । तथा च रैभ्यः—

यो वेश्या बन्धकं प्राप्य लघुमात्रं बहु व्रजेत् ।
सहिको द्यूतकारश्च हतौ द्वावपि ते तनौ ॥ १ ॥

अथ विवादो यथा न भवति तदाह—

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥ १३ ॥

टीका—यो व्यवहारो वादिनामसत्यंकारः सत्यकाररहितः तत्र विवादो न भवति । तथा च ऋषिपुत्रकः—

असत्यंकारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप ! ।
विवादो वादिना तत्र नैव युक्तः कथंचन ! ॥ १ ॥

अथ नीवीविनाशेषु यत्कर्तव्यं तदाह—

नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामाण्यात्सत्यापयितव्यो दिव्य-क्रियया वा ॥ १४ ॥

टीका—नीवी निक्षेपो यदि कदाचित्केनचिन्नीवी कस्यापि समर्पिता सा यदि नश्यति तदा पुरुषप्रमाणता भवति । न किंचिद्वक्तव्यं प्रमाणं पुरुषः न किंचिद्विरुद्धं यनः (तः) करोति । अथवा पुरुषं प्रमाणतो न भवति तत्सत्यापयितव्यः स सत्यः कार्यः । कया ? दिव्यक्रियया दिव्यदानेन । तथा च नारदः—

निक्षेपो यदि नष्टः स्यात्प्रमाणः पुरुषार्पितः ।
तत्प्रमाणं स कार्यो यदिव्ये ? तं वा नियोजयेत् ॥ १ ॥

अथ साक्षिस्वरूपमाह—

यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरु-भयसम्मते मनुष्ये नीचेऽपि ॥ १५ ॥

टीका—नीचेऽपि साक्षिणि नास्ति न विद्यते । कासौ ? क्रिया । किं-विशिष्टा ? दैवी दिव्यलक्षणा किं पुनरुभयसम्मते द्वाभ्यामपि वादिभ्यां मनुष्ये सम्प्रत्ययकारके । तथा च भार्गवः—

अधर्मोपि भवेत्साक्षी विवादे पर्यवस्थिते ।
तथा दैवी क्रिया न स्यात् किं पुनः पुरुषोत्तमे ॥ १ ॥

अथ (यः) परद्रव्यमभियुंजीताभिलुम्पते वा तस्य यद्भवति तदाह—

यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा ॥ १६ ॥

टीका—यः परद्रव्यमभियुंजीत न गृहीतमं ? न (?) विलुंपते तस्य तावत् हीनेन शपथः क्रोशो न कार्यः दिव्यं ग्राह्यमिति । तथा च गर्गः—

अभियुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विलुम्पते ।
शपथस्तस्य कोशो वा योग्यो वा दिव्यमुच्यते ॥ १ ॥

अथाभिचारशुद्धस्य यद्यसिद्धिर्भवति तद्यत्करणीयं तदाह—

अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः ॥ १७ ॥

टीका—यदि वादी अभिचारयोगैः कूटप्रयोगैः सिद्धः स्यात् तदाभियुक्तसंभावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः कार्यः । एतदुक्तं भवति, तस्य केवलाः प्राणा रक्षणीया विभवश्च सर्व एव भूभुजा ग्राह्यः । तथा च शुक्रः—

यदि वादी प्रबुद्धोपि दिव्याद्यैः कूटजैः कृतैः ।
पश्चात्तस्य च विज्ञानं सर्वस्वहरणं स्मृतं ॥ १ ॥

अथ येषां दिव्यं न दीयते तानाह—

लिंगिनास्तिकस्वाचाराच्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति ।१८।

टीका—नास्ति न विद्यते । कासौ ? क्रिया । किंविशिष्टा ? दैवी दिव्यसम्भवा । कथं तर्हि तेषामपवादे संजाते शुद्धिस्तत्रोच्यते;—

तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा ॥ १९ ॥

टीका—युक्त्या परंपर्यक्रमानुष्ठानं तेषां विज्ञाय ततः शुद्धिर्देया । तथा च वादरायणः—

युक्त्या विचिन्त्य सर्वेषां लिंगिनां तपसः क्रियां ।
देया वचनतया शुद्धिरसंगत्या विवर्जनम् ॥ १ ॥

अथ संदिग्धे पत्रे साक्षे वा यत्रत्यसभ्यैः कार्यं तदाह—

संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिन्द्यात् ॥ २० ॥

टीका—परिच्छिन्द्यान्निर्णयो देयः । कैः ? सभ्यैः धर्माधिकारे नियुक्तैः पुरुषैः । कथं ? विचार्य, स्मृत्वा ; (कं ?) अर्थकूटं पत्रमिदं । अथवा सत्यवादी मिथ्यावादी वा ज्ञात्वा ततस्ताभ्यां दिव्यं देयं । तथा च शुक्रः—

संदिग्धे लिखिते जाते साक्ष्ये वाथ सभासदैः ?।
विचार्य निर्णयः कार्यो धर्मो शास्त्रसुनिश्चयः ॥ १ ॥

अथ धर्माधिकरणबाह्यं निर्णयो यथा भवति तदाह—

परस्परविवादे न युगैरपि विवादसमाप्तिरानन्त्याद्विपरीतप्रत्युक्तीनां ॥ २१ ॥

टीका—तयोर्धर्माधिकरणविवादो ज्ञेयः। परस्परं जल्पमानानां वादिनां पुरतः प्रभूतकालेनापि (न) परिसमाप्तिरिति। तस्माद्धर्माधिकरणैर्निवेद्यः! तथा च ....

धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं यो वादं चान्यथा क्रियात्।
सर्वस्वहरणं तस्य तथा कार्यं महीभुजा ॥ १ ॥

अथान्यदपि व्यवहारस्वरूपमाह—

ग्रामे पुरेवा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात् ॥ २२ ॥

टीका—यो व्यवहारो ग्रामे पुरे वा निवृत्तं कृत्वा तत्सम्बन्धी भूयोऽपि यदि ताभ्यां विवादो भवति तदा राजानमुपेयात् राजाग्रे करणीयं नान्यथा समाप्तिं याति। तथा च गौतमः—

पुरे वा यदि वा ग्रामे यो विवादस्य निर्णयः।
कृतः स्याद्यदि भूयः स्यात्तद्भूपाग्रे निवेदयेत् ॥ १ ॥

अथ राज्ञा निर्णीतेऽपि विवादं योऽन्यथा करोति तस्य यद्भवति तदाह—

राज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ॥ २३ ॥

टीका—यो विवादिको राज्ञो मर्यादामतिक्रम्य (मते) सद्यः फलेन दण्डेन हन्तव्यो न विकल्पः कार्यः। यतो राज्ञा निर्णीते भूयोऽपि विवादो नास्ति। तथा च शुक्रः—

वादं नृपतिनिर्णीतं योऽन्यथा कुरुते हठात् ।
तत्क्षणादेव वध्यः स्यान्न विकल्पं समाचरेत् ॥ १ ॥

अथ दुर्जनानां राज्ञा यत्कर्तव्यं तद्वक्रकाष्ठनिदर्शनेनाह—

न हि दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ॥ २४ ॥

टीका—दुर्जनानामन्यायवर्तिनां दण्डं मुक्त्वाऽन्यो निग्रहो नास्ति । केन दृष्टान्तेन? यतः सरलयति ऋजुतां नयति। किं? वक्रं काष्ठं कुटिलं दारु । कोऽसौ ? अग्निसंयोगः । यथा वक्रं काष्ठं वन्हियोगात्प्रांजलीभवति एवं पापिलोकोऽपि दण्डेन ऋजुतां याति । तथा च शुक्रः

यथात्र कुटिलं काष्ठं वन्हियोगाद्भवेदृजुः ।
दुर्जनोऽपि तथा दण्डादृजुर्भवति तत्क्षणात् ॥ १ ॥

अथ ऋजुपुरुषस्य यद्भवति तत्सरलवृक्षदृष्टान्तेनाह—

ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुश्छिद्यते यथा सरलः ॥ २५ ॥

टीका—यः पुमान् ऋजुर्भवति तं सर्वेऽपि जनः परिभवन्ति न कुटिलस्वभावं । केन दृष्टान्तेन ? न हि तथा वक्रतरुः सुखेन च्छिद्यते यथा सरलः प्राञ्जल इति । तथा च गुरुः—

ऋजुः सर्वं च लभते न वक्रोऽथ पराभवं ।
यथा[1] सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते छेदकैः ॥ १ ॥

अथ यथा राज्ञः पुरुषेण गोष्ठ्यां प्रलापः करणीयस्तथाह—

स्वोपालम्भपरिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥ २६ ॥

टीका—अवतारयेत् विस्तारयेत् । कां ? गोष्ठीं वार्ता । किं कुर्वन्? उत्कर्षयन् साल्हादं कुर्वन्। कं? स्वामिनं । केन कृत्वा? स्वोपालम्भपरिहा-

---

1 सप्ताक्षरप्रमितोऽयमार्षप्रयोगः, अथवा यथा च सरलो वृक्ष इत्येवं पठितव्यं।

रेण यथात्मन उपालम्भो नागच्छति। तथा परमुपालभेत परस्य स्वरूपं वादविषये निवेदनीयं धर्मस्थानाधिष्ठितपुरुषेणेति। तथा च गौतमः—

धर्मोधिकृतमर्त्येन निवेद्यः स्वामिनोऽखिलः।
विवादो न यथा दोषः स्वस्य स्यान्न तु वादिनः॥ १॥

अथ धर्माधिष्ठितेन पुरुषेण वादे यत्कर्तव्यं तदाह—

न हि भर्तुरभियोगात्परं सत्यमसत्यं वा वदन्तमवगृह्णीयात्॥ २७॥

टीका—नावगृह्णीयान्नावदूषयेत्। कं? वादिनं। किंविशिष्टं? सत्यमसत्यं वा वदन्तं। कस्मात् योगात्पक्षपातात्। कस्य? भर्तुः स्वामिनः। किंविशिष्टं? वादिनं परमन्यं। कोऽसौ नावगृह्णीयात् राजाधिष्ठितपुरुषः राजाधिष्ठितोऽधिकृतो यः पुरुषो भवति तेन वादविषये पक्षपातो न कर्तव्यः। यथार्थं राज्ञः पुरतो वाच्यं। तथा च भागुरिः—

ये (यो) न कुर्याद्रणं भूयो न कायस्तेन विग्रहः।
विग्रहेण यतो दोषो महतामपि जायते॥ १॥

अथ यः सदा कलहं करोति तदाह—

अर्थसम्बन्धः सहवासश्च नाकलहः सम्भवति॥ २८॥

टीका—सामस्त्येन न युद्धबाह्यस्तिष्ठति। कोऽसौ अर्थसम्बन्धो द्रव्यव्यवहारः, तथा सहवासश्चैकगृहेनिवासश्च। योऽर्थसम्बन्धं करोति तथैकस्मिन् गृहेऽन्येन सह तिष्ठति स युद्धबाह्यं न तिष्ठति। तथा च गुरुः—

यः कुर्यादर्थसम्बन्धं तथैकगृहसंस्थितिं।
तस्य युद्धं विना कालः कथंचिदपि न व्रजेत्॥ १॥

अथ प्राणैः सह यस्य संचितोऽर्थो यो गृहस्थितो यथा तथाह—

निचिराकस्मिको वार्थलाभः प्राणैः सह संचितमप्यर्थमपहारयति॥ २९॥

टीका—अपहारयति नाशं नयति । कं? संचितमर्थं गृहस्थितं वित्तं । कथं? सह, कैः प्राणैर्जीवितेन । कोऽसौ? निधिर्लब्ध आकस्मिकोऽश्रद्धेयो लाभश्च । तथा निधानलाभे आकस्मिकलाभे च शान्तिकपौष्टिकादिकानि कार्याणि यतः ।

अथ उत्पातलक्षणमाह—

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥ ३० ॥

टीका—ब्राह्मणानां यदि विवादो भवति तदा सुवर्णस्पर्शनं तथा यज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथो नान्यः । तथा च गुरुः—

हिरण्यस्पर्शनं यच्च ब्रह्मसूत्रस्य चापरं ।
शपथो ह्येष निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ॥ १ ॥

अथ क्षत्रियाणां शपथस्वरूपमाह—

शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥ ३१ ॥

टीका—क्षत्रियाणां तु पुनः शस्त्रस्पर्शनं रत्नस्पर्शनं भूमिस्पर्शनं वाहनस्पर्शनं पल्याणस्पर्शनं च पंचभिः स्पृष्टैः शपथो भवति । तथा च गुरुः-

शस्त्ररत्नक्ष्मायानपल्याणस्पर्शनाद्भवेत् ।
शपथः क्षत्रियाणां च पंचानां च पृथक् पृथक् ॥ १ ॥

अथ वैश्यानां शपथस्वरूपमाह—

श्रवणपोतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानां ॥ ३२ ॥

टीका—श्रवणः कर्णः, तथा पोतो बालस्तयोः स्पर्शनेन शपथो भवति । अथवा काकिणीहिरण्ययोर्वा काकिणी त्रिंशत्कपर्दिका हिरण्यं सुवर्णं ताभ्यां स्पर्शनेन वैश्यानां शपथः । तथा च गुरुः—

शपथो वैश्यजातीनां स्पर्शनात्कर्णबालयोः ।
काकिणीस्व ॑र्णयोर्वापि शुद्धिर्भवात नान्यथा ॥ १ ॥

अथ शूद्राणां शपथमाह—

शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥ ३३ ॥

टीका—शूद्राणां तु पुनः क्षीरस्पर्शनेन तथा बीजस्पर्शनेन वल्मीकस्पर्शनेन च शपथो भवति। तथा च गुरुः—

> दुग्धस्याग्रस्य संस्पर्शाद्वल्मीकस्य तथैव च।
> कर्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये ॥ १ ॥

अथ कारूणां शपथस्वरूपमाह—

कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानां।३४।

टीका—चतुर्वर्णानां येऽन्ये लोका रजकचर्मकारादयस्ते कारुकाः कथ्यन्ते तेषां यो य कर्म कुरुते तस्योपकरणेन स्पृष्टेन शपथः। रजकस्य वस्त्रकुट्टनेन तदुपकरणेन। एवमन्येषामपि यान्युपकरणानि कर्मकृतेः तैः स्पृष्टेन शपथः। तथा च गुरुः—

> यो येन कर्मणा जीवेत् कारुस्तस्य तदुद्भवं।
> कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः ॥ १ ॥

अथ व्रतिनामन्येषामपि लोकानां यथा शुद्धिर्भवति तदाह—

व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात्प्रदक्षिणादिव्यकोशातन्दुलतुलारोहणैर्विशुद्धिः ॥ ३५ ॥

टीका—व्रतिनां तपस्विनां च पार्श्वात्, येऽन्ये लोकास्तेषामपीष्टदेवतापादस्पर्शनेन शुद्धिः। अथवा तत्प्रदक्षिणया दिव्येन कोशपानेन वा तन्दुलभक्षणैर्वा विशुद्धिः। तथा च गुरुः —

> व्रतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता।
> इष्टदेवस्य संस्पर्शात् दिव्यैर्वा शास्त्रकीर्तितैः ॥ १ ॥

अथ व्याधानां शपथस्वरूपमाह—

व्याधानां तु धनुर्लंघनं ॥ ३६ ॥

टीका—व्याधानां तु धनुष्मतां पुलिंदानां धनुर्लंघनं चापोपरिगमनं। तथा च गुरुः—

पुलिन्दानां विवादे च चापलंघनतो भवेत् ।
विशुद्धिर्जीवनं तेषां यतः स्वयं प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

अथ त्याज्यानां शपथस्वरूपमाह—

अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मरोहणं ॥ ३७ ॥

टीका—अन्त्यवर्णावसायिनश्चाण्डालास्तेषामार्द्रचर्मचटनं शपथः । तथा च गुरुः—

अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्रचर्मावरोहणं ।
शपथः शुद्धिदः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः ॥ १ ॥

अथाशाश्वतानि यानि तान्याह—

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं चत्वार्यशाश्वतानि ॥ ३८ ॥

टीका—एतानि चत्वारि वस्तूनि अशाश्वतानि विनशनशीलानि स्थिराणि न भवन्ति । एका तावद्वेश्यापत्नी, द्वितीयो भृत्यः, तृतीयः क्रीणिनियोगः क्रीणिशब्देन कूतग्रहणं शुल्कादायग्रहणं उच्यते तस्य योगः करणं तदशाश्वतं । तथा चतुर्थं नियोगिमित्रं यन्मित्रं नियोगमधिकारं करोति तद्विनश्यति । तथा च शुक्रः—

वेश्यापत्नी तथा भण्डः सेवकः कृतसंग्रहः ।
मित्रनियोगिनं यच्च न चिरं स्थैर्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ वेश्यानां दूषणमाह—

क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥ ३९ ॥

टीका—क आस्वादः कोऽनुरागः । कासु ? पण्यस्त्रीषु वेश्यासु विषये । केष्विव ? क्रीताहारेष्विव मूल्यगृहीतभोजनेषु यथानुरागो भवति तथा वेश्यास्वपि तस्मात्ताः सत्पुरुषेण त्याज्याः । तथा च शुक्रः—

क्रयक्रीतेन भोज्येन यादृग्भुक्तेन स्याद्भवेत् ।
तादृक्संगेन वेश्यायाः सन्तोषो जायते नृप ! ॥ १ ॥

अथ संसारविषयो यथा नृणां भवति तदाह—

यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ॥ ४० ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य संसारे यावन्मात्रपरिग्रहो मानुषचतुष्पदाद्यस्तस्य तावन्मात्रः सन्तापो यस्य स्तोकः स्यात् सन्तापोऽपि स्तोकः ॥ तथा च नारदः—

अनित्येऽत्रैव संसारे यावन्मात्रः परिग्रहः ।
तावन्मात्रस्तु सन्तापस्तस्मात्त्याज्यः परिग्रहः ॥ १ ॥

तथान्यदपि संसारे विषयमाह—

गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः ॥ ४१ ॥

टीका—यथा राज्ञो हस्तिपोषणविषये चिन्ता भवति तथा रजकस्य गर्दभपोषणविषये मृते नष्टे वा दुःखं भवति । तथा च नारदः—

गजस्य पोषणे यद्वद्राज्ञः चिन्ता प्रजायते ।
रजकस्य च बालेये तादृक्षा वाधिका भवेत् ॥ ४२ ॥

अथ मूर्खस्याग्रहेण यद्भवति तदाह—

मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ॥ ४२ ॥

टीका—मूर्खस्य शठस्य योऽसावाग्रह एकाग्रहो भवति स न निवर्तते नोपशमं याति । किं कृत्वा ? अनवाप्यालब्ध्वा । कं ? अपायं विनाशं । तथा च जैमिनिः—

एकाग्रहोऽत्र मूर्खाणां न नश्यति विना क्षयं ।
तस्मादेकाग्रहो विज्ञैर्न कर्तव्यः कथंचन ॥ १ ॥

अथ मूर्खस्य विज्ञैर्यत्कर्तव्यं तदाह—

कर्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शांतावुपेक्षणमौषधं ॥ ४३ ॥

टीका—यथा कर्पासं दह्यमानं उपशमं नेतुं न शक्यते न क्रियते तस्योपशमनविधिस्तत्क्लेशाय केवलं स्यात्, एवं मूर्खस्याप्येकाग्रहे विषये

प्रबोधनं क्लेशाय भवति न तं यतो मूर्खो मुञ्चति । एवं स्थिते कि-मौषधं तस्योपशमनविषये उपेक्षणीयं न किंचिद्वक्तव्यं । तथा च भागुरिः—

कर्पासे दह्यमाने तु यथा युक्तमुपेक्षणं ।
एकग्रहपरे मूर्खे तद्वदन्यं न विद्यते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि मूर्खस्य स्वरूपमाह—

मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्डः ॥ ४४ ॥

टीका—मूर्खस्य यदभ्युपपत्तिकरणं प्रबोधनं । तत्तस्य किंविशिष्टं स्यात? स तस्य प्रतिबोधनविषये उद्दीपनपिण्डो भवति मूर्खकृत्यस्य वृद्धि-कारी भवति तस्मान्मूर्खं न प्रतिबोधयेत् । तथा च गौतमः—

यथा यथा जडो लोको विबुधैर्लोकैः प्रबोध्यते ।
तथा तथा च तज्जाड्यं तस्य वृद्धिं प्रयच्छति ॥ १ ॥

अथ कोपविशिष्टमूर्खाणां प्रबोधेन कृतेन यद्भवति तदाह—

कोपाग्निज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥ ४५ ॥

टीका—मूर्खेषु कोपाग्निज्वलितेषु क्रोधवैश्वानरदह्यमानेषु तत्क्षणा-देव तस्मिन् काले या सा प्रशमता शिक्षाप्रदानविषयः क्रियते । स किं विशिष्ट इव ? घृताहुतिनिक्षेप इव । एतदुक्तं भवति यथाग्निः घृताहुत्या प्रवर्धते, एवं मूर्खस्य कोपोऽपि वृद्धिं याति प्रबोधेन ।

अथ भूयोऽपि मूर्खस्वरूपमाह—

अनस्ततोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ॥ ४६ ॥

टीका—मूर्खः कुपितो ध्रियमाणो निवार्यमाणोऽपि परेण । किं करोति ? तमप्यन्यं परमप्यतिशयेनाकर्षति शत्रुसंमुखं नयति । क इव ? अनड्वानिव

बलीवर्द इव। किंविशिष्टः? अनस्तितो नासारज्जुरहितः। यथा नासाबन्धनरहितो वृषो ध्रियमाणः पुरुषमपि समाकर्षयति। तथा च भागुरिः—

नस्तया रहितो यद्वद्ध्रियमाणोऽपि गच्छति।
वृषस्तद्वच्च मूर्खोऽपि धृतः कोपान्न तिष्ठति॥ १॥

अथ गोपालस्योपदेशो नावस्तुनः पदार्थस्य यथा वस्तुत्वं न भवति तदाह—

स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम्॥ ४७॥

टीका—स्वयमेवागुणमात्मनैव विरूपं यद्वस्तु तत्पक्षपातान्न श्लाघ्यमानं शोभनं न भवति। केन दृष्टान्तेन? यथा गोपालश्लाघितेनोक्षा क्षीरं न क्षरति दुग्धं प्रयच्छति। तथा च नारदः—

स्वयमेव कुरूपं यत् तन्न स्याच्छंसितं शुभं।
यथोक्षा शंसितः क्षीरं गोपालेन ददाति नो॥ १॥

इति विवादसमुद्देशः।

२८ षाड्गुण्य-समुद्देशः ।

अथ षाड्गुण्यं व्याख्यायते । तत्रादावेव योगक्षेमस्वरूपमाह—

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ॥ १ ॥

टीका—योगः कर्मलाभः क्षेमं कुशलं तयोर्द्वयोः शमव्यायामौ योनि-रुत्पत्तिस्थानं । तत्र लाभात् क्षेमं व्यायामाद्योगः । शमव्यायामलक्षणमा-गामिसूत्रे वदिष्यतीति ।

शमव्यायामयोर्लक्षणमाह—

कर्मफलोपभोगानां क्षेमसाधनः शमः कर्मणां योगाराधनो व्यायामः ॥ २ ॥

टीका—कर्मणि कृते यत्फलं भवति तस्य ये योगा विलासास्तेषु यत्क्षेमं कुशलं तद्यः साधयति करोति स शमः । यः पुनः कर्मारम्भः क्रियते तत्र योऽसौ योग उद्यमः स व्यायामः । तथा च शुक्रः—

.... ।
.... ॥ १ ॥

अथ दैवस्य कर्मणः स्वरूपमाह—

दैवं धर्माधर्मौ ॥ ३ ॥

टीका—यः पुरुषो धर्मं करोति, अधर्मं च पापलक्षणं करोति तद्दैवं । दैवशब्देन प्राक्तनीयं कर्म प्रोच्यते । येनान्यजन्मनि शुभं कृतं तच्छुभं करोति । येन पापं कृतं स पापं करोति । तथा च व्यासः—

येन यच्च कृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुनः ॥ १ ॥

अथ मानुषस्य कर्मणः स्वरूपमाह—

मानुषं नयानयौ ॥ ४ ॥

टीका—यत्पुनः पुरुषो नयेनानयेन वर्तते तन्मानुषं ऐहिकं कर्म पुरुषकारलक्षणं तत्र पौरुषेण भवतीत्यर्थः । तथा च गर्गः—

नयो वाऽप्यनयो वापि पौरुषेण प्रजायते ।
तस्मान्नयः प्रकर्तव्यो नानयश्च विपश्चिता ॥ १ ॥

अथ दैवस्य मानुषस्य च कर्मणः स्वरूपमाह—

दैवं मानुषं च कर्म लोकं यापयति ॥ ५ ॥

टीका—यापयति नियोजयति । कं? कर्मतापन्नं लोकं । किं तत्? कर्म । किंविशिष्टं? दैवं मानुषं च द्वाभ्यां संयोगेन पुरुषस्य सिद्धिर्भवति न चैकेन । तथा च गुरुः—

यथा नैकेन हस्तेन ताला संजायते नृणाम् ।
तथा न जायते सिद्धिरेकेनैव च कर्मणा ॥ १ ॥

अथ दैवस्य कर्मणः स्वरूपमाह—

तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवं ॥ ६ ॥

टीका—तद्दैवं कर्म पुरुषेण चिन्तनीयं किं वा सानुकूलं किं वा मम सर्वाणि कर्माणि सिद्धिं यान्ति किं वा न यान्तीति ततः कर्मारम्भः कार्यः । अथवा चिन्त्यं दैवं पृष्टितः कृत्वा पौरुषं कार्यं कदाचित्सिद्ध्यतीति । तथा च वल्लभदेवः—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति का पुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १ ॥

अथ दैवायत्तस्य सम्बन्धस्य स्वरूपमाह—

अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसम्बन्धो दैवायत्तः ॥ ७ ॥

टीका—यदन्यत्कार्यं चिन्तयमानस्यान्योऽर्थसम्बन्ध उपस्थानं करोति स दैवायत्तः पूर्वकर्मसमुद्भवः शुभो वाऽशुभो वा । तथा च शुक्रः—

अन्यच्चिन्तयमानस्य यदन्यदपि जायते ।
शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं दैवकृतं च तत् ॥ १ ॥

अथ मानुषायत्तस्य स्वरूपमाह—

बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायत्तः ॥ ८ ॥

टीका—तथा च शुक्रः—

बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्र शुभाशुभं ।
नरायत्तं च तज्ज्ञेयं सिद्धं वासिद्धमेव च ॥ १ ॥

अथानुकूले दैवे उद्यमरहितस्य यद्भवति तदाह—

सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥ ९ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत्? भद्रं कल्याणं । कस्य? निष्कर्मण उद्यमरहितस्य पुरुषस्य । कस्मिन् सति? अनुकूले प्राञ्जले सति । कस्मिन्? दैवे प्राक्तनकर्मणि । तथा च वल्लभदेवः—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १ ॥

अथ केवलं दैवपरस्य पुरुषस्य दृष्टान्तमाह—

न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥ १० ॥

टीका—यावद्दैवस्तेन नोद्यमं करोति । तस्मान्न दैवं प्रमाणीकृत्योद्यमं परित्यजेत् । तथा च भागुरिः—

प्राप्तं दैववशादन्नं क्षुधार्तस्यापि चेच्छुभं ।
तावन्न प्रविशेद् वक्त्रे यावत्प्रेषति नोत्करः ॥ १ ॥

अन्यदपि उद्यमविषये दृष्टान्तमाह—

---

१ अस्य व्याख्या नोपलब्धा । २ अत्रत्यः पाठस्त्रुटित इवावभाति ।

न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ॥ ११ ॥

टीका—दैवमवलम्बमानस्य केवलं दैवमाश्रितस्य पुरुषस्य न किंचिद्भवति। यथा शराश्चापं स्वयमेव न गच्छन्ति तस्मादुद्यमः कार्यः। तथा च जैमिनिः—

नोद्यमेन विना सिद्धिं कार्यं गच्छति किंचन।
यथा चापं न गच्छन्ति उद्यमेन विना शराः ॥ १ ॥

अथ केवलं पौरुषमवलम्बमानस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ॥ १२ ॥

टीका—केवलं पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः पौरुषे कृतेऽर्थो भवति। अथवानर्थो भवति। तथा च वशिष्ठः—

पौरुषमाश्रितलोकस्य नूनमेकतमं भवेत्।
धनं वा मरणं वाथ वशिष्ठस्य वचो यथा ॥ १ ॥

अथ दैवस्य पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥ १३ ॥

टीका—दैवपरस्य पुरुषस्य निश्चित एवानर्थः सन्देहो नास्तीति॥ तथा च नारदः—

प्रमाणीकृत्य यो दैवं नोद्यमं कुरुते नरः।
स नूनं नाशमायाति नारदस्य वचो यथा ॥ १ ॥

अथ दैवपुरुषकारयोः संयोगे यद्भवति तदाह—

आयुरौषधयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥ १४ ॥

टीका—निष्पत्तिं नयति। कं? समीहितमर्थं मनोऽभिलषितं प्रयोजनं॥ कोऽसौ? परस्परसंयोगोऽन्योन्यानुबन्धः। कयोरिव? आयुरौषधयोरिव।

यथायुरौषधयोः परस्परसम्बन्ध एकं तावत्पुरुषस्यायुर्भवति तदर्हमौषधं भवति तत्पुरुषो जीवत्येव। अथायुर्न भवति तदर्हमपि तदौषधं न मिलति। अथवायुर्भवति, औषधं मिलति तदपि दीर्घायुः समीहितं न भवति। तथा च भारद्वाजः—

विनायुषं न जीवेत भेषजानां शतैरपि ।
न भेषजैर्विना रोगः कथंचिदपि शाम्यति ॥ १ ॥

अथानुष्ठीयमानस्य यद्भवति तदाह—

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ॥ १५ ॥

टीका—न अनुबध्नाति न जनयति। कं? अधर्मं। कोऽसौ? धर्मः। किंविशिष्टः? अनुष्ठीयमानः क्रियमाणः। पुनः किंविशिष्टः? कश्चित् कोऽप्यष्टप्रकारमध्यात्। किं कुर्वन्नधर्मं न जनयति? स्वफलमनुभावयन्नात्मीयफलं प्रयच्छन्। एतदुक्तं भवति, धर्मं कुर्वतोऽधर्मं न भवति। किं विशिष्टः सः—

इष्टा(ज्या)ध्ययनदानादि तपः सत्यं क्षमा धृतिः, इति ।
अलोभ इति वर्गोऽयं पंचाष्टविधः स्मृतः ॥

तथा च भागुरिः—

यः कश्चित् क्रियते कर्म प्राणिभिः श्रद्धयान्वितैः ।
स एव हरति प्रायः स्वफलेऽत्र प्रपातकम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वरूपमाह—

त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥ १६ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। किं तत्? दैवं। किंविशिष्टं? प्रत्यक्षं। कस्मात्? भूभुजो राज्ञः सकाशात्। कुतः? त्रिपुरुषमूर्तित्वात् हरिहरहिरण्यगर्भमूर्तित्वात्। एतदुक्तं भवति, येऽन्ये देवास्ते परोक्षा न केनापि

दृश्यन्ते, एष पुना राजा प्रत्यक्षं ब्रह्माविष्णुमहेश्वरमयस्तस्मादनेन समो देवो नास्ति। तथा च मनुः—

> सर्वदेवमयो राजा सर्वेभ्योऽप्यधिकोऽथवा।
> शुभाशुभफलं सोऽत्र देयाद्देवो भवान्तरे ॥ १ ॥

अथ राजा येन प्रकारेण ब्रह्मा भवति तदाह—

प्रतिपन्नप्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोऽलङ्कुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥ १७ ॥

टीका—ब्रह्मा भवति। कोऽसौ? क्षत्रपुत्रः क्षत्रियः। कथंभूतः? प्रतिपन्नप्रथमाश्रमः प्रतिपन्नो रचितः प्रथमाश्रमो ब्रह्मचारिलक्षणो येन स तथा क्षत्रियोऽपि द्वादशमे ब्रह्मचारिव्रतं धत्ते तथा परे ब्रह्मणि विष्णुरूपे निष्णातः संसक्त इति। क्षत्रियस्य यद्ब्रह्मचारिव्रतं तदेव ब्रह्म तत्र निष्णातबुद्धिः। तथा ब्रह्मा उपासितगुरुकुल उपासितं सृष्टं गुरुकुलं बृहद्ध्रंसमरीचिप्रमुखं येन सः। तथा ब्रह्मा विद्यायां देवलक्षणायां अधीती पाठकः, क्षत्रियस्य पुनर्विद्यायाश्चतुर्विधाया आन्वीक्षिकीपूर्वाया अधीती पाठकः। तथा ब्रह्मा कौमारवयोऽलंकुर्वन् कुमारवयसः कुमाराद्यो ये षड्बुधास्तानलङ्करोति क्षत्रियस्तु कौमारं युवराजलक्षणं यद्वयस्तदलङ्करोति।

अथ विष्णुस्वरूपो राजा यथा भवति तदाह—

संजातराज्यलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ॥ १८ ॥

---

१ श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ तु नास्ति २ ब्रह्मचर्यरूपे निष्णातः। ३ "बृहद्ध्रंश" अस्मिन् स्थानेऽयं पाठः। ४ यस्मात् ब्रह्मा अपि गुरुकुलं सेवते, राजापि तस्माद्ब्रह्मा।

टीका—नाविष्णुः पृथिवीपतिरिति वाक्यात्। योऽसौ विष्णुस्तस्य किल लक्ष्मीर्भवति तया सह दीक्षाभिषेको भवति तथा च नारायणः। ब्रह्म सृजति हरिस्तद्रुद्रः संहरति (?) तथा राजापि प्रजापालनेन रंजयमानो नारायणत्वमाप्नोति । तथा नाविष्णुः पृथिवीपतिरिति वचनात् । तथा च व्यासः—

नामुनिः कुरुते काव्यं नाविष्णुः पृथिवीपतिः ।
नाबलिर्दानं स्यान्न वीरः शौर्यभाग्भवेत् ॥ १ ॥

अथ राजा पिनाकपाणिर्यथा भवति तथाह—

प्रवृद्धप्रतापतृतीयलोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्र-कण्टकान् द्विषद्दानवान् छेत्तुं यतते विजिगीषुर्भूपतिर्भवति पि-नाकपाणिः ॥ १९ ॥

टीका—योऽसौ पिनाकपाणिर्महेश्वरस्तस्य तृतीयं नयनं तदाग्नेयं स तेन तृतीयनयनसम्भवो लोचनानलः, राजा प्रवृद्धप्रतापानलः । तथा पिनाकपाणिः परमैश्वर्यमातिष्ठमानोऽसुरान् द्विषद्दानवान् उच्छेत्तुं यतते यत्नं करोति यथा, तथा राजापि जिगीषू राष्ट्रकण्टकानेवासुरान् द्विषद्दानवान् दुष्टदायदान् उच्छेत्तुं यत्नपरः पिनापाणिर्भवतीति ।

अथ राजमण्डलस्याधिकारः प्रोच्यते—

उदासीनमध्यमविजीगीष्वरिमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारांतर्धयो यथासम्भवगुणविभवान्तरतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥ २० ॥

टीका—उदासीनस्तावत्प्रथमः, ततो मध्यमः, ततो विजिगीषुः, ततोऽरिः, ततो मित्रं, ततः पार्ष्णिग्रहः तत आसारपते (?) अन्तरतम एकान्तरेति राजमण्डलाधिष्ठिताधिपतयो विज्ञेयाः । यथासंभवं नैकैकः मण्डलमेतत् । यो यस्यान्तिमो वर्तते राजा तेन तस्य यो स्थिता राजानस्ते एताभिः संज्ञाभिः यथावस्थिता ज्ञेया इति ।

अथोदासीनलक्षणमाह—

अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजीगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीनः ॥ २१ ॥

टीका—यो राजा कस्यापि राज्ञः स्वमण्डलस्थः सन् अग्रतः पृष्ठतः पार्श्वे कोणे वा स्थितः सन्निकृष्टे समीपे स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां केनापि भूभुजा विग्रहे संग्रामे संहतानां प्रवृत्तानामनुग्रहे निवारणे समर्थोऽपि येन केन कारणेन कयापि कार्यापेक्षया अन्यस्मिन् भूपतौ राज्ञि विजिगीषुमाणे विजेतुमिच्छति य उदास्ते उपेक्षते स उदासीनः कथ्यते।

अथ मध्यस्थस्य लक्षणमाह—

उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित्कारणादन्यस्मिन्नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः ॥ २२ ॥

टीका—यो राजाऽनियतमण्डलो भवति अनियतानि अपर्यन्तानि मण्डलानि भवन्ति सोऽपरभूपालापेक्षया यद्यहमेकस्य साहाय्यं करोमि तद्द्वितीयो मे वैरी भवतीति स्वं चिन्तयन् स्वयं समधिकबलोऽपि उदासीनवत् य आस्ते स मध्यस्थ उच्यत इति।

अथ विजिगीषुलक्षणमाह—

राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥ २३ ॥

टीका—आत्मशब्देन राज्याभिषेक उच्यते। दैवं प्राकर्म शुभं। द्रव्यं भाण्डागारः। प्रकृतिरमात्याद्या राजपुरुषाः। एतैश्चतुर्भिः पदार्थैर्यो युक्तः।

तथाधिष्ठानं वसतिः। कयोः? नयविक्रमयोः नीतिशौर्ययोः स विजिगीषु-रुच्यते।

अथारिलक्षणमाह—

य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रातिकूल्यमीयर्ति स एवारिः ।२४।

टीका—स एव स्वस्यात्मीयस्य कस्यचिदहितानुष्ठानेनापराधक्रियया प्रातिकूल्यं दुःखमाचरति सदैव सोऽरिः कथ्यते।

मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥ २५ ॥

पार्ष्णिग्राहलक्षणमाह—

यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ॥ २६ ॥

टीका – कश्चिद्राजा विजिगीषौ विजययात्रायां प्रस्थितेऽन्यस्य भूपस्योपरि प्रतिष्ठमानेऽथवा गन्तुकामेऽथवा पश्चात्कोपं जनयति तद्देशमर्दनं करोति स पार्ष्णिग्राह उच्यते।

अथाक्रन्दस्य लक्षणमाह—

पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥ २७ ॥

टीका—आक्रन्दयति विजिगीषोः समित्रत्वे यतः सर्वेऽपि सीमान्तरिता मित्रस्थान भवन्ति।

अथासारलक्षणमाह

पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्रं च ॥ २८ ॥

टीका—पार्ष्णिग्राहाद्यः सीमान्तरितस्तस्य मित्रत्वे वर्तमानः स आसारः कथ्यते। आङ्शब्दो मर्यादा वाचकः सर्वेषां विजिगीषुपार्ष्णिग्राहाक्रन्दादीनां पर्यन्ते सरति वर्तते तेन आसारः तौ पार्ष्णिमित्रमाक्रन्दमित्रं चैकसीमाधिपतित्वात् कथयन्ति।

अथान्तर्धिलक्षणमाह—

अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चान्तर्धिः ॥ २९ ॥

टीका—अन्तर्धिशब्देन चरटः कथ्यते। य इत्थंभूतो भवति सोऽन्तर्धिः। अरि विजिगीषोर्मण्डलान्तरसमा यो महाटवी निवासः पर्वताश्रयो वोभयवेतनो भवति। विषमाश्रयबलाद्विजिगीषुं तमरिं च द्वावपि दण्डेन योजयत्यसावन्तर्धिरुच्यते। एवं सप्तविधराजमण्डलमन्तर्धिसहितं भूभुजा विज्ञेयं।

अथ यादृग्रूपो रिपुर्विगृहीतव्यो विजिगीषुणा तत्स्वरूपमाह—

अराजबीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापतिः शत्रुरभियोक्तव्यः ॥३०॥

टीका—इत्थंभूतो यः शत्रुर्भवति स विजिगीषुणाभियोक्तव्यो विगृहीतव्यः। किंविशिष्ट? अराजबीजी जारजातोऽज्ञदेशीयो वा। तथा यो लुब्धो भवति। क्षुद्रो दुष्टहृदयः। तथा विरक्तप्रकृतिर्विरक्तपरिग्रहः। तथान्यायपर उन्मार्गगामी। व्यसनी द्यूतपानादिभिर्व्यसनैः समेतः। तथा विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापतिः विप्रतिपन्नाः पराङ्मुखीभूता मित्रामात्यसेनापतिसामन्ता यस्य स तथा। एवंविधः शत्रुः साध्यो भवति। तथा च शुक्रः—

> **विरक्तप्रकृतिर्वैरी व्यसनी लोभसंयुतः।**
> **क्षुद्रोऽमात्यादिभिर्मुक्तः स गम्यो विजीगीषुणा ॥ १ ॥**

अथ भूमिपेन शत्रोर्यत्करणीयं तदाह—

अनाश्रयो दुर्बलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीयः ॥ ३१ ॥

टीका—यः शत्रुरनाश्रयो भवति आश्रयं न लभते दुर्बलं वा कमप्याश्रयेत् स उच्छेदनीयो योधनीयः। तथा च शुक्रः—

अनाश्रयो भवेच्छत्रुर्यो वा स्याद्दुर्बलाश्रयः ।
तेनैव सहितः सोऽत्र निहन्तव्यो जिगीषुणा ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि यत्कर्तव्यं तदाह—

विपर्ययो निष्पीडनीयः कर्षयेद्वा ॥ ३२ ॥

टीका—यदि शत्रुविषये विपर्ययो भवति मैत्रं भावं गच्छति तत्तं निष्पीडयेद्विभवहीनं कुर्यात् कर्षयेद्वा व्यापादयेद्वा । तथा च गुरुः—

शत्रुर्मित्रत्वमापन्नो यदि नो चिन्तयेच्छिवम् ।
तत्कुर्याद्विभवहीनं युद्धे वा तं नियोजयेत् ॥ १ ॥

अथ सहजस्य शत्रोर्लक्षणमाह—

समाभिजनः सहजशत्रुः ॥ ३३ ॥

टीका—समाभिजनशब्देन दायाद उच्यते स सहजशत्रुः । यथा मूषकस्य मार्जारः कदाचिच्छुभं न चिन्तयति । तथा च नारदः—

गोत्रजः शत्रुः सदा......तत्पदवाञ्छकः ।
रोगस्येव न तद्वृद्धिं कदाचित्कारयेत्सुधीः ॥ १ ॥

अथ कृत्रिमशत्रोः स्वरूपमाह—

विराधो विराधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः ॥ ३४ ॥

टीका—करणेन निर्वृत्तः कृत्रिमः । यः शत्रुर्विराधो भवति यस्य विरोधो क्रियते स विराध उच्यते शत्रुर्यः पुनर्विजिगीषोरुपेत्य विरोधं करोति सोऽप्यकृत्रिमः शत्रुः । यदि हीनबलो भवति विग्रहीतव्यः । यद्यधिकबलो भवति तदा साम्ना सन्तोषयेत् । तथा च गर्गः—

यदि हीनबलः शत्रुः कृत्रिमः संप्रजायते ।
तदा दण्डोऽधिको वा स्याद्देयो दण्डः स्वशक्तितः ॥ १ ॥

अथ शत्रुमित्रकारणमाह—

अनन्तरः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैष एकान्तः कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षसन्निकर्षौ ॥ ३५ ॥

टीका—यदेवं वदति अनन्तरः सीमाधिपः शत्रुर्भवति तस्यानन्तरं-यस्तन्मित्रं तन्नैष एकान्तः सदा लक्षणकार्यः। (कार्यं) हि शत्रुमित्रत्वयोः (कारणं) कार्यवशात्सीमाधिपोऽपि मित्रतां याति शत्रुत्वं च (तत्परजः) शत्रुर्भवति मित्रं भवति न पुनः सन्निकर्षे कारणं विप्रकर्षो वा, सीमान्तरितः मित्रं, सन्निकर्षः समीपस्थः सीमाधिपः शुत्रुर्नैष एकान्तः सदैव भवतीति। तथा च शुक्रः—

कार्यात्सीमाधिपो मित्रं भवेत्तत्परजो रिपुः।
विजिगीषुणा प्रकर्तव्यः शत्रुमित्रोपकार्यतः॥ १॥

अथ शक्तेर्बुद्धिशक्तेश्च विशेषमाह—

बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी॥ ३६॥

टीका—गरीयसी। काऽसौ? बुद्धिशक्तिः। कस्याः सकाशात्? आत्मनः शक्तेः। यस्य विजिगीषोरात्मशक्तिर्भवति स बलवानपि बुद्धिमता दुर्बलेनापि हन्यते।

शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः॥ ३७॥

टीका—यथा सिंहः शशकेनहतः, एष सिंहशशकदृष्टान्तो पंचतंत्रके .... । तथा च—

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥ १॥

अथ प्रभुशक्तेः स्वरूपमाह—

कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः॥ ३८॥

टीका—यस्य विजिगीषोः कोशो भाण्डागारं भवति स दण्डः हस्त्यश्वपदातिलक्षणो भवति सा तस्य प्रभुशक्तिः कथ्यते, तस्याः—

शूद्रशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ॥ ३९॥

---

१ मूलपुस्तकात्संयोजितमिदं सूत्रं।

टीका—एतौ उभयवाचनके ज्ञेयौ।

अथोत्साहशक्तिलक्षणमाह—

विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः॥ ४० ॥

टीका—यस्य विजिगीषोर्विक्रिमः पराक्रमो भवति। तथा बलं सैन्यं भवति उत्साहशक्तिः सोच्यते। अत्र रामो दृष्टान्तः—रामेण विक्रमवता वानरबलयुक्तेन[1] रावणो निपातितः। तथा च गर्गः—

सहजो विक्रमो यस्य सैन्यं बहुतरं भवेत्।
तस्योत्साहो तद्युद्धे या ?......दाशरथेः पुरा ॥ १ ॥

अथ विजिगीषोः शक्तित्रययुक्तहीनस्य शत्रुतुल्यशक्तेर्यद्भवति तदाह—

शक्तित्रयोपचितो ज्यायान्, शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः समः ॥ ४१ ॥

टीका—यो विजिगीषुः शत्रोः सकाशाच्छक्तित्रयोपचितो भवति शक्तित्रयाभ्यधिको भवति स ज्यायान् श्रेष्ठतमः परं जयति युद्धे। यः पुनः शक्तित्रयपतितो भवति स हीनः परेण जीयते। यः शक्तित्रयेणतुल्यो भवति स समः प्रोच्यते यद्यपि समस्तथापि युद्धं न कर्तव्यं। तथा च गुरुः—

समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत्।
अन्योन्याहति ? यो संगो द्वाभ्यां संजायते यतः ॥ १ ॥

अथ षाड्गुण्यं व्याख्यायते तस्य संज्ञाकरणमाह—

सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यं ॥ ४२ ॥

पणबन्धः सन्धिः ॥ ४३ ॥

---

१ वानरवंशोत्पन्नहनुमदादिसहायेन। वानरशब्दो वंशवाचकः न तु मर्कटवाचकः २ गतार्थमेतद्।

टीका—यत्र शत्रुणा सह पणबन्धः क्रियते केनचित्पदार्थेन गृहीतेन वा शत्रोस्तेन विहितेन यो भवति स पण उच्यते तेन सन्धिर्भवति। तथा च शुक्रः—

दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत्।
तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः ॥ १ ॥

अथ विग्रहस्य स्वरूपमाह—

अपराधो विग्रहः ॥ ४४ ॥

टीका—यदा यस्य विजिगीषोः कोऽप्यपराधं करोति तदा विग्रहः स्यात्।

अथ यानस्वरूपमाह—

अभ्युदयो यानं ॥ ४५ ॥

टीका—यदा शत्रोरुपरि गम्यतेऽभ्युदयः क्रियते। अथवा बलवन्तं रिपुं ज्ञात्वान्यत्र गम्यते।

अथासनस्वरूपमाह—

उपेक्षणमासनं ॥ ४६ ॥

टीका—यदा शत्रुरागन्तुमुद्यतो भवति तदा तस्योपेक्षणं कर्तव्यं सहसा दे (ए) व स्थानत्यागं कर्यात्। किं वा तेन सह युद्धशक्तिः किं वा नास्ति।

अथ संश्रयस्य स्वरूपमाह—

परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥ ४७ ॥

टीका—यदा शत्रुर्बलवानागच्छति स्थातुं स्वस्थाने न शक्यते तदात्मा तस्यार्प्यते आत्मनो विनिवेदनं कृत्वा शपथाद्यैः स्वराष्ट्रं रक्षेत्।

अथ द्वैधीभावस्य स्वरूपमाह—

एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥ ४८ ॥

टीका—यदा शत्रुद्वयमुपस्थितं भवति तदैकेन सह विग्रहकरणं युक्तं, द्वितीयेन सह बलवता सन्धानपूर्वो विग्रहः, प्रथमं सन्धानं कृत्वा पश्चाद्विग्रहः कार्यः। न द्वाभ्यां हेलया विग्रहः कार्यः। एतद्द्वैधीभावस्य स्वरूपम्।

अथ बुद्ध्याश्रयस्य द्वैधीभावस्य स्वरूपमाह—

प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणं विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥ ४९ ॥

टीका—हीयमानेन विजिगीषुणा शत्रोर्यथा सन्धिः कार्यः तदाह—

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ॥ ५० ॥

टीका—हीयमानो विजिगीषुः परेषां सकाशात् पणबन्धेन दण्डव्यवस्थया सन्धिमुपेयात् सन्धानं कुर्यात्। यदि नास्ति तेषां विपणितेऽर्थे व्यवस्थायां कृतायां मर्यादोल्लंघनं यदि तेषां मर्यादातिक्रमणं न भवति। तत्र विषये शपथः कोशपानादिभिर्निवृत्तिः कार्येति। तथा च शुक्रः—

हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा।
बलयुक्तेन यत्कार्यं तैः समं निधिनिश्चयो ? ॥ १ ॥

अथ विजिगीषुणा बलयुक्तेन यत्कार्यं तदाह—

अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ॥ ५१ ॥

टीका—शत्रोः सकाशाद्विजिगीषुर्यद्यभ्यधिको भवति तत्तं विगृह्णीयात् तस्योपरि विग्रहं कुर्यात्। यदि आत्मबलेषु निजसैन्येषु क्षोभो भयं न स्यात्। तथा च गुरुः—

यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषुर्निजैर्बलैः।
क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः॥ १॥

अथान्यदपि विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्यामस्ति कुशलम्॥ ५२॥

टीका—आयत्यां परिणामे यदि शत्रोः कुशलं ज्ञायते तद्विग्रहं न कुर्यात्। यद्येवं मन्यते परो मां न हन्ति नाहं परं हनिष्यामीति सन्धिद्वारेण वर्तितव्यमिति। तथा च जैमिनिः—

न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते।
बलाढ्येनापि यो न स्यादायत्यां चेष्टितं शुभं॥ १॥

अथ भूयोऽपि यत्कर्तव्यं तदाह—

गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः॥ ५३॥

टीका—तद्देशोपरि यदि न कोपः यदि राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवन्ति तद्गुणातिशययुक्तो बहुगुणो विजिगीषुर्यायात् गच्छेत्परोपरि। तथा च भागुरिः—

गुणयुक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ?।
यद्येतेन हि राष्ट्रस्य बहवः शत्रवोऽपरे॥ १॥

अथ विजिगीषोः स्वमण्डलमपालयतः परं परदेशं गच्छतो यद्भवति तदाह—

---

१ न कण्टकारूपः इति पाठोऽस्य स्थाने पुस्तके।

स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो निवसनने शिरोवेष्टनमिव ॥ ५४ ॥

टीका—उष्णीषकरणमिव। केन? निवसनेन परिधानवस्त्रेण। कस्येव? अन्धस्येव हास्याय यथान्धः परिधानवस्त्रेण शिरोवेष्टने कृते हास्यतां याति तथा विजिगीषुरपि पश्चात्कोपे स्थिते राष्ट्रविध्वंसे स्थिते हास्यतां याति तस्मात्स्वदेशं रक्षितं कृत्वा[1] परदेशं[2] यायात्। तथा च विदुरः—

य एव यत्नः कर्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ १ ॥

अथ शक्तिहीनेन विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ॥ ५५ ॥

टीका—यदा हीनबलः शत्रोः सकाशात् भवति तदा संश्रयं कुर्यात् द्वयानां सकासं (बलानां साकाशं) गच्छेत्। यदि तेषामामिषं व्यसनं न भवति। किमिव संश्रयं कुर्यात्? रज्जुवलनमिव यथा प्रभूततन्तुसंश्रयाद्रज्जुर्दृढो भवति न त्रुटयति तथा विजिगीषुरपि। तथा च गुरुः

स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषुर्हि वैरिणः।
संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात् ॥ १ ॥

अथ बलानां सम्प्रदायेन यद्भवति तदाह—

बलवद्भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव ॥५६॥

टीका—बलवद्रिपोर्भयात् यदबलस्य बलहीनस्य संश्रयः क्रियते। स किंविशिष्ट इव? हस्तिभयादेरण्डारोहणमिव यथा हस्तिभयादेरण्डाश्रयः

---

१ " स्वदेशं कृत्वा " इत्यपि पाठोऽस्मत्प्रमे। २ अस्य स्थाने स्वदेशं इति पाठः पुस्तके।

कृतः एरण्डेनापि सह पुरुषो विनाशं गच्छति तस्माद्धीनबलो न संश्रयणीयः । तथा च भागुरिः—

सबलाश्रयस्य बलाद्धीनं यो बलेन समाश्रयेत् ।
स तेन सह नश्येत यथैरण्डाश्रयी गजः ॥ १ ॥

अथ स्थिरस्यास्थिरस्याश्रयेण यद्भवति तदाह—

स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानेन वहमानस्याश्रयणमिव ॥ ५७ ॥

टीका—यो विजिगीषुः स्वयमस्थिरो भवति शत्रुपरित्रस्तो भवति स यदान्यं शत्रुपरिभूतं संश्रयते तदा तेनैव विनाशं याति । कथं ? यथा नद्यां नीयमानोऽन्यं नीयमानं संश्रयते ततो द्वाभ्यामपि विनाशो भवति तस्मादस्थिरं न समाश्रयीत । तथा च नारदः—

बलं बलाश्रितेनैव सह नश्यति निश्चितं ।
नीयमानो यथा नद्यां नीयमानं समाश्रितः ॥ १ ॥

अथ मानिनां यत्कर्तव्यं तदाह—

वरं मानिनो मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्मविक्रयः ॥ ५८ ॥

टीका—मानिनः साहंकारस्य राज्ञः । वरं श्रेष्ठं । किं तत् ? मरणं न परच्छन्दानुवर्तनेन शत्रोराज्ञाकरणेनात्मविक्रयः कृतस्तस्माच्छत्रोः संश्रयो न कार्यः । तथा च नारदः—

वरं वनं वरं मृत्युः साहंकारस्य भूपतेः ।
न शत्रोः संश्रयाद्राज्यं......कार्यं कथंचन ॥ १ ॥

अथ कार्यापेक्षया विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

आयतिकल्याणे सति कस्मिंश्चित्सम्बन्धे परसंश्रयः श्रेयान् ॥ ५९ ॥

टीका—न केवलं शत्रोः संश्रयो न कर्तव्योऽपि तु क्रियते कस्मिंश्चिद्विषये आयत्यां परिणामे शत्रुसंश्रयोऽपि श्रेयान् कल्याणप्रदो भवति । तथा च हारीतः—

> परिणामं शुभं ज्ञात्वा शत्रुजः संश्रयोऽपि च ।
> कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सततं न कथंचन ॥ १ ॥

अथ राज्ञः कृत्येषु कालातिक्रमस्य स्वरूपमाह—

निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ॥ ६० ॥

टीका—यथा निधाने लब्धे न कालनियमः कालातिक्रमो न क्रियते तत्क्षणादेव गृह्यते तथा राजकार्येषु कालातिक्रमो न शुभावहः तत्क्षणादेव राजकार्याणि क्रियन्ते । तथा च गौतमः

> निधानदर्शने यद्वत्कालक्षेपो न कार्यते ।
> राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ॥ १ ॥

अथ राजकार्याणां स्वरूपमाह—

मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम् ॥ ६१ ॥

टीका—राजकार्याणां राजकृत्यानां यदुत्थानं संभूतिः । तत्किंविशिष्टं ? मेघवदुत्थानं यथा मेघस्योत्थानमचिन्तितमपि संजायते तथा राजकृत्यानामपि, तस्माद्विलम्बो न कार्यः, अन्यत्र शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्यां शत्रुविषये यत्कृत्यं तत्र यः समादेशः सन्धिविग्रहविषये स तत्क्षणादेव न कार्यः चिन्तनीय इति । तथा च गुरुः—

> राजकृत्यमचिंत्यं यदकस्मादेव जायते ।
> मेघवत् तत्क्षणात्कार्यं मुक्त्वैकं सन्धिविग्रहं ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योवश्यमात्मना सहोत्सहते ॥ ६२ ॥

टीका—तद्द्वैधीभावं गच्छेत् सन्धिवाक्यैर्विग्रहवाक्यैश्च शत्रुणा सह। यदि किं स्यात्? यद्यन्यस्तस्मात्परो यः शत्रोः शत्रुरुत्सहते उत्साहं करोति युद्धापकत्वं प्रविशति। केन? आत्मना सह, शत्रुणा सह सन्धिविग्रहवचनैर्वक्तव्यमिति। तथा च गर्गः—

यद्यसौ सन्धिमादातुं युद्धाय कुरुते क्षणं।
निश्चयेन तदा तेन सह सन्धिस्तथा रणम्॥ १॥

अथ द्वैधीभावं (गते) सीमाधिपे तच्छत्रौ युद्धपरे सीमाधिपस्य यद्भवति तदाह—

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः॥ ६३॥

टीका—यद्द्वाभ्यां विजिगीषुभ्यां मध्यस्थितः शत्रुर्भवति तदा सुखसाध्यः कष्टेन विना सिद्ध्यति। क इव? करीव गज इव। किंविशिष्टः? मध्यगतः। काभ्यां? सिंहाभ्यां। तथा च शुक्रः—

सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथा भवेत्।
तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत्॥ १॥

अथ भूम्यार्थिनः सीमाधिपस्य यदेवं भवति (तदाह—)

भूम्यर्थिनं भूफलप्रदानेन संदध्यात्॥ ६४॥

टीका—यदा भूम्यर्थी बलवान् सीमाधीपो भवति तदाह—तस्मै भूमिफलं यद्भवति यदुत्पद्यते तद्वित्तं देयं न भूमिर्देयेति नीतिः। तथा च गुरुः—

सीमाधिपो बलोपेतो यदा भूमिं प्रयाचते।
तदा तस्मै फलं देयं भूमेर्नैव धरां निजाम्॥ १॥

अथ भूमिफलेन दत्तेन यद्भवति तदाह—

भूफलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव॥ ६५॥

टीका—यद्भूफलदानं, तत्किंविशिष्टं ? अनित्यं विनश्वरं, पुत्रपौत्रकं परस्य न भवति। यत्पुनर्भूमिदानं तद्गतमेव भूयो न लभ्यते तस्मात्पितृ-पैतामहिका भूमिः परस्मै न दीयत इति । तथा च गुरुः—

भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्बलीयसः ।
स्तोकापि वा भयं चेत्स्यात्तस्माद्देयं च तत्फलम् ॥ १ ॥

अथ येन कारणेन परस्य न दीयते तदाह—

अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति बद्धतलः ॥ ६६ ॥

टीका—आरोपितः स्थापितस्तरुर्वृक्षो बद्धमूलो भवति जडाभिः प्रसरति किं पुनर्न महीपतिः पुत्रपौत्रैः प्रसरतीति । तथा च रैभ्यः—

लीलयापि क्षितौ वृक्षः स्थापितो वृद्धिमाप्नुयात् ।
तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ॥ १ ॥

अथाल्पदेशाधिपोऽपि राजा भवति यथा सार्वभौमस्तदाह—

उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ॥ ६७ ॥

टीका—यो राजोपायोपपन्नविक्रमो भवति उपायाः सामादयस्तैरुपपन्नो युक्तो विक्रमः पराक्रमो भवति । तथा योऽनुरक्तप्रकृतिर्भवति प्रकृतिशब्देन राज्यपालादिका समीपवर्तिनः सेवकाः कथ्यन्ते तेऽनुरक्ता भक्ता यस्य स राजा स्वल्पदेशोऽपि चक्रवर्ती प्रजायते ।

अथ राज्ञो भूमिर्यथा भवति तत्स्वरूपमाह—

न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ ६८ ॥

टीका—यस्य भूमिः कुलागता पितृपैतामहिका सा किं विक्रमरहितस्य भूपतेर्वशा भवति किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरेति लोकोक्तिरेषा, परकीयापि भूमिर्वीरव्रतस्यात्मीया भवति । तथा च शुक्रः—

कातराणां न वश्या स्वाद्यद्यपि स्यात्क्रमागता ।
परकीयापि चात्मीया विक्रमो यस्य भूपतेः ॥ १ ॥

अथ भूपालानां सामादीनां नामानि लिख्यन्ते—

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥ ६९ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ साम्नो लक्षणमाह—

तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपनिबन्धनमिति ॥ ७० ॥

टीका—प्रथमं गुणकीर्तनं तावत् परस्य गुणाः केवलाः कीर्त्यन्ते । द्वितीयं सम्बन्धोपाख्यानं येन प्रकारेण सम्बन्धः सन्धिर्भवति तं वदति । तृतीयं परोपकरणं । तथायतिप्रदर्शनं नित्यत्वदर्शनं चतुर्थं । तथात्मोपनिबन्धनं यत्रात्मोपनिबंधनं क्रियते तत्पंचमं साम । तथा च व्यासः—

साम्ना यत्सिद्धिदं कृत्यं ततो नो विकृतिं व्रजेत् ।
सज्जनानां यथा चित्तं दुरुक्तैरपि कीर्तितैः ॥ १ ॥

अथ परमनेन साम्नो माहात्म्यमाह—

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति तत्किं पटोलेन ॥ १ ॥

अथोपप्रदानस्वरूपमाह—

यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपनिधानं ॥ ७१ ॥

टीका—आत्मशब्देनोपप्रदानमुच्यते यदात्मनो निधानमात्मद्रव्यस्य विनिवेदनं क्रियते विजिगीषुणा शत्रोस्तदुपप्रदानं एवं वदता यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामिति यः शत्रोः प्रोच्यते तद्बोधोपप्रदानं ।

अथान्यदपि उपप्रदानमाह—

बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं ॥ ७२ ॥

टीका—यद्बलीयसा शत्रोर्बह्वर्थरक्षणाय स्वल्पार्थो दीयते परप्रसादनं तच्च प्रोक्तमुपप्रदानं । तथा च शुक्रः—

बह्वर्थः स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते ।
परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तच्च विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथ भेदस्य स्वरूपमाह—

योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥ ७३ ॥

टीका—परयोगः सैन्यस्य नायकः क्रियते, तीक्ष्णं विषं तद्यत्र संजायते, तथा गूढपुरुषा अलक्षितपुरुषा यत्र संजायंते । तथोभयवेतनैः पुरुषैः यत्र शत्रोश्चेष्टितं ज्ञात्वा परस्परमन्योन्यं बलस्य परस्य च शत्रोः शंकोत्पद्यते निर्भर्त्सनं क्रियते वा स भेदः । तथा च गुरुः—

सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेवकात्मकाः ।
तैश्च भेदः प्रकर्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपतेः ॥ १ ॥

अथ दण्डस्य स्वरूपमाह—

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥ ७४ ॥

टीका—यत्र शत्रोर्वधः क्रियते, परिक्लेशो वार्थहरणं वा क्रियते स दण्ड उच्यते । तथा च जैमिनिः—

वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽथवा रिपोः ।
अर्थस्य ग्रहणं भूरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अथ शत्रोः सकाशात् समागतस्य पुरुषस्य विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याणबुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥ ७५ ॥

टीका—शत्रोः सकाशात् साधु राष्ट्रं स्वागतं सुष्ठु आगतं कल्याणबुद्ध्या सूक्ष्मबुद्ध्या परीक्ष्य बुद्धिपरीक्षणं कृत्वा तस्य ततोऽनुगृह्णीयात्

तस्यानुग्रहणं कुर्यात् प्रसादं विदधीत नापरीक्षितस्य । तथा च भागुरिः—

शत्रोः सकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्टसम्मतं ।
परीक्षा तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ॥ १ ॥

अथ बाह्यसेवकागतकार्यद्वारेणारण्यौषधमाहात्म्यमाह—

किमरण्यजमौषधं न भवति क्षेमाय ॥ ७६ ॥

टीका—आरण्यं यद्भैषजं भवत्यौषधं तत्किं न भवति क्षेमायारोग्याय । एवं परेषां सकाशादागतोऽपि क्षेमाय भवति । तथा च शुक्रः—

परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितपरः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधं ॥ १ ॥

अथ शत्रुसम्बन्धिना लोकेन गृहप्रविष्टेन यद्भवति तदाह—

गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसम्बन्धी लोकस्तंत्रोद्वासयति ॥ ७७ ॥

टीका—उद्वासयति स्फेटयति । किं तत् ? गृहसम्पत् । कोऽसौ ? लोकः। किंविशिष्टः ? शत्रुसम्बन्धी शत्रुपक्षस्थः। किंविशिष्टः ? स्वल्पोऽपि लघुरपि। क इव ? कपोत इव यथा कपोतो लघुरपि गृहे प्रविष्टो गृहं नाशयति तथा शत्रुपक्षज इति । तथा च बादरायणः—

शत्रुपक्षभवो लोकः स्तोकोऽपि गृहमाविशेत् ।
यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ॥ १ ॥

अथोत्तमलाभस्य स्वरूपमाह—

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभः श्रेयान् ॥ ७८ ॥

टीका—श्रेयान् कल्याणप्रदो भवति। कोऽसौ ? लाभः प्राप्तिः । किंविशिष्टः ? उत्तरोत्तर उत्कृष्टादुत्कष्टतरः,केषां ? मित्रहिरण्यभूमिलाभानां मित्रलाभस्तावत्कल्याणप्रदो भवति तस्य सकाशात् हिरण्यलाभ उत्कृष्टस्त-

स्मादपि भूमिलाभ उत्कृष्टतरस्तस्माद्विजिगीषुणाभूमिलाभः (कार्यः) । तथा च गर्गः—

उत्तमो मित्रलाभस्तु हेमलाभस्ततो वरः ।
तस्माच्छ्रेष्ठतरं चैव भूमिलाभं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अथ यस्माद्धूलाभस्त्रयाणामेतेषां श्रेष्ठतरस्तदाह—

हिरण्यं भूमिलाभाद्भवति मित्रं च हिरण्यलाभादिति ॥७९॥

टीका—न तदस्मि धरापृष्ठे यद्धूलाभान्न लभ्यतेऽन्यलाभान् परित्यज्य तस्माद्धूलाभमाश्रयेत । भूमिर्वा मित्रं वा हिरण्यबाहुल्येन भवतो द्वे अपि तस्माद्भूभुजा हिरण्यसंग्रहः कार्यः । तथा च शुक्रः

न भूमिर्न च मित्राणि कोशनष्टस्य भूपतेः ।
द्वितीयं तद्भवेत्सद्यो यदि कोशो भवेद्गृहे ॥ १ ॥

अथ शत्रोर्मित्रत्वे वर्तमानस्य विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८०॥

टीका—विग्रहस्य पर्यालोच्य किं तत्कारणं किं वा शत्रोः ततो विमृश्य तथाचरेत् व्यवहरेत् यथा न वंचते वंचनां न प्राप्नोति । सहसा शत्रुणा सह मैत्र्यं न कुर्यात् । तथा च शुक्रः—

पर्यालोचं विना कुर्याद्यो मैत्रीं रिपुणा सह ।
स वंचनामवाप्नोति तस्य पार्श्वादसंशयः ॥ १ ॥

अथ यथा दुरपवादो भवति तदाह—

गूढोपायेन सिद्धिकार्यस्यासंवित्तिकरणं सर्वाशंकां दुरपवादं च करोति ॥ ८१ ॥

टीका—गूढोपायेन प्रच्छन्नोपायेन सिद्धिकार्यस्य विजिगीषोः पुष्टि-प्राप्तस्यासांवित्तिकरणमुपचारवर्जनं शत्रोस्तच्छंकां जनयति कस्मादेवं मनः कृत्वा साम्प्रतं मया सहान्यथा वर्तते नूनं मम शत्रुणा सहास्य मित्र-

त्वमस्ति । तथा नैकान्तं संभावयति तस्य दुरपवादो जननिन्दा भवति यतोऽनेन भूभुजा एष वृद्धिं नीतः तदस्य भक्तिं न करोति कृतघ्नः । तथा च गुरुः—

वृद्धिं गच्छेद्यतः पार्श्वात्तं प्रयत्नेन तोषयत् ।
अन्यथा जायते शंका रणगोपाद्धि गर्हणा ॥ १ ॥

अथोभयवेतनानां यत्कार्यं तदाह—

गृहीतपुत्रदानानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥ ८२ ॥

टीका—यान् राजा उभयवेतनान् करोति शत्रोः पार्श्वे प्रेषयति तेषां पुत्रदारसंग्रहं कुर्यात् ततस्ते प्रहेतव्या येन शत्रुचेष्टितं निवेदयन्ति । तथा च जैमिनिः—

गृहीतपुत्रदारांश्च कृत्वा चोभयवेतनान् ।
प्रेषयेद्वैरिणः स्थाने येन तच्चेष्टितं लभेत् ॥ १ ॥

अथ शत्रुविनाशं कृत्वा भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥ ८३ ॥

टीका—शत्रुं परमपकृत्य साधयित्वा पश्चाद्विजिगीषुणा किं कार्यं तद्दायादं गोत्रिणं तद्भूदानेन सफलयेत् युक्तान् कुर्यात् । कथं? आत्मनः यथा स्वकीयो भवति । तथा च नारदः—

साधयित्वा परं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः ।
दातव्यात्मवशो यः स्यान्नान्यस्य तु कथंचन ॥ १ ॥

अथ ....—

परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषप्रतिगृहे वा हेतुः ॥ ८४ ॥

टीका—परस्य शत्रोः विश्वासजनने को हेतुः किं कारणं येन स न चलति, सत्यं शपथस्तावत् तथा प्रतिभुवः प्रधानपुरुषप्रतिग्रहो वा । प्रतिग्रहशब्देन तस्याभीष्टजनग्रहणमुच्यते । तथा च गौतमः—

शपथैः कोशपानेन महापुरुषवाक्यतः ।
प्रतिभूरिष्टसंग्रहाद्रिपोर्विश्वसतां व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ भूभुजा यथा न यात्रा कर्तव्या तदाह—

सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात् ॥ ८५ ॥

टीका—राज्ञो यदि सहस्रैकीयः सहस्रप्रमाणः पुरस्तादायो लाभो भवति, शतैकीयः शतप्रमाणः पश्चात्कोपो भवति तत्र न यायात् न यात्रां कुर्यात् । तथा च भृगुः—

पुरस्ताद्भूरि लाभेऽपि पश्चात्कोपोऽल्पको यदि ।
तद्यात्रा नैव कर्तव्यास्तत्स्वल्पोऽप्यधिको भवेत् ? ॥ १ ॥

अथ स्वल्पेनापि पश्चात्कोपेन यथा न गम्यते तदाह—

सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दवरकः प्रविशति ॥ ८६ ॥

टीका—सूचीमुखशब्देन स्वल्पः पश्चात्कोपोऽभिधीयते । तस्मिन् स्थिते भवन्ति जायन्ते, के ते ? अनर्था आपदः प्रभूततराः । केन दृष्टान्तेन ? सूचीमुखदृष्टान्तेन सूचीशब्देन सीवनशस्त्रमुच्यते वस्त्राणां तया यदा वस्त्र मुखं कृतं भवति तदा तन्मार्गेण महानपि दवरकः सूत्रमयः प्रविशति । एवं स्वल्पोऽपि पश्चात्कोपः स पश्चाद्गतस्य परदेशं गतस्य लघुरपि गुरुतां याति तस्मात्स्वल्पेनापि पश्चात्कोपेन न गन्तव्यमिति । तथा च वादरायणः—

स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा ।
यतः स्वल्पोऽपि तद्यात्रः स वृद्धिं परमां व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ यथा विजिगीषुणात्मलाभश्चिन्तनीयस्तथाह—

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभमिच्छेद्येन सामिषक्रव्याद् इव न परैरवरुध्यते ॥ ८७ ॥

टीका—तं लाभमिच्छेत् तस्य लाभस्य वाञ्छा कार्या येन लाभेन न स्यान्न भवेत् । कोऽसौ ? पुण्यपुरुषापचयः पुण्यपुरुषाः प्रधानपुरुषास्तेषामपचयो विनाशो येन लाभेन न भवति । तथा क्षयो हिरण्यस्य, हिरण्यं कोशस्तस्य क्षयो न भवति । तथा धान्यापचयोऽन्नक्षयः । तथा व्ययो नाशः, कस्य ? आत्मनः शरीरस्य । तथा सामिषक्रव्याद् इव समांसविहंगम इव यथा परैः पक्षिभिर्मांसार्थिभिः तथान्यैः क्षितिपालैर्येन लाभेन गृहीतेन न रुध्यते तं लाभमिच्छेत् । तथा च शुक्रः—

स्वतंत्रस्य क्षयो न स्यात्तथाचैवात्मनोऽपरः ।
येन लाभेन नान्यैश्च रुध्यते तं विचिन्तयेत् ॥ १ ॥

शक्तोऽपि यः परापराधान् क्षमते तस्य यद्भवति तदाह—

शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥८८॥

टीका—यस्य राज्ञः शक्तस्य कृतापराधेषु क्षमा भवति स तस्य तिरस्कारः परिभवं जनयति तस्माद्राज्ञा कृतापराधेषु क्षमा न कार्या । तथा च वादरायणः—

शक्तिमानपि यः कुर्यादपराधिषु च क्षमां ।
स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि वैरिणां ॥ १ ॥

अथ यो राजापराधिषु निग्रहं करोति तस्य यद्भवति तदाह—

अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ॥ ८९ ॥

टीका—यो राजातिक्रन्यत्रर्तिष्वन्यायकारिषु निग्रहं करोति तस्माद्रा-ज्ञः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायो दृष्टः प्रत्यवायो येन स तथा सर्वोऽपि जनो बिभेति न कश्चिदपराधं करोतीत्यर्थः । तथा च भागुरिः—

अपराधिषु यः कुर्यान्निग्रहं दारुणं नृपः ।
तस्माद्बिभेति सर्वोऽपि सर्पसंस्पर्शनादिव ॥ १ ॥

अथ नीतिमता यत्कर्तव्यं तदाह—

अनायकां बहुनायकां वा सभां न प्रविशेत् ॥ ९० ॥

टीका—गतार्थमेतत्—

अथ गणपुरश्चारिणः पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किंचिद्भवत्यसिद्धे पुन-र्ध्रुवमपवादः ॥ ९१ ॥

टीका—गणो जनसमूहस्तस्य पुरश्चारी भवति अग्रेसरो भवति राज-कुलं सभां वा गच्छन्नहंकारं कृत्वाहमेव सर्वां कार्यसिद्धिं करिष्यामीति [अं] पश्चाद्गच्छति ब्रूते तदर्थं तस्य यदि तावत्सिद्धिर्भवति तदात्मनः किंचित्फलं न भवति, असिद्धौ पुनर्महानपवादो भवति, अनेन मूर्खेण विरूपं जल्पतैतत् सर्वं प्रयोजनं नाशं नीतमिति । तथा च नारदः—

बहूनामग्रगो भूत्वा यो ब्रूते न नतं परः ।
तस्य सिद्धौ नो लाभः स्यादसिद्धौ जनवाच्यता ॥ १ ॥

अथ राजसभाया दूषणमाह—

सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपायः ॥ ९२ ॥

टीका—सा गोष्ठी सभा न प्रस्तोतव्या न श्लाघनीया यत्र यस्यां परेषामागतानां कार्यार्थिनां पक्षपातेनापायो विनाशो भवति । तथा च जैमिनिः—

सभायां पक्षपातेन कार्यार्थी यत्र हन्यते ।
न सा सभा भवेच्छस्या शिष्टैस्त्याज्या सुदूरतः ॥ १ ॥

अथागतस्यार्थस्य यत्कर्तव्यं तदाह—

गृहागतमर्थं केनापि कारणेननावधीरयेद्यदैवार्थागमस्तदैव सर्वातिथिनक्षत्रग्रहबलं ॥ ९३ ॥

टीका—अर्थे समागते तिथिनक्षत्रग्रहबलं न चिन्तनीयं, अद्य-सामान्या तिथिः, नक्षत्रं न शोभनं, ग्रहबलं मम नास्ति, एतन्न चिन्त-नीयं । तत्क्षणादेव ग्राह्यं । कस्मात्? यदैवार्थागमो भवति तदैव सा तिथिः शोभना, तदैव शोभनं नक्षत्रं तथा सर्वेषां ग्रहाणां बलं भवतीति । तथा च गर्गः—

गृहागतस्य वित्तस्य दिनशुद्धिं न चिन्तयेत् ।
आगच्छति यदा वित्तं तदैव सुशुभं दिनं ॥ १ ॥

अथार्थोपार्जनं यथा भवति तथाह—

गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥ ९४ ॥

टीका—यथा गजेन गजबन्धः क्रियते नान्यथा तथार्थविनियोगेनार्थ-प्राप्तिर्भवति । तथा च जैमिनिः—

अर्था अर्थेषु बध्यन्ते गजैरिव महागजः ।
गजा गजैर्विना न स्युरर्था अर्थैर्विना तथा ॥ १ ॥

अथ दण्डपातस्य निर्णयमाह—

न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्यां महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविघातेन दण्डं प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्रमदण्ड्यं न प्रण-येत् ॥ ९५ ॥

टीका—न प्रणयेत् न दद्यात् । कं? दण्डं । कस्य? महतो जनस्यो-त्तमपुरुषसंघस्य । केन कृत्वा? संघातविघातेन मेलापकदूषणेन । कस्मिन् महतो जनस्य दण्डं न प्रणयेत्? संभूयोत्थाने एकचित्तमते परस्य नान्यज-ल्पाकं (?) । तर्हि किं कार्यं भूभुजा? शतमवध्यं यदि शतं पुरुषाणामेकवा-

क्येन जल्पति तद्वध्यं, अथ सहस्रं जल्पति तस्य दण्डो नास्तीति। तथा च शुक्रः—

बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डयेन्न महाजनं।
एकानुगामिकं राजा यद्वा तु शत्रुपूर्वकम्॥ १॥

अथ भूमिलक्षणमाह—

सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा॥ ९६॥

टीका—यस्यां भूमौ देशे न स्यात् न भवेत् असुरवृत्ती राक्षसवृत्ती राजा सा भूमी राजन्वतीत्यभिधीयते। तथा च गुरुः—

यस्यां राजा सुवृत्तः स्यात्सौम्यवृत्तः सदैव हि।
सा भूमिः शोभते नित्यं सदा वृद्धिं च गच्छति॥ १॥

अथासुरवृत्ते राज्ञः स्वरूपमाह—

परप्रणेयो राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः॥ ९७॥

टीका—यो राजा परप्रणेयो भवति अन्यमतेन वर्तते स्वयं न पर्यालोचं कृत्वा कृत्यानि करोति स परप्रणेयः तथापरीक्षितार्थमान-प्राणहरो दण्डयलोकांना अपरीक्षितार्थमानेन प्राणान् हरति। एतदुक्तं भवति, दण्डस्यार्थमानं प्राणमानं न जानाति शतवित्तस्य परवचनैः सहस्रं याचते ततो यं गच्छमानस्य प्राणान् हरति सोऽसुरवृत्तिः कथ्यते। तथा च भागुरिः—

परवाक्यैर्नृपो यत्र सद्वृत्तां सुप्रपीडयेत्।
प्रभूतेन तु दण्डेन सोऽसुरवृत्तिरुच्यते॥ १॥

अथ परप्रणेयस्य राज्ञो लक्षणमाह—

परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः॥ ९८॥

टीका—यो राजा परवचनेन कोपं करोति प्रसादं करोति स परप्र-णेयस्तस्माद्भूभुजा परप्रणेयेन न भवितव्यं। तथा च राजगुरुः—

परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुरुते चिरं।
पितृपैतामहं चेत्स्यात्किं पुनः परभूपजं॥ १॥

छन्दोनुवर्तनस्य स्वरूपमाह—

तत्स्वामिच्छन्दोनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ९९

टीका—भृत्येन स्वामिनस्तथाच्छन्दोनुवर्तनं कार्यं तथा प्रियं वाच्यं यथा तच्छ्रेयस्करं भवति। कस्यां ? आयत्यां परिणामे, अहिताय भवति तन्न वाच्यमिति। तथा च गर्गः—

मंत्रिभिस्तत्प्रियं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत्।
आयत्यां कष्टदं यच्च कार्यं तन्न कदाचन॥ १॥

अथ भूभुजा यथार्थो ग्राह्यः प्रजानां तत्स्वरूपमाह—

निरनुबन्धमर्थानुबंधं चार्थमनुगृह्णीयात्॥ १००॥

टीका—गृहीतव्यं। कं ? अर्थं। केन ? राज्ञा। काभ्यः ? प्रजाभ्यः सकाशात्। कथं ? निरनुबन्धं यथा भवति यथा जनस्यानुबन्धः पीडा न भवति। तथार्थानुबन्धोऽर्थक्षतिर्यथा न स्यात् तथा ग्राह्यं नृपैर्धनम्।

अथार्थागमस्य दूषणमाह—

नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबन्धः॥ १०१॥

टीका—सोऽर्थो धनाय धननिमित्तं स्थिरो न भवति तस्यार्थस्य गृहागतस्यायत्यां परिणामे महत्तरोऽर्थानुबन्धो भवति गृहस्थितमपि नाशं याति चौर्यादिभिः। कुत्सितकर्मप्रभृतिभिः योऽर्थो गृहमानीयते तदर्थं राज्ञा गृहस्थितमपरमपि वित्तं गृह्यते। तथा चात्रिः—

अन्यायोपार्जितं वित्तं यो गृहं समुपानयेत्।
गृह्यते भूभुजा तस्य गृहगेन समन्वितम्॥ १॥

अथार्थलाभस्य स्वरूपमाह—

लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च॥ १०२॥

टीका—एकस्तावदर्थलाभः पुरुषाणां नवः प्रत्यग्र उत्पद्यते, अन्यो भूतपूर्वः सदैव लभ्यते, तृतीयः पैत्र्यः पैतामहिकः। त्रयोऽप्येते प्रशस्ता लाभा ग्राह्या येऽन्ये ते न ग्राह्या नीतिज्ञैः । तथा च शुक्रः—

उपार्जितो नवोऽर्थः स्याद्भूतपूर्वस्तथापरः ।
पितृपैतामहोऽन्यस्तु त्रयो लाभाः शुभावहाः ॥ १ ॥

इति षाड्गुण्यसमुद्देशः । २९ ।

३० युद्ध-समुद्देशः ।

अथ युद्धसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव मंत्रिमित्राभ्यां दूषणमाह—

स किं मंत्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महान्तमनर्थसंशयं ॥१॥

टीका—यः शत्रावुपस्थिते, प्रथममेव मंत्रकाले स्वामिन उपदिशति उपदेशं ददाति । किंविशिष्टं ? युद्धात्मकं युद्धस्वरूपं, भूमित्यागाय देशान्तरगमनाय स मंत्री न भवति, तन्मित्रं न भवति, वैरिरूपिणौ द्वावपि तौ । तथा सम्भावयति महान्तमनर्थसंशयं । तथा च गर्गः—

> **उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं ददाति यः ।**
> **मंत्रिरूपेण वैरी स देशत्यागं च यो वदेत् ॥ १ ॥**

अथ मंत्रिणो दूषणमाह—

संग्रामे को नामात्मवानादावेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ॥ २ ॥

टीका—...........प्राणसन्देहतुलायां प्राणसन्देहाग्रे । क ? युद्धे संग्रामे । तस्मान्मंत्रिणा शत्रावुपस्थिते युद्धार्थं स्वामी संयोजयितव्यः । तथा च गौतमः—

> **उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत् ।**
> **उपायं दापयेद् व्यर्थे गते पश्चान्नियोजयेत् ॥ १ ॥**

अथ भूम्यर्थे पार्थिवेन यत्कार्यं तदाह—

भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥ ३ ॥

टीका—भूमिनिमित्तं नृपाणां राज्ञां, कौ युक्तौ ? नयो नीतिः पराक्रमश्च वीरवृत्तिपरौ द्वावपि कर्तव्यौ न देशत्यागः कार्यः । तथा च शुक्रः—

भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च।
देशत्यागो न कार्यस्तु प्राणत्यागोऽपि संस्थिते ॥ १ ॥

अथ शत्रोर्बलयुक्तेन यत्कर्तव्यं तदाह—

बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥ ४ ॥

टीका—प्रथमं तावद्बुद्धियुद्धं कर्तव्यं यदि बुद्धियुद्धेन न शक्तः शत्रुं जेतुं ततः शस्त्रयुद्धं कुर्यात्। तथा च गर्गः—

युद्धं बुद्ध्यात्मकं कुर्यात्प्रथमं शत्रुणा सह।
व्यर्थेऽस्मिन् समुत्पन्ने ततः शस्त्ररणं भवेत् ॥ १ ॥

अथ बुद्धियुद्धस्य माहात्म्यं भूयोप्याह—

न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥ ५ ॥

टीका—तथा तेन प्रकारेण न प्रभवन्ति समर्था भवन्ति। के? इषवो वाणा यथा बुद्धिमतां बुद्धयः प्रभवन्ति समर्था भवन्ति। तथा च गौतमः—

न तथात्र शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्यू रिपोर्वधे।
यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्तां सन्नियोजयेत् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि बुद्धिमाहात्म्यमाह—

दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥ ६ ॥

टीका—दृष्टेऽप्यर्थे लक्ष्येऽपराधा व्यर्था इषवो वाणाः। यस्य तस्य धनुष्मतो धानुष्कस्य दृष्टेऽप्यर्थे लक्ष्ये (वाणा व्यर्थाः सम्भवन्ति)। यः पुमान् प्रज्ञावान् पुरुषोऽदृष्टमपि पदार्थं साधु यथा भवत्येवं साधयति। तथा च शुक्रः—

धानुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च।
अदृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान् सम्प्रसाधयेत् ॥ १ ॥

अथ माधवमालतीसंविधानकमाह—

श्रूयते हि किल दूरस्थोपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास ॥ ७ ॥

टीका—एतत्संविधानकं मालतीमाधवनाटके ज्ञेयं।

अथ भूयोऽपि प्रज्ञामाहात्म्यमाह—

प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां ॥ ८ ॥

टीका—प्रज्ञा बुद्धिरेवामोघं सफलमायुधं। केषां? कुशलबुद्धीनां पण्डितानां। ये प्रज्ञाहता भवन्ति भूमिभृतस्ते भूयोऽपि शत्रुरूपा न भवन्ति।

तत्रार्थे दृष्टान्ते दृष्टान्तमाह—

प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥ ९ ॥

टीका—प्रज्ञा एव कुलिशं तेन हता भूभृतः पर्वता इव राजानोऽपि न प्रभवन्तीति। तथा च गुरुः—

प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरूपिणी।
तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥ १ ॥

अथादृष्टेऽपि शत्रौ यो भयं करोति स किं करोति तस्य स्वरूपमाह—

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥ १० ॥

टीका—परैः शत्रुभिः सह स्वस्यात्मनोऽभियोगं समागममपश्यन्नवलोकयन् यो राजा भयं करोति स उपानत्त्यागं करोति। किं कुर्वन्? अपश्यन्ननवलोकयन्। कां? नदीं, हास्यतां यातीत्यर्थः। यथा नद्या अदर्शनेनोपानत्परिमोचनं तद्वच्छत्रावदृष्टेऽपि भयं प्रतिभाति। तथा च शुक्रः—

यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनं।
तथा शत्रावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भूभुजां ॥ १ ॥

अथातितीक्ष्णस्य यद्भवति तदाह—

अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ॥ ११ ॥

टीका—यो राजातितीक्ष्णो भवति शत्रुमुन्नतं दृष्ट्वाऽनल्पबलोऽपि कोपाद्युद्ध्यति स शरभ इव न चिरं नन्दति न चिरकालं राज्यं करोति शरभवत् । यथा शरभोष्टापदो मेघमुन्नतं शब्दं कुर्वाणं श्रुत्वाऽसहमानः पर्वताग्रात् हस्तिनं मत्वा गर्जनं कुर्वाणो भूमौ पतन् शतधा व्रजति तथा राजाप्यतितीक्ष्णतया विनश्यति । तथा च वादरायणः—

अतितीक्ष्णतया शत्रुं बलाढ्यो दुर्बलो व्रजेत् ।
स द्रुतं नश्यते यद्वच्छरभो मेघनिःस्वनैः ॥ १ ॥

अथ राज्ञो युद्ध्मानस्य स्वरूपमाह—

प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो नैकान्तिको विनाशः ॥ १२ ॥

टीका—संग्रामे राज्ञः प्रहरतो युद्ध्यमानस्यापसरतो व्याघुट्यमानस्य वा समे विनाशे यत्र केवलो विनाशः............................... ।

अथ दैवस्य माहात्म्यमाह—

कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषुं मारयति ॥ १३ ॥

टीका—दैवशब्देन प्राक्तनं कर्मोच्यते तस्य कुटिला वक्रा गतिर्यतो मुमूर्षुमपि मर्तुकाममपि प्राणिनं जीवयति दीर्घायुषं करोति । तथा जिजी-विषुमपि जीवितुकाममपि मारयतीति । तथा च कौशिकः—

मर्तुकामोऽपि चेन्मर्त्यः कर्मणा क्रियते हि सः ।
दीर्घायुर्जीवितेच्छाढ्यो म्रियते तद्वशोऽपि सः ॥ १ ॥

अथ भूभुजा बलवति शत्रौ समायाते यत्कर्तव्यं तदाह—

दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् १४

टीका—अपसरेत् व्याघुटेत् न युद्धं कुर्यात् अविचारं विचाररहितं । कस्मिन् ? विनाशे सति । किंविशिष्टे विनाशे ? ऐकान्तिके सुनिश्चिते ।

कथं ? पतंगवत् । कस्यां ? दीपशिखायां । यथा दीपशिखायां पतितः पतङ्गो निश्चितं विनाशमवाप्नोति तथा बलवति शत्रौ दुर्बलोऽपि तस्मादपसरणं कार्यं । तथा च गौतमः—

बलवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः ।
स नूनं नाशमभ्येति पतंगो दीपमाश्रितः ॥ १ ॥

अथ दैवस्य लक्षणमाह—

जीवितसम्भवे दैवो देयात्कालबलम् ॥ १५ ॥

टीका—यदा पुरुषे जीवितसम्भवो भवति दीर्घायुर्भवति तदा दैवं प्राक्तनं कर्म तस्य कालबलं तस्मिन् काले तद्ददाति येन दुर्बलोऽपि बलवन्तं व्यापादयतीति । तथा च शुक्रः—

पुरुषस्य यदायुः स्याद्दुर्बलोऽपि तदा परं ।
हिनस्ति चेद्बलोपेतं निजकर्म प्रभावतः ॥ १ ॥

अथ बलस्य सारेतरतामाह—

वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥ १६ ॥

टीका—वरं प्रधानं । स्वल्पं स्तोकमपि । सारं उत्तमं । बलं सैन्यं । न भूयसी प्रभूतापि । मुण्डमण्डली असारसंघातः । तथा च नारदः—

वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नास्वल्पापि च कातरा ।
भूपतीनां च सर्वेषां युद्धकाले पताकिनी ॥ १ ॥

अथासारबलस्य स्वरूपमाह—

असारबलभंगः सारबलभंगं करोति ॥ १७ ॥

टीका—यदसारबलं तत्परचक्रे दृष्टमात्रे भज्यते तस्य भंगो सारबलमपि भज्यते तस्मादसारबलं न कर्तव्यं । तथा च कौशिकः—

कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपतेः ।
स हि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ भूभुजा संग्रामे यथा गन्तव्यं तथाह—

नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् । ॥ १८ ॥

टीका—नोपेयात् न गच्छेत् । कं? युद्धं संग्रामं। कोऽसौ? राजा । किंविशिष्टः? अप्रतिग्रह एकाकी । एकाकिना भूपतिना संग्रामे न गन्तव्यं । तथा च गुरुः—

एकाकी यो व्रजेद्राजा संग्रामे सैन्यवर्जितः ।
स नूनं मृत्युमाप्नोति यद्यपि स्याद्धनंजयः ॥ १ ॥

अथ संग्रामकाले पार्थिवप्रतिग्रहकरणस्वरूपमाह—

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥ १९ ॥

टीका—राजव्यञ्जनं राजचिन्हं स्वामिनं पुरस्कृत्यः पुरतः कृत्वा अग्रे कृत्वा पश्चात्तस्य सारबलं प्रधानसैन्यं ध्रियते यत्स प्रतिग्रहः स्यात् । एतदुक्तं भवति, भूपतेः पश्चात् युद्धकाले उत्तमबलनिवेशनं क्रियते स पतिग्रहः । तथा च नारदः—

स्वामिनं पुरतः कृत्वा तत्पश्चादुत्तमं बलं ।
ध्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसंज्ञितः ॥ १ ॥

अथ सप्रतिग्रहबलस्य युद्धकाले यद्भवति तदाह—

सप्रतिग्रहं बलं साधु युद्धायोत्सहते ॥ २० ॥

टीका—उत्सहते उत्साहं करोति । किं तत्? बलं सैन्यं । किमर्थं? युद्धाय संग्रामाय । किंविशिष्टं बलं? सप्रतिग्रहं सह प्रतिग्रहेण वर्तते इति सप्रतिग्रहं राज्ञ उपस्थितेनेत्यर्थः । तथा च शुक्रः—

राजा पुरःस्थितो यत्र तत्पश्चात्संस्थितं बलं ।
उत्साहं कुरुते युद्धे ततः स्याद्विजये पदं ॥ १ ॥

अथ युद्धकाले यादृशी भूमिः पार्थिवेन समाश्रयणीया तस्या लक्षणमाह—

पृष्टतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥ २१ ॥

टीका—युद्धकाले यस्य सैन्यस्य पृष्ठिप्रदेशे सदुर्गजला भूमिः, दुर्गेण जलेन सह भूमिर्भवति सा तस्य बलस्य महान् आश्रयः स्थानं भवति। एतदुक्तं भवति पराजयेऽपि प्राप्ते दुर्गप्रवेशः स्यात् जलप्राप्तिश्च। तथा च गुरुः—

जलदुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्ठतः।
पृष्ठदेशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणं॥ १॥

अथ जलदुर्गवत्या भूमेः पृष्ठतायाः कारणमाह—

नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः॥२२॥

टीका—............................। एतदुक्तं भवति, सदुर्गजला नदी जीवितस्य सेनाया महाश्वासं करोति। तथा च जैमिनिः—

नीयमानेऽत्र यो नद्या तटस्थं वीक्ष्यते नरं।
हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः॥ १॥

अथ जलस्य माहात्म्यमाह—

निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत॥ २३॥

टीका—यदि अन्नं न प्राप्यते सप्राणमेव बलं सावष्टंभमेव यदि तावज्जलं लभेत। एतस्मात्कारणात् युद्धकाले जलं पृष्टिदेशे नीयते। यदि कथमपि पराजयो भवति तत्पृष्ठस्थं जलं प्राणानां रक्षाय भवति अन्नबाह्यमपि। तथा च भारद्वाजः—

अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं विना।
तस्माद्युद्धं प्रकर्तव्यं जलं कृत्वा च पृष्ठतः॥ १॥

अथात्मशक्तिमजानतः परैः सह युद्ध्यतो यद्भवति तदाह—

आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव॥२४॥

टीका—आत्मशक्तिमविज्ञायाज्ञात्वाऽजानन् यः परेण युद्धं करोति तस्यैतद्युद्धं कीदृशं? शिरसा मस्तकेन पर्वतभेदनमिव पर्वतस्फोटनमिव। तथा च कौशिकः—

आत्मशक्तिमजानानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा ।
सार्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनं ॥ १ ॥

अथ राज्ञा यथा कार्यं तदाह—

सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥ २५ ॥

टीका—यत्कार्यं प्रयोजनं साम्ना सिद्ध्यति तद्युद्धेन न सिद्ध्यति । तथा च वल्लभदेवः—

साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किं तत्पटोलेन ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि साममाहात्म्यमाह—

गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥ २६ ॥

टीका—गुडेन भक्षितेन यद्यभिप्रेतसिद्धिर्वाञ्छितसिद्धिर्भवति शरीरस्य तत्को नामाहो विषमुपभुञ्जीत विषं भक्षयेत् । तथा च हारीतः—

गुडास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते ।
आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषं ॥ १ ॥

अथ मूर्खस्य स्वरूपमाह—

अल्पव्ययभयात्सर्वनाशं करोति मूर्खः ॥ २७ ॥

टीका—यो मर्त्यो मूर्खो भवति स स्वल्पव्ययभयात् सर्वनाशं करोति । एतदुक्तं भवति, यो बलवता स्नेहेन याचितः स्वल्पं न प्रयच्छति स सर्वस्वं तस्मै ददाति यतो बलात्कारेण भूभुजा गृह्यते । तथा च वल्लभदेवः—

हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय
याचितो नैव ददाति साम्ना ।
कदर्थ्यमानेन ददाति वारि
तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ १ ॥

अथ मन्दमतेः स्वरूपमाह—

को नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्डं परित्यजति ॥ २८ ॥

टीका—नाम अहो कः पुरुषः कृतधीः बुद्धिमान् शुल्कभयाद्दान-भीतेः भाण्डं वर्षरं (सर्वं) परित्यजति। यो नष्टबुद्धिर्भवति तस्य (स) एवं करोति नो विज्ञः। तथा च कौशिकः—

यस्य बुद्धिर्भवेत्काचित् स्वल्पापि हृदये स्थिता।
न भाण्डं त्यजेत् सारं स्वल्पदानकृतात्भयात् ॥ १ ॥

अथ व्ययस्य स्वरूपमाह—

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥ २९ ॥

टीका—स किं व्ययः कथ्यते येन कृतेन महान् प्रभूतोऽर्थो रक्ष्यते उपकारद्वारेण यो बलवतां क्रियते। शेषार्थस्य रक्षार्थमिति। तथा च शैनकः—

उपचारपरित्राणाद्दत्वा वित्तं सुबुद्धयः।
बलिनो रक्षयान्तिस्म यच्छेषं गृहसंस्थितम् ॥ १ ॥

अथ सम्पूर्णविभवस्य यद्भवति तदाह—

पूर्णसरः सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणो-पायः ॥ ३० ॥

टीका—यथा पूर्णसरो जलस्य परीवाहात् प्रणालादपरोऽस्ति न रक्ष-णोपायः तथा सम्पूर्णविभवस्य गृहस्थस्य त्यागादपरो नास्ति वित्तरक्षणो-पायः। तथा च विष्णुशर्मा—

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणं।
तडागोदरसंस्थानं परीवाह इवाम्भसां ॥ १ ॥

अथ बलवता साम्ना प्रार्थितो यो न ददाति तस्य यद्भवति तदाह—

अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥ ३१ ॥

टीका—यो बलवता प्रार्थितः साम्ना न प्रयच्छति किंचित्पदार्थं तत्तस्य प्राणैः सहार्थं गृह्णाति। तथा च भागुरिः—

बलाढ्यः प्रार्थितः साम्ना यो न यच्छति दुर्बलः ।
किंचिद्वस्तु समं प्राणैस्तत्तस्यासौ हरेद्ध्रुवम् ॥ १ ॥

अथ बलवता यैरुपायैः प्रदातव्यं तानाह—

बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेत् ॥ ३२ ॥

टीका—सीमाधिपस्य बलवतो दुर्बलेन मिषान्तरेण विवाहोत्सवव्याजेन गृहगमनकारणेन उपचारः कर्तव्यो येन न तं सर्वं परिहरति। तथा च शुक्रः—

वृद्ध्युत्सवगृहातिथ्यव्याजैर्देयं बलाधिके ।
सीमाधिपे सदैवात्र रक्षार्थं स्वधनस्य च ॥ १ ॥

अथ बलवति सीमाधिपेऽत्यागेऽस्य यद्भवति तदाह—

आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम् ॥३३॥

टीका—किंचिन्मिषान्तरं कृत्वा बलवति सीमाधिपे यो नोपचारं करोति दुर्बलस्तस्यानुभवेत् । कोऽसौ ? निबन्धः । किंविशिष्टो निबन्ध ? अनवधिः न विद्यतेऽवधिः परिमाणं यस्य तस्माद्बलवत उपचारः कर्तव्यः । तथा च गुरुः—

सीमाधिपे बलाढ्ये तु यो न यच्छति किंचन ।
व्याजं कृत्वा स तस्याथ संख्याहीनं समाचरेत् ॥ १ ॥

कृतसंघातविघातोऽरिभिर्भूयः परदेशादागतो यादृग्भवति तत्स्वरूपमाह—

कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥ ३४ ॥

टीका—यो राजा कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विहितसैन्यविनाशः शत्रुभिः कस्य साध्यो वशो न भवति, अपि तु नीचानामपि साध्यो

भवति, वनगज इवारण्यहस्तीव । किंविशिष्टो वनगजः ? विशीर्णयूथो भ्रष्टयूथ एकाकीत्यर्थः । तथा च नारदः—

उच्चाटितोऽरिभी राजा परदेशसमागतः ।
वनहस्तीव साध्यः स्यात्परिग्रहः विवर्जितः ॥ १ ॥

अथ जलव्यालदर्शनेन विनाशपरिग्रहभूतस्य यद्भवति तदाह—

विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्याल-वत् ॥ ३५ ॥

टीका—यथा विनिःस्रावितजले निःसारितोदके सरसि ह्रदे पुष्टोऽपि ग्राहो जलचरविशेषो जलव्यालसदृशो जलसर्पतुल्यो निर्विषो भवति तथा राजापि शून्यराष्ट्रकृतो गतदर्पो भवति । तथा च रैभ्यः—

सरसः सलिले नष्टे यथा ग्राहस्तुलां व्रजेत् ।
जलसर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनो नृपो भवेत् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि सिंहदृष्टान्तद्वारेण स्थानभ्रष्टस्य नृपस्य स्वरूपमाह—

वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते ॥ ३६ ॥

टीका—यदा वनान्निर्गच्छति सिंहस्तदा शृगालायते शृगालसमो नष्टवीर्यो भवति तदा राजा यदा स्थानभृष्टो भवति तदा नष्टवीर्यः स्यात् । तथा च शुक्रः—

शृगालतां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः ।
स्थानभ्रष्टो नृपोऽप्येवं लघुतामेति सर्वतः ॥ १ ॥

अथ संघातस्य माहात्म्यमाह—

नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्खलयति मत्तमपि वारणं कुथिततृणसंघातः ॥ ३७ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते। काऽसौ ? निःसारता दुर्बलत्वं । कस्य ? संघातस्य । केन दृष्टान्तेन ? यतः किन्न स्खलयति किन्न गतिभंगान्वितं

करोति। कं,? मत्तवारणं मदोन्मत्तहस्तिनं। कः? तृणसंघातस्तृणसमूहः। तथा च विष्णुशर्मा—

बहूनामप्यसाराणां समवायो बलाधिकः।
तृणैरावेष्टितो रज्जुर्यथा नागोऽपि बध्यते ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि संघातमाहात्म्यमाह—

संहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ॥ ३८ ॥

टीका—नियम्यते वशीक्रियते। कोऽसौ? दिग्गजोऽपि दिङ्नागोऽपि। कैः? बिसतन्तुभिर्मृणालसूत्रैः सूक्ष्मतैररपि। एवं राजापि बहुपरिवारकापुरुषैर्बहुभिर्युक्तोऽपि बलाढयैर्न वशीक्रियतेऽरिभिः। तथा च हारीतः—

अपि सूक्ष्मतरैर्भृत्यैर्बहुभिर्वश्यमानयेत्।
अपि वीर्योत्कटं शत्रुं पद्मसूत्रैर्यथा गजम् ॥ १ ॥

अथ दण्डसाध्यस्य रिपोर्यः सामादीनुपायान् करोति तस्य यद्भवति तदाह—

दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥ ३९ ॥

टीका—यो राजा दण्डसाध्ये युद्धसाध्ये शत्रौ उपायान्तरं करोति। तत्तस्योपायान्तरं किंविशिष्टं? अग्नौ घृताहुतिप्रदानमिव। यथा वैश्वानरो घृताहुत्या ज्वालां मुंचति तथा शत्रुरपि क्रोधमुद्गिरति। तथा च माघः—

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युतदीपकाः।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ १ ॥

अथौषधव्याजेन यथा शत्रोरुपायान्तरं न क्रियते तदाह—

यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात् ॥ ४० ॥

टीका—यदाऽसाध्यो व्याधिर्भवति तत्र वैद्यस्य (यंत्र) शस्त्रविशेषं, । शस्त्रमायुधं ।................................।

..................सामर्थ्यं सर्पद्वारेणाह—

उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव ॥ ४१ ॥

टीका—यथा उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो सर्पो रज्जुरिव भवति तथा शत्रुरपि हृतार्थो गतपरिवारो भवति । तथा च नारदः—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः ।
तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः ॥ १ ॥

अथ भूयोऽप्यङ्गारव्याजेन गतश्रीकस्य शत्रोः स्वरूपमाह—

प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥ ४२ ॥

टीका—यथाङ्गारः प्रतिहतप्रतापो भस्मविशेषो भवति तदा शरीरोपरिपतितः किं करोति, एवं शत्रुरपि गतश्रीकोऽङ्गारसदृशो भवति ।

अथ शत्रोर्मधुरवचनस्य यत्कर्तव्यं तदाह—

विद्विषां चाटुकारं न बहु मन्येत ॥ ४३ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ शत्रोः खड्गव्याजेन मधुरवचनस्य स्वरूपमाह—

जिव्हया लिहन् खड्गो मारयत्येव ॥ ४४ ॥

टीका—खड्गो निस्त्रिंशो जिव्हया धार्यमाणः कोमलयापि मारयत्येव तथा शत्रुरपि मधुरवचनानि वदन् मारयत्येव ।

अथ नीतिशास्त्रस्य लक्षणमाह—

तंत्रापायौ नीतिशास्त्रम् ॥ ४५ ॥

टीका—मण्डलपालनाभियोगस्तंत्रं अवापश्च नीतिरुच्यते ।

तत्र तंत्रलक्षणमाह—

स्वमण्डलपालनाभियोगस्तंत्रम् ॥ ४६ ॥

टीका—यत्स्वमण्डलपरिपालनं क्रियते तत्तंत्रं यतः स्नेहेन हस्त्यश्वादिकं तंत्रं भवति । तथा—

परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥ ४७ ॥

टीका—कथ्यते । आभ्यां संयोगेन नीतिशास्त्रं कथ्यते । तथा च शुक्रः—

स्वमण्डलस्य रक्षाय यत्तंत्रं परिकीर्तितं ।
परदेशस्य संप्राप्त्या अवापो नयलक्षणम् ॥ १ ॥

अथ विजिगीषोः स्वरूपमाह—

बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥ ४८ ॥

टीका—न गृह्णीयात् न योधयेत् । कोसौ ? एकः । कान् ? बहून् । केन दृष्टान्तेन ? यतः सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यते एव पिपीलिकाभिः । तथा च नारदः—

एकाकिना न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः ।
वीर्याढ्यैर्नोपि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ॥ १ ॥

अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ४९ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ विग्रहकाले भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

विग्रहकाले परस्मादागतं न किंचिदपि गृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना सह कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्षं विरूपाक्षं जघानेति ॥ ५० ॥

टीका—एतद्वृत्तातं द्वाभ्यामपि बृहत्कथायां ज्ञातव्यं ।

अथ भूभुजा भूयोऽपि यतत्कर्तव्यं तदाह—

बलमपीडयन्परानभिषेणयेत् ॥ ५१ ॥

टीका—आत्मीयं बलमपीडयन् सुखाढयं कुर्वन् परान् शत्रून् अभिषेणयेत् सेनया (सह) तद्देशे विग्रहं कर्तुं यायात् ।

अथ भूभुजा शत्रूणामुपरि गच्छता यच्च कर्तव्यं तदाह—

दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात्स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यं ॥ ५२ ॥

टीका—भूभुजा परराष्ट्रप्रविष्टेन दीर्घप्रयाणकं न दातव्यं। यतो दीर्घ-प्रयाणोपहतं बलमनायासेन सुखेन साध्यं भवति। केषां? परेषां शत्रूणां।

अथ भूपतेराकृष्टिमंत्र उत्कृष्टसभाया भवति तदाह—

न दायादादपरः परबलस्याकर्षणमंत्रोऽस्ति ॥ ५३ ॥

टीका—दायादाद्गोत्रिणः सकाशात् अपरो द्वितीयः कश्चित् परबल-स्याकर्षणमंत्रो नास्ति [नास्ति] न विद्यते। कोऽसौ? मंत्रोऽभिचारलक्षणः। कस्मिन् विषये? परबलस्याकर्षणे शत्रुसैन्यनिषूदने। तथा च शुक्रः—

न दायदात्परो वैरी विद्यतेऽत्र कथंचन।
अभिचारकमंत्रश्च शत्रुसैन्ये निषूदने ॥ १ ॥

यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥ ५४ ॥

कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥

विल्वेन हि विल्वं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥५६॥

टीका—सर्वं गतार्थम्।

अथात्यन्तापराधे कृते यत्कर्तव्यं तदाह—

यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥५७॥

टीका—यावन्मात्रं परेण शत्रुणापराद्धं तावन्मात्रं तस्याधिकमपकृत्य विरुद्धं कृत्वा ततः स्नेहेन सन्धानं कुर्यात्। तथा च गौतमः—

यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रुणा हि कृतो भवेत्।
तावत्तस्याधिकं कृत्वा सन्धिः कार्यो बलान्वितैः ॥ १ ॥

अथ द्वाभ्यामपि यथा भवति तदाह—

नातप्तं लोहं लोहेन सन्धत्ते ॥ ५८ ॥

१ तथा च शुक्र इति श्लोकश्चेति द्विर्लिखितः पुस्तके।

टीका—तप्तलोहं यद्भवति तत्तप्तेन लोहेन सह सन्धिं गच्छति तथा द्वाभ्यामपि भूपाभ्यां कुपिताभ्यां संधानं भवति। तथा च शुक्रः—

द्वाभ्यामपि हि तप्ताभ्यां लोहाभ्यां च यथा भवेत् ।
भूमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परं ॥ १ ॥

अथापराद्धस्य शत्रोर्यत्कर्तव्यं तदाह—

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥ ५९ ॥

टीका—सापराधस्य शत्रोरुपरि क्षान्तिर्न कर्तव्या, उपेक्षा वा न कर्तव्या । गतार्थमेतत् ।

अथ यादृशो राजा यादृशेन विग्रहं करोति तमाह—

उपचीयमानो घटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥ ६० ॥

टीका—विग्रहं कुर्यात्। कोऽसौ ? विजिगीषुः। किंविशिष्टः ? उपचीयमानः शक्तियुक्तः । तेनापि सह युद्धं कुर्यात् घटेनापि कुम्भेनापि, कोऽसौ ? अश्मा पाषाणः लघुरपि किल गुरुर्भवति । अश्मना पाषाणेन लघुनापि शक्तेः सकाशाद्भिद्यते । तथा राजाप्युपचीयमानः सन् गुरुमपि शत्रुं व्यापादनसमर्थः । तथा च जैमिनिः—

यदि स्याच्छक्तिसंयुक्तो लघुः शत्रोश्च भूपतिः ।
तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्याद‌तिपुष्कलम् ॥ १ ॥

अथ विजिगीषोर्लक्षणमाह—

दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोऽपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ॥ ६१ ॥

टीका—यद्येतानि लक्षणानि विजिगीषोर्भवन्ति तदास्य सोऽभ्युदयः। प्रथमं तावद्दैवानुलोम्यं दैवं प्राक्तनं कर्म तस्यानुलोम्यं प्राञ्जलता । तथा पुण्यपुरुषोपचय उत्तमपुरुषप्राप्तिः । तथाप्रतिपक्षताऽविवादो वादिनं । तथा च गुरुः—

यदि स्यात्माञलं कर्म प्राप्तिर्योग्यनृणां तथा।
तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ॥ १ ॥

अथ येन सह सन्धिः कार्यस्तमाह—

पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥ ६२ ॥

टीका—यदा पराक्रमकर्कशः शौर्यनिष्ठुरः शत्रुर्भवति। तथा प्रवीरानिकश्च यदा भवति। एवमुपचरितव्य उपचारेण संयुक्तः कार्यः। तथा च शुक्रः—

यदा स्याद्वीर्यवान् शत्रुः श्रेष्ठसैन्यसमन्वितः।
आत्मानं बलहीनं च तदा तस्योपचर्यते ॥ १ ॥

अथ यादृशं तेजः पराक्रमाढ्यं भवति तदाह—

दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥ ६३ ॥

टीका—...।

तथा च—

दुःखामर्षोद्भवं तेजो यत्पुंसां सम्प्रजायते।
तच्छत्रुं समरे हत्वा ततश्चैव निवर्तते ॥ १ ॥

अथावार्यो वीर्यवेगो यथा भवति तथाह—

स्वजीविते हि रोगस्यावार्यो भवति वीर्यवेगः ॥ ६४ ॥

टीका—यस्य पुरुषस्य जीविते रोगो भवति प्रभूतकाले जीवितव्ये वाञ्छा भवति तस्यावार्यस्य असंयतावार्य (?) वीर्यवेगो भवति न चिरं जीवितुं वाञ्छमानस्य। तथा च नारदः—

---

१ दुःखजनितादामर्षात् जातं तेजः विक्रमं कारयति अतः प्रवीरानिकः शत्रुः कदाचिद्धीनः स्यान्न तेन सह निर्बन्धेन युद्धं कार्यं अपि तु सन्धिरेव कर्तव्या इत्यर्थः। व्याख्यास्य छिन्ना "दुःखामर्षजं तेजो" इयन्मात्र एव पाठः पुस्तकेऽवशिष्टं तु मुद्रितपुस्तकात्संयोजितं टिप्पणं च।

न तेषां जायते वीर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छकः ।
न मृत्योर्ये भयं चक्रुस्तेऽप्यला ? स्युर्जयान्विताः ॥ १ ॥

अथाल्पस्य बलवता सह युद्धमानस्य यथा जयो भवति पुरुषस्य तथाह—

लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥ ६५ ॥

टीका—सिंहशावो मृगराजाशिशुर्गुरुमपि दन्तिनं विनाशयत्येव । तथा च जैमिनिः—

यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे ।
एवं राजापि वीर्याढ्यो महारिं हन्ति चेल्लघुः ॥ १ ॥

अथ शत्रौ भग्ने विजिगीषुणा यत्कर्तव्यं तदाह—

नातिभग्नं पीडयेत् ॥ ६६ ॥

टीका—शत्रुर्भग्नो यदा भवति तदा तत्पृष्टेन न व्रजेत् यतः स वध्यमानः पराक्रमं करोति । तथा च विदुरः—

भग्नः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणा ।
कदाचिच्छूरतां याति मरणे कृतनिश्चयः ॥ १ ॥

अथ बलवतः प्रियोपचारः कृतो यथा स्यात्तथाह—

शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥ ६७ ॥

टीका—शौर्यशालिनो यो प्रियोपचारोऽभीष्टपूजा सत्कारः । स किं विशिष्ट इव ? पूजेव सत्कार इव । कस्य ? मनसि तच्छगलस्य उपयाचित-कृतस्य मनासि तमुपयाचितमार्तस्याभीष्टदेवतायाः (?)। तथा च भागुरिः—

उपायाच्चितदानेन च्छागेनापि प्ररुष्यति ।
चंडिका बलवान् भूपः स्वल्पयापि तथेज्यया ॥ १ ॥

आत्मसमेन सह युद्धे यद्भवति तदाह—

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः, आमं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥ ६८ ॥

टीका—समस्य तुल्यबलस्य समेन तुल्यबलेन विग्रहे मरणं तावन्निश्चितं विजये च संशयः। हि यतः कारणात् आममपक्कं पात्रं त्वामेन हन्यमानं उभयतः पक्षद्वयेऽपि क्षयं करोति। तथा च भागुरिः—

समेनापि न योद्धव्यमित्युवाच बृहस्पतिः।
अन्योन्याहतिना भंगो घटाभ्यां जायते यतः॥ १॥

अथ हीनबलस्य बलवता सह युद्धेन यद्भवति तदाह—

ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव ॥ ६९ ॥

टीका—ज्यायसा महाबलेन सह यो विग्रहः स किंविशिष्टः? पदातियुद्धमिव। केन? हस्तिना। यथा पदातीनां युद्धं हस्तिना सह नाशाय भवति तथा बलवता सह दुर्बलस्य। तथा च भारद्वाजः—

हस्तिना सह संग्रामः पदातीनां क्षयावहः।
तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षयावहः॥ १॥

अथ धर्मविजयिनो राज्ञः स्वरूपमाह—

स धर्मविजयी राजा यो विधेयमात्रेणैव सन्तुष्टः प्रणार्थाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७० ॥

टीका—यो राजा विधेयमात्रेण सन्तुष्टः सन् न व्यभिचरति नान्यायकारी भवति। केषु? प्राणार्थाभिमानेषु प्राणेष्वर्थेष्वभिमानेषु लोकानां स धर्मविजयी कीर्त्यते। तथा च शुक्रः—

प्राणवित्ताभिमानेषु यो राजा द्रुहेत्प्रजाः।
स धर्मविजयी लोके यथा लोभेन कोशभाक् ॥ १॥

अथ लोभविजयिनो राज्ञः स्वरूपमाह—

स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७१ ॥

टीका—यो राजा द्रव्येण कृतप्रीतिर्भवति प्राणार्थे मानार्थे प्रजानां न व्यभिचरति स लोभविजयी भण्यते। तथा च शुक्रः—

प्राणेषु चाभिमानेषु यो जनेषु प्रवर्तते।
स लोभविजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैव तुष्यति ॥ १ ॥

अथासुरविजयिनो राज्ञः स्वरूपमाह—

सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति॥७२॥

टीका—स राजा असुरविजयी कीर्त्यते। यः किंविशिष्टः? अभिलषति। कां? महीं। केन? प्राणार्थमानोपघातेन। केषां? लोकानां। तथा च शुक्रः—

अर्थमानोपघातेन यो महीं वाञ्छते नृपः।
देवारिविजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्षणैः ॥ १ ॥

अथासुरविजयिनः संश्रयो यादृक् भवति तदाह—

असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥ ७३ ॥

टीका—सूनोऽन्त्यजस्तस्यागारं गृहं तस्मिन् मृगप्रवेश इव। यथाऽन्त्यजगृहे प्रविष्टस्य मृगस्य मरणं भवति तथासुरविजयिनं संश्रयमाणस्येत्यर्थः। तथा च शुक्रः—

असुरविजयिनं भूपं संश्रयेन्मतिवर्जितः।
स नूनं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राप्य मृगो यथा ॥ १ ॥

अथ श्रेष्ठवचनस्य भूपस्य यद्भवति तदाह—

यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥ ७४ ॥

टीका—यादृशस्तादृशो वा दुर्बलो हीनकोशो वा स्थायी यायिनः सकाशाद्बलवान् भवति। यदि किं स्यात्? यदि साधुजनो भवति-शोभनजनसन्निधिर्भवति। तथा तादृशश्च सावधानश्च भवति। तथा च नारदः—

राज्यं च दुर्बलो वापि स्थायी स्याद्बलवच्चरः।
सकाशाद्यायिनश्चेत्स्यात्सुसन्नद्धः सुचारकः ॥ १ ॥

अथ संग्रामे भीतमशस्त्रं च बध्नतो यद्भवति तदाह—

रणेषु भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥ ७५ ॥

टीका—भवति जायते। कोऽसौ ? पुरुषः। किं कुर्वन् ? हिंसन् घ्नन्। कं ? भीतं चकितं। तथाऽशस्त्रं भग्नशस्त्रं शस्त्ररहितं वा। (किंविशिष्टः पुरुषो भवति ? ब्रह्महा)। तथा च जैमिनिः—

भग्नशस्त्रं तथा त्रस्तं तथास्मीति च वादिनं।
यो हन्याद्वैरिणं संख्ये ब्रह्महत्यां समश्नुते ॥ १ ॥

अथ संग्रामगतेषु यायिषु योद्धृषु यत्कृत्यं तदाह—

संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥ ७६ ॥

टीका—संग्रामधृतेषु यायिषु वस्त्रादिभिः पूजां कृत्वा विसर्गो मोक्षस्तथा कार्यः। तथा च भारद्वाजः—

संग्रामे वैरिणो ये च यायिनः स्थायिनो वृताः।
गृहीता मोचनीयास्ते क्षात्रधर्मेण पूजिताः ॥ १ ॥

अथ स्थायिभिः यत्कर्तव्यं तदाह—

स्थायिषु संसर्गः सेनापत्यायत्तः ॥ ७७ ॥

टीका—स्थायिनां भूपतीनां यायिभिः सह योऽसौ संसर्गो मेलापकः स सेनापत्यायत्तः सेनापतिवशेन भवति नानार्थ (?) कार्यः।

यायिना संसर्गस्तु स्थायिनः संप्रणश्यति।
यदि सेनापतेश्चित्ते रोचते नान्यथैव तु ॥ १ ॥

अथ सर्वेषां प्राणिनामुभयतो मतिनदीयं यथा भवति तथाह—

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति पापाय धर्माय च, तत्राद्यं स्रोतोऽतीव सुलभं दुर्लभं तद्द्वितीयमिति ॥७८॥

टीका—नामाहो सर्वेषां प्राणिनां मनुष्याणां मतिनदी बुद्धिलक्षणा उभयतो द्विप्रकारा वहति पापाय धर्माय च तत्राद्यं प्रथमं स्रोतः पापलक्षणं तदतीवातिशयेन सुलभं सुखेन लभ्यते पापं कुर्वाणस्य पुरुषस्य

कष्टं न भवति प्रत्युत तस्य (सुलभतैव) मतिनद्या द्वितीयं प्रोक्तं स्रोतः धर्मलक्षणं तद्दुर्लभं कृच्छ्रेण यदि लभ्यते इति। तथा च गुरुः—

मतिर्नाम नदी ख्याता पापधर्मोद्भवा नृणां।
द्विस्रोतः प्रथमं तस्याः पापो धर्मस्तथापरं ॥ १ ॥

अथ महतां वचनस्य माहात्म्यमाह—

सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ॥७९॥

टीका—किल सत्यः शपथः कार्यो विश्वासविषये शत्रूणां। महतामुत्तमपुरुषाणामभयवचनं यत् स एव शपथः। तथा च शुक्रः—

उत्तमानां नृणामत्र यद्वाक्यमभयप्रदं।
स एव सत्यः शपथः किमन्यैः शपथैः कृतैः ॥ १ ॥

अथ साधूनामसाधूनां ये व्यवहारास्ते कथ्यन्ते—

सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः, स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनं ॥ ८० ॥

टीका—सत्पुरुषो निश्चयेन सर्वलोकमहनीयोऽखिलजनपूजनीयो भवति। यस्य पुरुषस्य वचनं वाक्यं अन्यमनस्कतया निजमाहात्म्येनापि आयातं व्याख्यातं विस्तीर्णं यथा शासनं तत्संज्ञं भवति। तथा च शुक्रः—

स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनं।
विस्तीर्णं प्रसिद्धं च लिखितं शासनं यथा ॥ १ ॥

अथ वाचां माहात्म्यमाह—

नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥ ८१ ॥

टीका—या वाणी नयोदिता भवति नीत्यात्मिका भवति सा। हि स्फुटं। एषा प्रत्यक्षा। सरस्वती भारती। तथा च गौतमः—

नीत्यात्मिकात्र या वाणी प्रोच्यते साधुभिर्जनैः।
प्रत्यक्षा भारती ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन ॥ १ ॥

अथ व्यभिचारिवचनेषु यद्भवति तदाह—

व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा ॥ ८२ ॥

टीका—इह जन्मभवा परलोकोत्पन्ना वा । केषु ? व्यभिचारिवचनेषु व्यभिचरति-अन्यथा भवति वचनं येषां ते व्यभिचारिवचनास्तेषु । वात्र समुच्चये । तथा च गौतमः—

न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनां ।
यैरेव वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः ॥ १ ॥

अथ विश्वासघातकस्य यद्भवति तदाह—

न विश्वासघातात्परं पातकमस्ति ॥ ८३ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत् ? पातकं । किंविशिष्टं ? परमुत्कृष्टं अन्यत् । कस्मात् ? विश्वासघातात् । तथा चाङ्गिरः—

विश्वासघातकादन्यः परः पातकसंयुतः ।
न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥ १ ॥

अथ भूयोऽपि विश्वासघातकस्य यद्भवति तदाह—

विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥ ८४ ॥

टीका—यः पुरुषो विश्वासघातको भवति स सर्वेषां लोकानां सर्वेषु पदार्थेषु अविश्वासं करोति—न तस्य कश्चिद्विश्वासं याति । तथा च रैभ्यः—

विश्वासघातको यः स्यात्तस्य माता पितापि च ।
विश्वासं न करोत्येव जनेष्वन्येषु का कथा ॥ १ ॥

असत्यकोशघाते यद्भवति तदाह—

असत्यसन्धिषु कोशपानं जातान् हन्ति ॥ ८५ ॥

टीका—हन्ति विनाशयति । किं तत् ? कोशपानं प्रसिद्धं । कान् ? जातान् पुत्रपौत्रादीन् । केषु ? असत्यसन्धिषु मृषाप्रतिज्ञेषु । ये परान् वंचयित्वा दुष्टदेवपानीयं पिबन्तीत्यर्थः ।

यद्सत्यं जने कोशपानं तदिह निश्चितं ।
करोति पुत्रपौत्राणां घातं गोत्रसमुद्भवं ॥ १ ॥

अथ व्यूहरचनायाः कारणान्याह—

बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूहरचनाया हेतवः ॥ ८६ ॥

टीका—गतार्थमेतत् ।

अथ व्यूहस्य स्थैर्यकालं प्राह—

साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनं॥८७॥

टीका—व्यूहः पूरादिकस्तावत्तिष्ठति यावत्परबलदर्शनं । किंविशिष्टोऽपि? साधुरचितोऽपि बुद्धिमता रचितोऽपि । परबलदर्शने जाते ये वीर्योत्कटा भवन्ति व्यूहं त्यक्त्वा परसैन्ये प्रवेशं करोति ततः स्यात्संकुलयुद्धम् । तथा च शुक्रः—

व्यूहस्य रचना तावत्तिष्ठति शास्त्रनिर्मिता ।
यावदन्यद्बलं नैव दृष्टिगोचरमागतं ॥ १ ॥

अथ योधैर्यथा योद्धव्यं तदाह—

न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्यं किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥ ८८ ॥

टीका—पूर्वं शास्त्राशिक्षा कृता एकाकिना सह । किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण योद्धव्यं यथा शत्रवः प्रहारान् प्रयच्छन्ति तथा तेषु कालं च विज्ञाय प्रकाशयुद्धं प्रकटयुद्धं कर्तव्यं । हि स्फुटार्थे । तथा च शुक्रः—

शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्तव्यं रणसंकुले ।
प्रहारान् प्रेक्ष्य शत्रूणां तदर्हं युद्धमाचरेत् ॥ १ ॥

अथ शत्रौ विजुगीषुणा यथा गन्तव्यं तदाह—

व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सैन्यप्रेषणमवस्कन्दः ॥ ८९ ॥

टीका—परव्यसनेषु संजातेषु प्रमादेषु वा तस्य पुरे स्यात्सैन्य-प्रेषणं (अवस्कन्दः) अवस्कन्दशब्देन धाटीप्रदानमुच्यते। तथा यायात् शत्रुसैन्ये। तथा च शुक्रः—

व्यसने वा प्रमादे वा संसक्तः स्यात्परो यदि।
तदावस्कन्ददानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥ १॥

अथ कूटयुद्धलक्षणमाह—

अन्याभिमुखं प्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धं॥९०॥

टीका—अन्याभिमुखं, अन्यस्य शत्रोरुपरि प्रयाणकमुपक्रम्य कृत्वा अन्योपघातकरणं व्याघुटयोपघातः क्रियते शत्रोस्तत्कूटयुद्धमुच्यते। तथा च शुक्रः—

अन्याभिमुखमार्गेण गत्वा किंचित्प्रयाणकं।
व्याघुट्य घातः क्रियते सदैव कुटिलाहवः॥ १॥

अथ तुष्णीयुद्धस्य लक्षणमाह—

विषविषमपुरुषोपनिषदवाग्योगोपजापैः परोपघातानुष्ठानं तुष्णीदण्डः॥ ९१॥

टीका—यच्छत्रोर्विषप्रदानं क्रियते। तथा विषमपुरुषोपनिषदवाग्योगसम्बन्धः। तथोपजापोऽभिचारकप्रयोगः। एतैर्य उपघातः क्रियते स तूष्णीदण्डो मौनसंग्रामः। तथा च गुरुः—

विषदानेन योऽन्यस्य हस्तेन क्रियते वधः।
अभिचारककृत्येन रिपोर्मौनाहवो हि सः॥ १॥

अथैकेन बलाधिपेन कृतेन यद्भवति तदाह—

एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैकः समर्थो जनयति महान्तमनर्थं॥ ९२॥

टीका—न कुर्यान्न विदधीत। कं ? बलाध्यक्षं एकं बहूनामेको यतः समर्थः स्वतंत्रः सन् राज्ञोऽप्यधिकः संजनयति। कं ? अनर्थं व्यसनं। किं विशिष्टं ? महान्तमशुभतरमिति । तथा च भागुरिः—

एकं कुर्यान्न सैन्येशं सुसमर्थं विशेषतः ।
धनाकृष्टः परैर्भेदं कदाचित्स परैः क्रियात् ॥ १ ॥

अथ यो राजा राजकार्यमृतानां सन्तानं न पोषयति तस्य यद्भवति तदाह—

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तंत्रेण ॥ ९३ ॥

टीका—यो राजा राजकार्ये मृतानां निर्वाहणानां सन्ततिं पुत्रपौत्रादिकं न पोषयति स तेषामृणभागी भवति । तथा तंत्रेण प्रकृत्या साधु सम्यग्यथा भवति एवं नोपचर्यते न सेव्यते । तथा च वशिष्ठः—

मृतानां पुरतः संख्ये योऽपत्यानि न पोषयेत् ।
तेषां स हत्याया ? तूर्णं गृह्यते नात्र संशयः ॥ १ ॥

अथ स्वामिनो युद्ध्मानस्य पुरतो युध्यतः सेवकस्य यद्भवति तदाह—

स्वामिनः पुरःसरणं युद्धेऽश्वमेधसमं ॥ ९४ ॥

टीका—स्वामिनः प्रभोः । युद्धे संग्रामे । यत्पुरःसरणमग्रतो गमनं तत्किंविशिष्टं ? अश्वमेधसममश्वमेधतुल्यं । तथा च वशिष्ठः—

स्वामिनः पुरतः संख्ये हन्त्यात्मानं च सेवकः ।
यत्प्रमाणानि यागानि तान्याप्नोति फलानि च ॥ १ ॥

अथ संग्रामे स्वामिनं त्यजतो यद्भवति तदाह—

युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलं ॥ ९५ ॥

टीका—नास्ति न विद्यते । किं तत् ? कुशलं कल्याणं । कस्य ? सेवकस्य । कुत्र ? अस्मिल्लोके परत्र च । किं कुर्वतः ? परित्यजतः । कं ? स्वामिनं । क ? युद्धे संग्रामे । तथा च भागुरिः—

यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे याति पराङ्मुखः।
इहाकीर्तिं परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥ १ ॥

अथ विग्रहार्थं चलितेन भूभुजा यत्कर्तव्यं तदाह—

विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुश्च

टीका—विग्रहाय युद्धाय उच्चलितस्य राज्ञः सेनाध्यक्षेणार्द्धं बलमर्धं सैन्यं सन्नद्धं कार्यं प्रयाणं यदा भवति। तथा च सैन्यावासं समुद्यतस्य चतुर्दिशमनीकानि सैन्यानि अरेः (आरात्) समीपं संचरेयुः परिभ्रमणं कुर्युः तथा तिष्ठेयुस्तिष्ठन्ति स्म। यतः प्रयाणसमये समर्थोऽपि राजवर्गो व्याकुलो भवति शूराः परालम्बं मत्वा प्रहरन्ति। तथा च शुक्रः—

परभूमिप्रतिष्ठानां नृपतीनां शुभं भवेत्।
आवासे च प्रयाणे च यतः शत्रुः परीक्ष्यते ॥ १ ॥

अथ प्रणिधीनां स्वरूपमाह—

धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेनाटविकाः प्रणधयः परावलान्यागच्छन्ति निवेदयेयुः ॥ ९७ ॥

टीका—निवेदयेयुः परबलान्यागच्छन्ति शत्रुसैन्यान्यायान्ति। केन कृत्वा? धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेन। आगच्छति परसैन्ये दूरस्थिते स्वामिनि धूमं कुर्युः, अग्निं वा ज्वालयन्ति, रजो वा दर्शयन्ति, विषाणं माहिषं शृंगं वा वादयन्ति। तथा च गुरुः—

प्रभो (भौ) दूरस्थितो (ते) वैरी यदागच्छति सन्निधौ।
धूमादिभिर्निवेद्यः स चरैश्चारण्यसंभवैः ॥ १ ॥

अथ भूमिगतेन भूभुजा यथा स्थानं देयं तस्य स्वरूपमाह—

पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदास्थानं दद्यात् ॥९८॥

टीका—दद्यात् । किं तत्? आस्थानं सभागृहं । किंविशिष्टं? पुरुषोत्सेधं पुरुषप्रमाणोत्सेधं । पुनरपि किंविशिष्टं? अबहुजनं स्तोकजनं, (तस्य) निवेशनं प्रवेशनं, आचरणं परिभ्रमणं, अपसरणं निर्गमयुक्तं भवति । तत्र स्थानगृहे स्तोकाः प्रविशन्ति, परिभ्रमन्ति, गच्छन्तीति । पुनरपि कथंभूतं? यदग्रतो मण्डपावकाशं मण्डपप्रदेशं च, तदंगमध्यास्य स्थानं दद्यात् ।

अथ सर्वसाधरणस्थानेन दत्तेन यद्भवति तदाह—

सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥ ९९ ॥

टीका—सर्वजनसाधारणं सर्वजनगम्यमास्थानं वितन्वतो ददतः शरीररक्षा नास्ति न भवति, घातकानां पातात् । तथा च शुक्रः—

परदेशं गतो यः स्यात्सर्वसाधारणं नृपः ।
आस्थानं कुरुते मूढो घातकैः स निहन्यते ॥ १ ॥

अथ परभूमिप्रविष्टेन भूभुजा परिभ्रमणं यथा कार्यं तदाह—

भूचरो दोलाचरस्तुरंगचरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत् ॥ १०० ॥

टीका—न प्रविशेन्न गच्छेत् । कोऽसौ? राजा । कस्यां? परभूमौ । किंविशिष्टः सन्? भूचरः सन् पदातिः सन् । तथा दोलाचरः शिबिकारूढः । तथा तुरंगचरोऽश्वारूढः । यतो घातपार्श्वाद्भयं भवति । तथा च गुरुः—

परभूमिं प्रविष्टो यः पारदारी परिभ्रमेत् ।
हये स्थितो वा दोलायां घातकैर्हन्यते हि सः ॥ १ ॥

अथ परभूमिं परिभ्रमतो राज्ञो यथा क्षुद्रोपद्रवा न भवंति तथाह—

करिणं जंपाणं वाप्यध्यासने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ॥ १०१ ॥

---

१ मुद्रितपुस्तकात् संयोजितमिदं सूत्रम् ।

टीका—(न प्रभवन्ति के ? क्षुद्रोपद्रवाः) । कस्य ? राज्ञः । क ? अध्यासीने आरोहणे । कं ? करिणं हस्तिनं, जंपाणं वाहनविशेषं । तथा च भागुरिः—

परभूमौ महीपालः करिणं यः समाश्रितः ।
व्रजन् जंपणमध्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ॥ १ ॥

इति युद्धसमुद्देशः

२१ विवाह-समुद्देशः ।

अथ विवाहसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव पुंसो व्यवहार समयमाह—

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥१॥

टीका—अत्र व्यवहारशब्देन सुरतोपचारः कथ्यते। कस्मिन्? यदा स्त्री द्वादशवर्षा भवति, तथा पुरुषः षोडशवार्षिकश्च तदा तयोर्व्यवहार-धर्मोऽनुरागाय भवति । तथा च राजपुत्रः—

यदा द्वादशवर्षा स्यान्नारी षोडशवार्षिकः ।
पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनजः परः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीपुरुषयोर्यथा व्यवहारात्कुलवृद्धिर्भवति तदाह—

विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुवर्ण्यं कुलीनयति ॥ २ ॥

टीका—कुलीनयति सन्तानं कुलीनं कुलीकरोति। कोऽसौ? विवाहः परिणयनं । किंविशिष्टं? चातुर्वर्ण्यं वर्ण्यमनुलक्ष्यीकृत्य । एतदुक्तं भवति, अनुवर्ण्यं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां वर्णतया योसौ विवाह-स्तत्र तत्सन्तानं भवति तत्स्वकुलधर्मेण वर्तत इति, न कदाचिद्व्यभिच-रति । तथा च जैमिनिः—

सुवर्णा कन्यका यस्तु विवाहयति धर्मतः ।
सन्तानं तस्य शुद्धं स्यान्नाकृत्येषु प्रवर्तते ॥ १ ॥

अथ विवाहस्य लक्षणमाह—

युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥ ३ ॥

टीका—एतद्गुणविशिष्टं यत्पाणिग्रहणं हस्तग्रहणं स विवाह उच्यते युक्तितो वरणविधानं, अग्निदेवद्विजसाक्षिकं च यत् कुलक्रमेण कन्याया वैर्वरणं संप्रदानं विधानं भवति। किंविशिष्टं? अग्निदेवद्विजसाक्षिकं प्रत्यक्षं। तथा च भारद्वाजः—

वरणं युक्तितो यच्च वह्निब्राह्मणसाक्षिकं।
विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्याच्च विप्लवः॥ १॥

अथाष्टविधस्य विवाहस्य लक्षणमाह—

ब्राह्म्यो दैवस्तथैवार्षःप्राजापत्यस्तथापरः।
गन्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षस्तथा॥ १॥[1]

अथ ब्राह्मयविवाहस्य लक्षणमाह—

स ब्राह्मयो[2] विवाहो यत्र वरायालङ्कृत्य कन्या प्रदीयते॥ ४॥

अथ दैव[3]विवाहस्य लक्षणमाह—

स दैवो[4] विवाहो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा॥ ५॥

तथा च गुरुः—

कृत्वा यज्ञविधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः।
समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हि तत्॥ १॥

अथार्षलक्षणमाह—

गोमिथुन[5]पुरःसरं कन्यादानादार्षः॥ ६॥

---

१ मुद्रितमूलपुस्तके लिखितमूलपुस्तके च नैष श्लोकः। २ स ब्राह्मयो विवाहो, एतावन्मात्र एव पाठोऽस्मादग्रेतनः पाठस्तु च्छिन्नः स च मूलपुस्तकद्वयात्संयोजितः। ३ कल्पितेयमवतरणिका। ४ "स दैवो विवाहो" इति पर्यंतः पाठो मूल पुस्तकद्वयात्संयोजितः। ५ गोभूमिसुवर्णपुरःसरमिति पाठान्तरं लिखितमूलपुस्तके।

कन्यां दत्वा पुनर्दद्याद्यत्र गोमिथुनं वरं ।
वराय दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्षसंज्ञितः ॥ १ ॥

अथ प्राजापत्यस्य लक्षणमाह—

[1]विनियोगेन कन्याप्रदानात्प्राजापत्यः ॥ ७ ॥

तथा च गुरुः—

धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह ।
सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ॥ १ ॥

एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः ॥ ८ ॥

अथ गान्धर्वस्य लक्षणमाह—

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात्परस्परानुरागेण मिथःसमवायाद्गान्धर्वः ॥ ९ ॥

तथा च गुरुः—

पितरौ समतिक्रम्य यत्कन्या भजते पतिं ।
सानुरागा सरंगं च स गान्धर्व इति स्मृतः ॥ १ ॥

अथासुरविवाहस्य स्वरूपमाह—

पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥ १० ॥

तथा च गुरुः—

मूल्यं सारं गृहीत्वा च पिता कन्यां च लोभतः ।
सुरूपामथवृद्धाय विवाहश्चासुरो मतः ॥ १ ॥

अथ पैशाचस्य लक्षणमाह—

सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः ॥ ११ ॥

तथा च गुरुः—

सुप्तां वाथ प्रमत्तां वा यो मत्वाथ विवाहयेत् ।
कन्यकां सोऽत्र पैशाचो विवाहः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

---

१ त्वं भव अस्य महाभाग्यस्य सधर्मचारिणीति विनि० इत्यादि पाठान्तरं मूलपुस्तकद्वये । २ अस्य स्थाने राजापत्यस्येति पाठः पुस्तके ।

अथ राक्षसविवाहस्य स्वरूपमाह—

कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः ॥ १२ ॥

रुदतां च बन्धुवर्गाणां हठाद्गुरुजनस्य च।
गृह्णाति यो वरात्कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ॥ १ ॥

एते चत्वारोऽधर्म्या अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ॥ १३ ॥

अथ कन्या यैर्दूषणैर्न विवाह्यते तान्याह—

उन्नतत्वं कनीनयोः, लोमशत्वं जंघयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठरकुचयुगलेषु, शिरालुत्वमशुभसंस्थानत्वं च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरहरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वं पि-(चि) ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे[1], दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपु (प) रुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकता समकटकुब्जवामनकिराताङ्गत्वं जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सहसा तद्गृहे स्वयमाहूतगतस्य वा व्यक्ता[2] व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोकायुष्का बहिर्गता कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्यप्रियदर्शना दुर्भगेति नैतां वृणीत कन्याम् ॥ १४ ॥

टीका—गतार्थं।

अथ कन्यावरयोः शिथिलं यत्पाणिग्रहणं भवति तस्य दूषणमाह—

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥ १५ ॥

तथा च नारदः—

---

१ निटेले इति अन्यः पाठः। २ भुक्ता इत्यपरः पाठः।

शिथिलं पाणिग्रहणं स्यात्कन्यावरयोर्यदा ।
परिभूयते तदा भर्ता कान्तया तत्प्रभावतः ॥ १ ॥

अथ वरस्य कन्यामुखमपश्यतो यद्भवति तदाह—

मुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥ १६ ॥

टीका—वेदिमध्यगतायाः कन्याया मुखं यदा भर्ता न पश्यति तदा कन्या प्रचण्डा भवति । तथा च जैमिनिः—

मुखं न वीक्षते भर्ता वेदिमध्ये व्यवस्थितः ।
कन्याया वीक्षमाणायाः प्रचण्डा सा भवेत्तदा ॥ १ ॥

अथ शयने कन्या याः प्रथमदिवसे यदा भर्तुरपमानं करोति तदाह—

सह शयने तूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥ १७ ॥

बलादाक्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥ १८ ॥

धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्याविस्रम्भणं ॥ १९ ॥

समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥ २० ॥

महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति ॥ २१ ॥

अल्पस्य कन्यापितुर्दौस्थ्यं महता कष्टेन विज्ञायते ॥ २२ ॥

अल्पस्य महता सह संव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः ॥२३॥

वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ॥ २४॥

वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः ॥ २५ ॥

सम्यग्वृत्ता कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः ॥२६॥

विकृतप्रत्यूढापि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥ २७ ॥

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥ २८ ॥

---

१ मुखं पश्यत इत्यन्यः पाठः । २ कन्यायाः पुस्तके पाठः

देशापेक्षो मातुलसंबन्धः ॥ २९ ॥

धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धिर्देवद्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलं ॥ ३० ॥

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥ ३१ ॥

गृहकर्मविनियोगः परिमितार्थत्वमस्वातंत्र्यं सदा मातृव्यंजनस्त्रीजनावरोध इति कुलवधूनां रक्षणोपायः ॥ ३२ ॥

रजकशिलाकुर्कुरखर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ॥ ३३ ॥

दानैर्दौर्भाग्यं सत्कृतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारेप्यनात्मीयत्वं बहुकालसंबन्धेऽपि त्यक्तानां तदेव पुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्यानां कुलागतो धर्मः ॥ ३४ ॥

टीका—एतानि गतार्थानि ।

इति विवाहसमुद्देशः ।

———— ————

३२ प्रकीर्ण-समुद्देशः ।

अथ प्रकीर्णकसमुद्देशो व्याख्यायते । तत्रादावेव तस्य लक्षणमाह—

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकं ॥१॥

टीका—सूक्तय एव रत्नानि सूक्तिरत्नानि सुभाषितरत्नानि विकीर्णानि विस्तारितानि यानि सूक्तरत्नानि तेषां विन्यासः संश्रयो रचना तस्य निबन्धनं स्थानं च यत्र काव्ये तत्प्रकीर्णकं कथ्यते सूक्तिसुभाषितमयं । कस्मिन्निव ? समुद्र इव यथा समुद्रे प्रकीर्णरत्नानां निवासनिबन्धनं भवति तथा काव्यसमुद्रेऽपि ।

अथ सान्धिविग्रहिकस्य लक्षणमाह—

वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनिः प्रगल्भः प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणगमकशक्तिसम्पन्नः संप्रज्ञातसमस्तलिपिभाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचनसमर्थश्चेति सान्धिविग्रहिकगुणाः ॥ २ ॥

टीका—सम्यक् पदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः पदानि विभक्त्यन्तानि, वाक्यानि समाससंस्काराणि, प्रमाणं तर्कलक्षणं एतेषां विषये निष्णाता परिणता मतिर्यस्य स सान्धिविग्रहिको राजार्हः । तथा सुमुखः स्पष्टाक्षरवक्ता । तथा सुव्यक्तः यस्य स्पष्टाक्षराणि वदतो व्यक्तोऽर्थो जायते । तथा गंभीरमधुरध्वनिः गम्भीरो मेघगर्जितवत् मनोहरो ध्वनिर्यस्य स तथा यस्य प्रजल्पतः काकस्वरो न भवतीत्यर्थः । तथा प्रगल्भ उदारचरितः । तथा प्रतिभावान् तेजस्वी । तथा सम्यगूहापोहावधारणग-

मकशक्तिसम्पन्नः सम्यगूहापोहनं युक्तायुक्तविवेकः सम्यगवधारणं हृदि स्थापनं तस्य आगमः परिज्ञानं तत्र विषये यासौ शक्तिः समर्थता तया सम्पन्नो युक्त इति। तथा संप्रज्ञातसमस्तलिपिभाषा.................... वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः तथा आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतिलक्षणास्तथा स्वो (परश्च) योऽसौ व्यवहारः तस्य स्थितिर्ज्ञानं यस्य। तथाशुलेखनवाचनसमर्थो यो लेखनामाशु शीघ्रं लिखति तथा वाचनसमर्थ इति सन्धिविग्रहिका गुणाः।

अथ विरक्तजनस्य लिंगान्याह—

कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखे वैरस्यमनवेक्षणं स्थानत्यागः साध्वाचरितेऽपि दोषोद्भावनं विज्ञप्ते च मौनमक्षमाकालयापनमदर्शनं वृथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिंगानि ॥ ३ ॥

टीका—कथाविच्छेदः कथायां कथ्यमानायां विच्छेदं करोति न शृणोति। तथा व्याकुलत्वं याति कथां शृण्वन्। तथा मुखे वैरस्यं करोति। तथा अनवेक्षणं वार्तायां कथ्यमानायां संमुखं नावलोकयेत्। तथा स्थानत्यागोऽन्यत्रोत्थाय गमनं। साधुचरितेऽपि दोषोद्भावनं दोषकीर्तनं करोति विज्ञप्ते च मौनं करोति न प्रत्युत्तरं प्रयच्छति। तथा अक्षमाकालयापनं अक्षमया योऽसौ कालः प्रस्तावस्तस्य यापनं प्रापणं करोति। तथादर्शनं आस्यदर्शनं न प्रयच्छति। तथा वृथाभ्युपगमः सेवाद्वारेण यः कृतः तं व्यर्थतां नयति तेन रज्यते इति विरक्तजनस्य लिंगानि चिह्नानि ज्ञेयानि।

अथ सानुरागलिंगानि—

दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसादः, संप्रश्नेष्वादरः, प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं, परोक्षे गुणग्रहणं, तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिंगानि ॥ ४ ॥

टीका—दूरादेवेक्षणं दूरादेवागच्छन्तमवलोकयति। तथा मुखप्रसादो मुखप्रसन्नता। तथा संप्रश्नेष्वादरः यदि किंचित्संप्रश्नं करोति तत्सादरः। तथा प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं यानि तेन पूर्वं प्रियाण्यभीष्टानि कृतानि तानि स्मरति। तथा परोक्षे गुणग्रहणं यदा समीपे न भवति तदा तद्गुणान् कीर्तयति। तथा तत्परिवारस्यानुनयवृत्तिः तत्परिवारस्य सदा सर्वकालं अनुनयवृत्तिर्विनयवर्तनं करोतीति सानुरागाचिन्हानि।

अथ काव्यगुणा व्याख्यायन्ते—

श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वमुभयालंकारसम्पन्नत्वमन्यूनाधिकवचनत्वमतिव्यक्तान्वयत्वमिति काव्यस्य गुणाः ॥ ५ ॥

टीका—श्रुतिसुखत्वं येन काव्येन श्रुतेन कर्णाभ्यां सुखं भवति। अपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वं अपूर्वार्थाः केनापि नोक्ता अचर्चिताः, तथा अविरुद्धा दोषरहितास्तैरतिशययुक्तं यत्। तथोभयालंकारसम्पन्नत्वं अपूर्वार्थानां योऽसावलंकारस्ताभ्यां सम्पन्नत्वं युक्तत्वमिति। तथाऽन्यूनाधिकवचनं अन्यूनानि परिपूर्णानि अधिकानि वचनानि वाक्यानि यत्र। तथा व्यक्तान्वयत्वं अतिशयेन योऽसावुक्तिः मतिप्रभवः तेन युक्तं यत्काव्यमिति काव्यगुणाः।

अथ काव्यदोषा व्याख्यायन्ते—

अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्वं दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथार्थयतिविन्यासत्वमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥ ६ ॥

टीका—अतिपरुषाणां पाणिनीयसूत्रसदृशवचनानां विन्यासो रचना यत्र तत्सदोषं काव्यं। तथा अनन्वितगतार्थत्वं, अनन्वितोऽसंगतार्थो यथा। तथा दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासत्वं दुर्बोधानि यानि पदानि तथाऽ-

नुपपन्नानि अयोग्यानि यानि पदानि तेषां उपन्यासः करणं यत्र । तथा अयथार्थयतिविन्यासत्वं अयथार्थोऽयुक्तार्थो यतिविन्यासः पदच्छेदन्यासो यत्र । तथाभिधानाभिधेयशून्यत्वं अभिधानशब्देन नाममाला प्रोच्यते तेषु अभिधेयाः कथिता ये शब्दास्तेषां शून्यत्वं तै रहितत्वमपरैर्ग्राम्यैर्युक्तं तत्सदोषं काव्यं इति काव्यदोषाः ।

अथ कविगुणा व्याख्यायन्ते—

वचनकविरर्थकविरुभयकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकी सतुषाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥ ७ ॥

टीका—वचनकविरेकस्तावत् यथा कालिदासवत् ललितवचनैः काव्यं करोति । अन्योऽर्थकविर्यथा भारवी गूढार्थं काव्यं करोति । अन्य उभयकविर्यथा माघो ललितवचनैर्गूढार्थैः काव्यं करोति । अन्यश्चित्रकविः नाणमुतत्रं (?) चित्रकाव्यं करोति । अन्यो वर्णकविः परवदक्षराडम्बरेण (?) सानुप्रासं काव्यं चाणिक्यवत् .... अष्टौ कवयः ।

अथ कविसंग्रहगुणा व्याख्यायन्ते—

मनःप्रसादः, कलासु कौशलं, सुखेन चतुर्वर्गविषयाव्युत्पत्तिरासंसारं च यश इति कविसंग्रहस्य फलं ॥ ८ ॥

टीका—एकस्तावन्मनःप्रसादो गुणः । तथा कलासु कौशलं कवित्वविषये कला अक्षरलक्षणास्तासु कौशलं । तथा सुखेन चतुर्वर्गविषया व्युत्पत्तिः, चतुर्वर्गशब्देन धर्मार्थकाममोक्षा कथ्यंते तेषां विषये निजनिजमार्गप्रदेशास्तेषां सुखेन लीलया व्युत्पत्तेरनेकप्रकारत्वं यस्य कवित्वे दृश्यते । तथा च आसंसारं यशो यावत्संसारस्तावद्व्यासवत् कीर्तिः । एतत्कविसंग्रहस्य कविभवस्य फलमिति । इति कविः संग्रहयति (?) ।

अथ गीतगुणा व्याख्यायन्ते—

आलप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणता स्थानकम्पितकुहरितादिभावो रागान्तरसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥ ९ ॥

टीका—एकस्तावत्प्रथममेवालप्तिशुद्धिः, आलप्तिशब्देन षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पंचम-धैवत-निषादानां स्वराणां व्यक्तिरुच्यते । तस्याः शुद्धिः क्रिया, कथमेतेषां जीवविशेषाणां स्वरै........................ तद्यथा—

> मयूरः षड्जमाचष्टे चकोरस्तैतिरार्षभः ।
> अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमं ॥ १ ॥
> वसन्तकाले सम्प्राप्ते पंचमं कोकिलोऽपि च ।
> अश्वश्च धैवतं प्राह निषादं कुंजरोऽपि च ॥ १ ॥

आलप्तिशुद्धिस्ततः प्रथमतः परिज्ञेया । तथा माधुर्यातिशयो माधुर्यं श्रुतिसुखो भवति अतिशयः तथा यत्र प्रयोगसौन्दर्यं प्रयोगाः पदन्यासास्तेषां सौदर्यं कोमलता । तथातीव मसृणता घनता । तथा-स्थानकंपितकुहरितादिभावः स्थानशब्देन त्रिमात्रः स्वर उच्यते तस्य कम्पितं धुनितं तथा कुहरितं संकोचनं ताभ्यां भावः स्वरूपं यत्र गीते। रागान्तरसङ्क्रान्ती रागवेधः । परिगृहीतरागनिर्वाहो यत्र यस्मिन् रागे तद्गीतं प्रारब्धं (तस्य निर्वाहः) । तथा हृदयग्राहिता सदैव बहुगुणत्वात् हृदि धार्यते इति गीतस्य लक्षणं ।

अथ वाद्यगुणा व्याख्यायन्ते—

समत्वं तालानुयायित्वं गेयाभिनेयानुगतत्वं श्लक्ष्णत्वं प्रव्यक्तयतिप्रयोगत्वं श्रुतिसुखावहत्वं चेति वाद्यगुणाः ॥ १० ॥

---

१ पुस्तके छिन्नमिदं सूत्रं, लिखितमूलपुस्तकात्संयोजितं ।

टीका—समत्वं (अ) निष्ठुरत्वमित्यर्थः। तथा तालानुयायित्वं तालः पंचविधस्तस्यानुपृष्ठतो यत्तत् तालानुयायित्वं। तथा गेयाभिनेयानुगतत्वं। तथा श्लक्ष्णत्वं वाद्यदोषविहीनं। तथा सुव्यक्तयतिप्रयोगत्वं सुव्यक्ता ये यतयस्त्रयोऽपि नव तत्सुव्यक्तयतिप्रयोगत्वं। तथा श्रुतिसुखावहत्वं कर्णाभ्यां यद्वाद्यमानं सुखं भवति जनयति तच्छ्रुतिसुखावहत्वं वाच्यमिति वाद्यगुणाः कथ्यन्ते।

अथ नृत्यगुणा व्याख्यायन्ते—

दृष्टिहस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्टललिताभिनयाङ्गहारप्रयोगभावो रसभाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः ॥ ११ ॥

टीका—नृत्यविषये भरतेन षङ्गादयः प्रोक्ताः तथाञ्जलिपूर्वकाश्चतुःषष्टिप्रमाणहस्तविषयाः कथिताः, नव अष्टोत्तरशतं पादविक्षेपानां कथितं। तदेतदुक्तं भवति, दृष्टिहस्तपादानां सममेककालं समायोगो मेलापको गीतवाद्यवशेन यथोचितो यत्र भवति तत्र गीते संगीतकानुगतत्वं संगीतकं कालादिकं यत्पूर्वं दृष्टिहस्तपादपूर्वकं एककालिकं यथोक्तो; योऽभिनय उपाध्यायसूचितस्तेन योऽङ्गहारोङ्गविक्षेपस्तस्य योऽसौ प्रयोगः समाचरणं तस्य योऽसौ भावः स्फुटीकरणं यत्र नृत्ये। तथा रसभावो लावण्यं रसाः शृङ्गाराद्या नव संख्यास्तेषां ये भावास्तेषु यल्लावण्यं भरतेनोक्ता एकाशीतिप्रमाणास्तेषां याऽसौ वृत्तिवर्तनं तेन लावण्याश्रितं यन्नृत्यं तच्छस्यमिति नृत्यगुणाः।

अथ महापुरुषस्य लक्षणमाह—

स खलु महान् यः खल्वार्तो न दुर्वचनं ब्रूते ॥ १२ ॥

टीका—स पुरुषः खलु निश्चयेन महान् महत्वमाप्नोति। यः किं विशिष्टः ? न ब्रूते। किं तत् ? दुर्वचनं कस्यापि सम्मुखं। किंविशिष्टोऽपि ? आर्तोऽपि। तथा च शुक्रः—

दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थं कुपितोऽपि सन् ।
स महत्त्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले ॥ १ ॥

अथ गृहस्थस्य दोषमाह—

स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥१३॥

टीका—यस्य गृहस्थस्य गृहं प्राप्ताः । के ते ? अर्थिनो याचकाः कृतार्थाः सन्तो न यान्ति किंचिदपि न लभन्ते इति तात्पर्यार्थः । तथा च गुरुः—

तृणानि भूमिरुदकं वाचा चैव तु सूनृता ।
दरिद्रैरपि दातव्यं समासन्नस्य चार्थिनः ॥ १ ॥

अथ तादात्विकस्य स्वरूपमाह—

ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहितवृत्तीनां ॥ १४ ॥

टीका—तादात्विकास्तद्गुणास्तेषां तावन्मात्रं वचनं भवति वा स्वल्पं तेषां धर्मः ऋणग्रहणेन कलंकप्राप्त्यान्यायः तथा तेषां सुखं राजसेवा वणिज्या च पण्यं नान्यत् सुखं ये पुनरायत्यां आयतिकाले हितवृत्तयो भवन्ति न तेषां (?) । तथा च गर्गः—

धर्मकृत्यं ऋणप्राप्त्या सुखं सेवा परं परं ।
तादात्विकविनिर्दिष्टं तद्धनस्य न चापरं ॥ १ ॥

अथ दानविषये यत्कर्तव्यं तदाह—

स्वस्य विद्यमानमर्थिभ्यो देयं नाविद्यमानं ॥ १५ ॥

टीका—अर्थिभ्यो याचकेभ्यो देयं दातव्यं । किं तत् ? विद्यमानं । कस्य ? स्वस्यात्मनः । यदात्मनो गृहे न भवति तन्न देयमभीष्टस्यापि । उक्तं च यतो गर्गेण—

अविद्यमानं यो दद्यान्नृणां कृत्वापि वल्लभः ।
कुटुंबं पीड्यते येन तस्य पापस्य भाग्भवेत् ॥ १ ॥

---

१ 'दद्यादृणं इति सुभाति ।

अथर्णदातुरागन्तुकफलं यद्भवति तदाह—

ऋणदातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्थालाभश्च ॥ १६ ॥

टीका—ऋणदातुर्धनिकस्यासन्नं प्रथमं फलं भवेत् परोपास्तिलक्षणं नित्यमेव ऋणकपार्श्वे याचितुं गच्छति। द्वितीयं कलहफलं। तृतीयं परिभवः कालान्तरेण तद्ददाति। तस्मादुद्धारकं नैव दात्यव्यमिति। तथा चात्रिः—

उद्धारकप्रदातॄणां त्रयो दोषाः प्रकीर्तिताः।
स्वार्थदानेन सेवा च युद्धं परिभवस्तथा ॥ १ ॥

अथ ऋणकस्य धनिकेन सस्नेहे तदा कालस्य परिणामः प्रोच्यते—

अदातुस्तावत्स्नेहः सौजन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ॥ १७ ॥

टीका—अदातुः ऋणकस्य धनिकेन सह तावत्स्नेहः तावत्सौजन्यदर्शनं तावत्प्रियालापस्तावत्साधुत्वमात्मनो दर्शयति। यावत्किं? यावत्तस्य सकाशात् अर्थं न गृह्णाति। अर्थे गृहीते तु पुनः चतुष्टयं न भवति। तथा च शुक्रः—

तावत्स्नेहस्य बन्धोऽपि ततः पश्चाच्च साधुता।
ऋणकस्य भवेद्यावत्तस्य गृह्णाति नो धनम् ॥ १ ॥

अथासत्यस्य स्वरूपमाह—

तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाव्यार्थहानिः ॥ १८ ॥

टीका—तदसत्यमपि नासत्यं भवति। यत्र किं? यत्र न संभाव्यार्थहानिर्भवति संभाव्यो योऽर्थः प्रयोजनं तस्य हानिस्तन्न भवति। एतदुक्तं

---

१ श्लोकवशवर्तिना टीकाकर्त्रा "प्रस्तावेऽर्थालाभश्च, अस्य व्याख्या नैव कृता इति ज्ञायते।

भवति, गुरुतरप्रयोजनस्य नाशमवलोक्यासत्यमप्युक्तं सत्यमेव नासत्यं । तथा च बादरायणः—

तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिगीयते ।
गुरुकार्यस्य हानिं च ज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ॥ १ ॥

अथ यथासत्यवादो न भवति तदाह—

प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥ १९ ॥

टीका—प्राणवधे सम्प्राप्ते न दोषः, असत्यमपि प्राणवधे वक्तव्यं । तथा च व्यासः—

नासत्ययुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजा न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारी
पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥

अथार्थाय लोको यत्करोति तदाह—

अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ।२०।

टीका—अर्थाय धनार्थं लोको जनो मातरमपि हिनस्ति व्यापादयति । किं पुनरसत्यं न भाषते तस्मादर्थविषये विश्वासो न कार्य इति । तथा च शुक्रः

अपि स्याद्यदि मातापि तां हिनस्ति जनोऽधनः ।
किं पुनः कोशपानाद्यं तस्मादर्थे न विश्वसेत् ॥ १ ॥

अथ दैवायत्ता ये पदार्थास्तानाह—

सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निवाहः ॥ २१ ॥

टीका—सत्कलास्तावजानाति पुमान् बहत्तरीकलाकलापमपि निर्द्विका (?) मूर्खो धनी । तथासत्योपासनं हि स्फुटं करोति तन्निर्धनोऽसत्यजनः कोपनीयः । तथा च विवाहकर्म दैववशादकुलीनोऽपि कुलीनां कन्यां

प्राप्नोति सुकुलजोऽप्यकुलजामिति दैवायत्ता तु पुत्रपौत्रसमृद्धिर्भवति, अकाले वा गृहभंगः स्यात् । तथा च गुरुः—

विद्यापत्यं विवाहश्च दंपत्योश्चामिता रतिः ।
पूर्वकर्मानुसारेण सर्वं सम्पद्यते सुखं ॥ १ ॥

अथ रतिकाले पुरुषो यद्वदति तस्य प्रमाणतामाह—

रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यन्न ब्रूते पुमान् न चैतत्प्रमाणं ॥ २२ ॥

टीका—रतिकाले कामार्तः तन्नास्ति यन्न वदति तस्य प्रमाणता नास्ति । न तेनासत्येन सलितो (?) । तस्माद्रतपुरुषेण सत्यानृतैर्वचनैः सानुरागा भार्या कर्तव्या । तथा च राजपुत्रः—

नान्यचिन्तां भजेन्नारीं पुरुषः कामपंडितः ।
यतो न दर्शयेद्भावं नैवं गर्भं ददाति च ॥ १ ॥

अथस्त्रीपुरुषयोः प्रीतिप्रमाणमाह—

तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिकैतवं च ॥ २३ ॥

टीका—स्त्रीपुरुषयोस्तावन्नैरन्तर्येण प्रीतिर्भवति यावत्प्रातिलोम्यं वर्षाधर्मस्तथाकलहस्तथा रतिकैतवं रतिकौटिल्यं । तथा च राजपुत्रः—

ईषत्कलहकौटिल्यं दम्पत्योर्जायते यदा ।
तथा कोशविदेहंगस्ताभ्यामेव परस्परं ॥ १ ॥

अथ तादात्विकस्य रणे यद्भवति तदाह—

तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ॥ २४ ॥

टीका—तादात्विकबलस्य तावन्मात्रसैन्यबलस्य युद्धे विजयो न भवति किमर्थं शत्रुरतिर्गण्यते तस्माद्युद्धकाले प्रभूतं सैन्यं कर्तव्यमिति । तथा च शुक्रः—

तावन्मात्रो बलो यस्य नान्यत्सैन्यं करोति च ।
शत्रुभिर्हीनसैन्यः स लक्षयित्वा निपात्यते ॥ १ ॥

अथ कृतार्थस्य स्वरूपमाह—

तावत्सर्वः सर्वस्यानुनयवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः॥२५॥

टीका—तावत्सर्वः सर्वस्यानुनयपरो विनयपरस्तावदेव यावत्कृतार्थो न भवति, आत्मीयं प्रयोजनं यावन्न सिद्ध्यति प्रयोजनेषु सिद्धेषु कः केन पृष्ट आसीत् । तथा च व्यासः—

सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते ।
तस्मात्सा देवकार्यस्य किमन्यैः पोषितैः विटैः ॥ १ ॥

अथाशुभेन पुरुषेण यः प्रतीकारः कर्तव्यस्तमाह—

अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥ २६ ॥

टीका—अशुभस्य पदार्थस्याशुभव्यसनलक्षणस्य कः प्रतीकारः किमुपशमनं कालहरणं कालवचनादिभिः पदार्थैर्वञ्चना क्रियत इति । तथा च नारदः—

अशुभस्य पदार्थस्य भविष्यस्य प्रशान्तये ।
कालातिक्रमणं मुक्त्वा प्रतीकारो न विद्यते ॥ १ ॥

अथ स्त्रीभिः पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्यां ॥ २७ ॥

टीका—स्त्रीजनसकाशात्पुरुषस्य कामाग्नितप्तस्य दाहस्योपशान्तिर्मैथुनमात्रमेव प्रयोजनं नान्यत्किंचिदपि । कस्मादिव ? पक्वान्नादिव यथा पक्वान्नान्मोदकस्यास्वादनात् क्षणमेकं जिह्वासौख्यं भवति शरीराल्हादो भवति न सर्वदा । एवं ज्ञात्वा तासां विषये किं रागविरागाभ्यां द्वावपि न कार्याविति । तथा च गौतमः—

न रागो न विरागो वा स्त्रीणां कार्यो विचक्षणैः ।
पक्वान्नमिव तापस्य शान्तये स्याच्च सर्वदा ॥ १ ॥

अथाधर्मस्यापि पुरुषस्य दृष्टान्तद्वारेण माहात्म्यमाह—

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥ २८ ॥

टीका—अस्ति विद्यते । किं तत् ? प्रयोजनं । केन ? तृणेनापि निकृष्टेनापि, अथवा यवसेन यदा भोजनावसानं भवति तदा तृणेन मुखशुद्धिर्भवति यदा कर्णकण्डूतिर्भवति तृणेन नश्यति यदा तेनापि प्रयोजनं तदा किं मनुष्येण पाणिपादवता न भवति, अपि तु भवत्येव तस्मादीश्वरेणोत्तमाधममध्यमाः समीपे धार्या नाधमानमुपर्यवज्ञा कर्तव्या । तथा च विष्णुशर्मा—

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं
कर्णस्य कण्डूयनकेन चापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां
किं पादयुक्तेन नरेण न स्यात् ॥ १ ॥

अथ लेखस्य सामान्यदत्तस्य विषये यत्कर्तव्यं तदाह—

न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात्सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च ॥ २९ ॥

टीका—कस्यापि सामान्यस्यापि भूभुजा लेखो नावमन्तव्यो नावज्ञया द्रष्टव्यः । कस्मात्कारणात् ? लेखप्रधाना हि राजानः हि यस्मात्कारणात् लेखप्रधानो राजानो भवन्ति सामान्योऽपि कश्चित्तल्लिखति येन शत्रुचेष्टितं विज्ञायत इति । तथा तन्मूलत्वाल्लेखमूलत्वात्सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य । यत्र लेखप्रचारो भवति तत्र सन्धिविग्रहयोर्निश्चयो भवति तथा जगद्व्यापारस्य स्थितिर्ज्ञायते तस्मात्कारणात् कस्यापि लेखो नावमन्तव्यः । तथा च गुरुः—

लेखमुख्यो महीपालो लेखमुख्यं च चेष्टितं।
दूरस्थस्यापि लेखो हि लेखोऽतो नावमन्यते ॥ १ ॥

अथ युद्धस्य लक्षणमाह—

पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं ॥२०॥

टीका—ये नीतिविदो नीतिज्ञाः शुक्रबृहस्पतिप्रभृतयः ते पुष्पयुद्धमपि नेच्छन्ति न वाञ्छन्ति। किं तत्पुष्पयुद्धमपि येनाल्हादो भवति। किं पुनः शस्त्रयुद्धं यत्र प्राणत्यागो भवति। तथा च विदुरः—

पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः।
उपायपतया? पूर्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १ ॥

अथ प्रभोर्लक्षणमाह—

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ॥ ३१ ॥

टीका—स प्रभुः स्वामी कथ्यते यः स्वल्पवित्तोऽपि बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोर्वृक्षविशेषस्य फलसम्पदा प्रभूतफलसम्पत्त्या या परेषामन्येषां भोगयोग्या न भवति। तथा च व्यासः—

स्वल्पवित्तोऽपि यः स्वामी यो बिभर्ति बहून् सदा।
प्रभूतफलयुक्तोऽपि सम्पदाप्यर्जुनस्य च ॥ १ ॥

अथ त्यागिनो लक्षणमाह—

मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधां ॥ ३२ ॥

टीका—स त्यागी कथ्यते पुरुषो यः सर्वेषामभ्यागतानां संबाधां उपरुन्धनं सहते न व्यथां करोति। मार्गपादप इव यथा मार्गपादपः सर्वैरभ्यागतैः पत्रपुष्पफलैरुपचित्यमानोऽपि उपद्रवं सहते तथा त्यागवानपि भोजनशयनादिभिः सम्बाध्यमानोऽप्यभ्यागतैः सहते। तथा च गुरुः—

यथा मार्गतरुस्तद्वत्सहते य उपद्रवं।
अभ्यागतस्य लोकस्य स त्यागी नेतरः स्मृतः ॥ १ ।

अथ भूपतीनां स्वरूपमाह—

पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः ॥ ३३ ॥

टीका—पर्वता इव राजानः । किंविशिष्टाः ? सुन्दरालोकाः सुन्दरो मनोहर आलोको दर्शनं येषां ते तथा । छत्रपूजाचामरहस्त्यश्वरथयायाः पापात्मीयं गम्यते तावद्वा स्थानकठोरववस्वनैर्भर्त्स्यमाना (?) प्राप्यते यथा पर्वता दूरात्प्रान्ततायाः मनोहरा दृश्यन्ते समीपगते धवखादिरथोहरपाषाणैर्दुरारोहा भवन्ति तस्माद्भूपानां पर्वतानां च समीपगानां च (न) गच्छेत् । तथा च गौतमः—

दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः
दृश्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ॥ १ ॥

अथ दूरस्थदेशाश्रवणस्वरूपमाह—

वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः ॥ ३४ ॥

टीका—यः कश्चिद्देशः श्रूयते स वार्ताप्रियो यथा कथितः । एवं ज्ञात्वा स्वदेशं परित्यज्य परदेशं बहुगुणं श्रुत्वा न गम्यत इति । तथा च रैभ्यः—

दुर्भिक्षाढ्येऽपि दुःस्थेऽपि दूराजसहितोऽपि च ।
स्वदेशं च परित्यज्य नान्यस्मिंश्चिच्यु(च्छु)भे व्रजेत् ? ॥ १ ॥

अथ दुःस्थस्य बान्धवरहितस्य परभूमिः समृद्धापि यादृग्भवति तदाह—

अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी ॥ ३५ ॥

टीका—यो जनोऽधनो भवति तथा बान्धवरहितश्च तस्य मनुष्यवत्यपि प्रभूतमनुष्यापि भूमिर्महाटवी महारण्यसदृशी । तथा च रैभ्यः—

निर्धनस्य मनुष्यस्य बान्धवै रहितस्य च ।
प्रभूतैरपि संकीर्णा जनैर्भूमिर्महाटवी ॥ १ ॥

अथ श्रीमतोऽरण्यमपि राजधानी प्रवर्तते—

श्रीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी ॥ ३६ ॥

टीका—...।

.... ।

अर्थाभिकृष्टैः निखिलैः पदार्थैः मनसेप्सितैः ॥ १ ॥

अथासन्नविनाशस्य पुरुषस्य स्वरूपमाह—

सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता ।३७।

टीका—सर्वस्यापि जनस्य मतिर्भवति प्रायेण विपर्यस्ता विपरीता। किंविशिष्टस्य ? आसन्नविनाशस्य समीपवर्तिमृत्योः। यतोऽभीष्टं निंदति शत्रुं प्रशंसति, अन्या अपि सर्वाः क्रिया विपर्यस्ताः करोति ततो ज्ञायते यदासौ प्रत्यासन्नमृत्युरिति । तथा च गर्गः—

सर्वेष्वपि हि कृत्येषु वैपरीत्येन वर्तते ।
यदा पुमांस्तदा श्रेयो मृत्युना सोऽवलोकितः ॥ १ ॥

अथ पुण्यवतः पुरुषस्य यद्भवति तदाह—

पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यं ॥ ३८ ॥

टीका—पुण्यानि पूर्वजन्मकृतानि शुभकृत्यानि प्रोच्यन्ते तानि विद्यन्ते यस्य स पुण्यवान् तस्य पुण्यवतः कदाचिदपि दौःस्थ्यमापल्लक्षणं न भवति सदैवेप्सितमुपतिष्ठते । तथा च गर्गः—

तस्य पानमशनं च बुभुक्षितस्य
यानं तृषि यस्य भवते साधयिन्यः ? ।
..
.. ॥ १ ॥

दैवानुकूल कां सम्पदं न करोति विघटयति वा विपदं ॥३९॥

१ सूत्रमिदं पुस्तकाद्धृतं मूलपुस्तकात्संयोजितं अवतरणिकाप्यस्य नष्टा ।

टीका—एतानि कापि घटयति विपदा (?) दैवं प्राक्तनं कर्म शुभं यदानुकुलं भवति न दौःस्थ्यं सम्पदं समृद्धिं जनयति, अक्लेशेनापि सर्वं चित्तेप्सितं प्रयच्छति तथा कानने त्रिपदं सवसनं विघटयति। तथा च हारीतः

यस्य स्यात्प्राक्तनं कर्म शुभं मनुजधर्मणः।
अनुकूलं तदा तस्य सिद्धिं यान्ति समृद्धयः ॥ १ ॥

अथ कर्मचांडालानाह—

असूयकः पिशुनः कृतघ्नो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ४०

असूयको निन्दकः। पिशुनो राज्ञः पुरः पैशून्यकारी। कृतघ्नः उपकारं यो न मन्यते। तथा दीर्घरोषः कदाचिदपि यस्य रोषो नाशं न याति। एते चत्वारः कर्मचाण्डालाः। यः पुरुषो जात्या चाण्डालः पंचमः इति। तथा च गर्गः—

पिशुनो निंदकश्चैव कृतघ्नो दीर्घरोषकृत्।
एते तु कर्मचाण्डाला जात्या चैव तु पंचमः ॥ १ ॥

अथ पुत्राणां विशेषमाह—

औरसः[1] क्षेत्रजो दत्तः कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध एते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ॥ ४१ ॥

अथ तेषां स्वरूपमाह—

औरसो धर्मपत्नीतः संजातः पुत्रिकासुतः।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातः स्वगोत्रेणेतरेण वा ॥ १ ॥
दद्यान्माता पिता बन्धुः स पुत्रो दत्तसंज्ञितः।
कृत्रिमो मोचितो बन्धात् क्षत्रयुद्धेन वा जितः ॥ २ ॥
गृहप्रच्छन्नकोत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः।
गते मृतेऽथवोत्पन्नः सोऽपविद्धसुतः पतौ[2] ॥ ३ ॥

अथ—

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षट् पुत्राधमाः स्मृताः ॥ ४ ॥

---

१ उरसः संजातः पुस्तके पाठः। २ पतौ इति सप्तम्यन्तप्रयोगश्चिन्त्यः।

एते नैव तु दायादा न पिण्डप्रदाः स्मृताः ।
कानीनः कन्यकापुत्रो मातामहसुतो मतः ॥ ५ ॥
सहोपनीतः सुतया सहोढः संचकीस्तथा ।
मात्रा पित्रा च विक्रीत आत्मना क्रीत एव वा ॥ ६ ॥
अकृतायां कृतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ।
आत्मानं यः स्वयं दद्यात् स्वयं दत्तसुतो मतः ॥ ७ ॥
उत्कृष्टो गृह्यते यस्तु स शूद्रः परिकीर्तित ।

तथा च मनुः—

दायादाः पिण्डदाश्चाद्याश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
कथिताश्चापरे ये च न दायादा न पिण्डदाः ॥ १ ॥

अथ तेषां यो विशेषो भवति तमाह—

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्यां ॥ ४२ ॥

टाका—यतिकुले तपस्विकुले तथा राजकुले एतेषां दायादार्हः स एकः पुत्रः स्थाने नियोजनीयः । तथा च गुरुः—

देशाचारान्नथाचारौ क्रियापेक्षासमन्वितौ ?।
देयो दायादभागस्तु तेषां चैवानुरूपतः ॥ १ ॥
एकस्मै दीयते सर्वं विभवं रूपसम्भवं ।
यः स्यादद्भुतस्तु सर्वेषां तथा च स्यात्समुद्भवः ॥ २ ॥

अथातिपरिचयेन यद्भवति तदाह—

अतिपरिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ॥ ४३ ॥

टीका—अतिपरिचयोऽतिसंसर्गः कस्यावज्ञां न जनयति कस्योपरि नावलेपं कारयति, अपि तु स्वगुरोरपि । तथा च बल्लभदेवः—

अतिपरिचयादवज्ञा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः ।
लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति ॥ १ ॥

१—नात्ययं श्लोको मनुस्मृतौ ।

अथ भृत्यापराधे स्वामिनो यद्भवति तदाह—

भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न मुञ्चति ॥ ४४ ॥

टीका—भृत्यापराधेन कृतेन तत्स्वामिनो दण्डो निपात्यते यदि तं भृत्यं स्वामी न परित्यजति । तथा च गुरुः—

यः स्वामी न त्यजेद्भृत्यमपराधे कृते सति ।
तत्तस्य पतितो दण्डो दुष्टभृत्यसमुद्भवः ॥ १ ॥

अथ समुद्रदृष्टान्तेन महत्ताया दूषणमाह—

अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ॥ ४५ ॥

टीका—अलं पर्याप्तं । महत्तया माहात्म्येन गुरुत्वेन । कस्य ? समुद्रस्य । यः किं करोति ? लघुं पदार्थं शिरसा वहति सम्मानयुक्तान् करोति । तथा गुरूनतिपरिभवस्थाने नियोजयति । तस्य स्वामित्वेनालं पर्याप्तं न क्रियते इत्यर्थः । तथा च विष्णुशर्मा—

स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्च निजपुत्रकाः ।
न हि चूडामणिं पादे कश्चिदेवात्र संन्यसेत् ॥ १ ॥

अथ रतिमंत्राहारकालेषु यत्कर्तव्यं तदाह—

रतिमंत्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥ ४६ ॥

टीका—न उपसेवेत न समीपं गच्छेत् । कमपि ? कतममपि । कस्मिन् काले ? स्त्रीसम्पर्ककाले तथा मंत्रकाले तथाहारकाले भोजनसमये । रतिकालेऽभीष्टोऽपि लज्जया द्वेष्यत्वं नीयते स्वागतं मंत्रं च मंत्रभेदकं करोति । आहारकाले यद्याहारोऽधिको भवति च्छर्दिर्वा तत्तस्य दृग्दोषः सम्भाव्यते । तथा च शुक्रः—

रतिमंत्राशनविधं कुर्वाणो नोपगम्यते ।
अभीष्टतमश्च लोकोऽपि यतो द्वेषमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

अथ तिर्यक्षु यथा वर्तितव्यं तदाह—

सुष्ठु परिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ॥ ४७ ॥

टीका—न गच्छेन्न व्रजेत् । किं? विश्वासं । केषु? तिर्यक्षु पक्ष्यादिष्वपि । किंविशिष्टेषु? सुष्ठु अतिशयेन परिचितेष्वपि विश्वासं गतेष्वपि। यतस्तेषामविवेको भवति जनानामहितोऽगुणवानिति । तथा च वल्लभदेवः—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः
मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती मुनिं जैमिनिं ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं
चाज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥ १ ॥

अथ मत्तवारणारोहेण यद्भवति तदाह—

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः ॥४८॥

टीका—मत्तवारणे मत्तहस्तिनि य आरोहणं कुरुते तस्य जीवितव्ये सन्देहो भवति यदि जीवति तत्पुनर्निश्चितोऽपायो गात्रभंगो जायत इति । तथा च गौतमः—

यो मोहान्मत्तनागेन्द्रं समारोहति दुर्मतिः ।
तस्य जीवितनाशः स्याद्गात्रभंगस्तु निश्चितः ॥ १ ॥

अथात्यर्थं हयविनोदेन यद्भवति तदाह—

अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ॥ ४९ ॥

तथा च रैभ्यः—

अत्यर्थं कुरुते यस्तु वाजिक्रीडां सकौतुकां ।
गात्रभंगो भवेत्तस्य रैभ्यस्य वचनं यथा ॥ १ ॥

अथ ऋणमप्रयच्छतो धनिकाय ऋणकस्य यद्भवति तदाह—

ऋणमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥ ५० ॥

टीका—ऋणी पुरुषो यो धनिकाय न प्रयच्छति अदत्तेन म्रियते स तस्यान्यदेहान्तरे दासभावेन निर्हरति तस्य दासो भवति चतुष्पदो भूत्वा ऋणं प्रयच्छति। तथा च नारदः—

ऋणं यच्छति नो यस्तु धनिकाय कथंचन।
देहान्तरमनुप्राप्तस्तस्य दासत्वमाप्नुयात्॥ १॥

अथ येषामृणं दासत्वं न भवति तानाह—

अन्यत्र यतिब्राह्मणक्षत्रियेभ्यः॥ ५१॥

टीका—अन्यत्र मुक्त्वा। कान्? यतीन् ब्राह्मणान् क्षत्रियान्। एतेषां ऋणं दासत्वं न भवति। यतो यतः सर्वसंगपरित्यागात् पुण्यपापैर्न-लिप्यन्ते। तथा च ब्राह्मणानां अनुग्रहकृतेन यच्छ्रेयो दातुर्भवति अदत्तमृणं। तथा क्षत्रियाणां च ऋणं करग्रहणमिति। तथा च भार्गवः—

यतीनां च दासत्वं न विद्यते ऋणजं परं।
लोके च....................भूपतीनां विशेषतः॥ १॥

अथ पुरुषस्य यथात्मदेहो वैरी भवति तदाह—

तस्यात्मदेह एव वैरी यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते॥ ५२॥

टीका—यस्य पुरुषस्याशनमभीष्टं भोजनं कृतं न सहते न परिणामं गच्छति, इष्टान्नमपि। तथा यस्य न सहते शयनादिकं। किंविशिष्टं? यथावत्प्राप्तं यच्छति। नन्वहो तस्यात्मनो देहो निजशरीरमपि वैरी एवं निश्चयेन यतो वैरिणः सकाशात् अपि स्वेच्छया भोजनं कर्तुं न लभ्यते सुशयने निद्रापि कर्तुं न लभ्यते। तथा च जैमिनिः

भोजनं यस्य नो याति परिणामं न भक्षितं।
निद्रा सुशयने नैति तस्य कायो निजो रिपुः॥ १॥

अथ यस्य पुरुषस्यासाध्यं किमपि न भवति तत्स्वरूपमाह—

तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेश-सहः सर्वत्र सुखशायी च ॥ ५३ ॥

टीका—यः पुमान् सर्वान्नीनो भवति सर्वान्नभक्षणरुचिर्भवति उत्तममध्यमाद्यन्नानि भक्षितानि परिणामं गच्छन्ति । तथा सर्वक्लेशसहः शीतातपाद्येषु क्लेशेषु सहः समर्थो यः तथा सुखशायी कण्टकानामुपरि यस्य निद्रामागच्छति तस्य शरीरपुष्टिर्भवति, किमपि कर्मासाध्यं न भवति । क इव ? मुनिरिव मुनिरपीदृग्विधः । तथा च गुरुः—

नारुचिः क्वचिद्धान्ये तदन्तेऽपि कथंचन ।
निद्रां कुशं हि तस्यापि स समर्थः सदा भवेत् ॥ १ ॥

अथ लक्ष्मीस्वरूपमाह—

स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ॥ ५४ ॥

टीका—नामाहो कस्य पुरुषस्य स्थिरेयं लक्ष्मीरपि तु न कस्यापि । केव ? स्त्रीप्रीतिरिव ।

यथा......स्त्रीप्रीतिरस्थिरा तद्वदेव हि ।
यस्मात्तस्मात्प्रकर्तव्यो जयस्त्वस्याः ? शुभैषिभिः ॥ १ ॥

अथ राज्ञां लोको यथा वल्लभो भवति तदाह—

परपैशून्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ॥ ५५ ॥

टीका—राज्ञां भूपतीनां वल्लभो भवति, केनोपायेन भवति परपैशून्योपायेन बाहुल्यतया यः परेषां पैशून्यानि करोति राज्ञां पुरतः सकाशात्, स कातरोऽकुलीनोऽपि प्रसादान्वितो भवति । तथा च हारीतः—

पैशून्ये निरतो लोको राज्ञां भवति वल्लभः ।
कातरोऽप्यकुलीनोऽपि बहुदोषान्वितोऽपि च ॥ १ ॥

अथ नीच आत्मानं येन कर्मणा बहुमन्येत तदाह—

नीचो महत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥ ५६ ॥

टीका—नीचो निकृष्ट आत्मानं उत्कर्षेत्वं आत्मनो महत्त्वं मन्येत जानाति। केन कृत्वा? परापवादेन परेषां योऽसावपवादः पृष्टिमांसभक्षणं, तेन एतज्जानाति मया सदृशः कोऽप्यत्र नास्ति। तथा च जैमिनिः—

आत्मानं मन्यते भद्रं नीचः परापवादतः।
न जानाति परे लोके पातं नरकसंभवम् ॥ १ ॥

अथ मेरुद्वारेण पुरुषस्य महत्त्वमाह—

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ॥५७॥

टीका—योऽसौ मेरुः पर्वतः स कथं महत्वमागतः प्राप्तः स्वतुंगगुणेन न खलु निश्चयेन परमाणोरल्पत्वेनापि। तथा च गुरुः—

नीचेन कर्मणा मेरुर्न महत्त्वमुपागतः।
स्वभावनियतिस्तस्य यथा याति महत्त्वतां ॥ १ ॥

अथ महापुरुषाः कलुषचित्ता यथा भवन्ति तथाह—

न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवंति कलुषितमनीषाः ॥ ५८ ॥

टीका—ये महान्तो भवन्ति महापुरुषा भवन्ति ते निर्निमित्तं प्रयोजनबाह्यं कलुषितमनीषा मलिनबुद्धयो न भवन्ति। तथा च भारद्वाजः—

न भवन्ति महात्मानो निर्निमित्तं क्रुधान्विताः।
निमित्तेऽपि संजाते यथान्ये दुर्जना जनाः ॥ १ ॥

अथ वह्निद्वारेण पुरुषस्य दृष्टान्तमाह—

स वन्हेः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णं ॥५९॥

टीका—यत्प्रकृत्या स्वभावेन शीतमपि जलमत्युष्णतां व्रजति। स स्वभावो शक्तिः वह्नेः। एवं कापुरुषोऽपि शूरपुरुषाश्रयः शूरो भवति, शूरोऽपि च कापुरुषाश्रयः कातरो भवतीति। तथा च वल्लभदेवः—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं लब्ध्वा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ १ ॥

अथ कार्यार्थिना पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी वा साधूपचरेत् ॥ ६० ॥

टीका—यः पुरुषः कार्यार्थी भवति स उपचरेत्सेवेत। कं? सुचिरस्थायिनं पुरुषं यस्य कदाचिदनवस्थितिर्न भवति। कथमुपचरेत्? साधु यथा भवत्येवं। तथा यशोऽर्थी यो वा भवति स साधु उपचरेत्। तथा च शुक्रः—

कार्यार्थी वा यशोर्थी वा साधु संसेवयेत्स्थिरं ।
सर्वात्मना ततः सिद्धिः सर्वदा यत्प्रजायते ॥ १ ॥

अथ स्थितैः सह पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥ ६१ ॥

टीका—न कुर्यात् न विदधीत। कं? व्यवहारं। कथं? सार्द्धं सह। कैः? स्थितैः प्रमाणपुरुषैः। केन कृत्वा व्यवहारो न कार्यः? अर्थोपचारेण। तथा च गुरुः

महद्भिः सह नो कुर्याद्व्यवहारं सुदुर्बलः ।
गतस्य गोचरं तस्य न स्यात्प्राप्त्या महान् व्ययः ॥ १ ॥

अथ सत्पुरुषाणां सेवया यद्भवति तदाह—

सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥ ६२ ॥

टीका—सत्पुरुषाणां पुरश्चारितया सेवया विहितया शुभमशुभं वा कुर्वतो पुरुषस्य नापवादो भवति तेषां माहात्म्यात्। तथा प्राणव्यापादः प्राणनाशः तस्मात्सत्पुरुषाः सेवनीयाः। तथा च हारीतः—

महापुरुषसेवायामपराधेऽपि संस्थिते ।
नापवादो भवेत्पुंसां न च प्राणवधस्तथा ॥ १ ॥

अथान्यदपि सत्पुरुषसेवया यद्भवति तदाह—

सपदि सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदं ॥ ६३ ॥

टीका—सपदि तत्क्षणादेव स लक्ष्मीं जनयति तथा विपञ्च नाशं नयति विपदं व्यसनमिति । तथा च हारीतः—

शीघ्रं समान ? नः यो लक्ष्मीर्नाशयेद्व्यसनं महत् ।
सत्पुरुषे कृता सेवा कालेनापि च नान्यथा ॥ १ ॥

अथ कार्यार्थी पुरुषो यत्करोति तदाह—

गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥ ६४॥

टीका—यः पुरुषः कायार्थी भवति स तन्निमित्तं तस्याचारविचारं न करोति । क इव ? गोरिव दुग्धार्थी । यथा दुग्धार्थी धेनोराचारस्य व्यवहारस्य विचारं न करोति । एतदुक्तं भवति गौः किलामेध्यभक्षणं करोति तत्पश्चाद्दुग्धं भवति तत्सर्वो जनो भक्षयाति न विचारं करोति । तथा च शुक्रः—

कार्यार्थी न विचारं च कुरुते च प्रियान्वितः ।
दुग्धार्थी च यशो धेनोरमेध्यस्य प्रभक्षणात् ॥ १ ॥

अथ ये नात्मानं रञ्जयंति तानाह—

शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मानं रञ्जयंति ॥ ६५ ॥

टीका—शास्त्रविदः पंडिता भवन्ति तथा स्त्रियो यदि विलक्षणा भवन्ति ताः परं केवलमात्मानं रञ्जयन्ति । कथंभूताः सन्तः ? अनुभूतगुणाः । शास्त्रविदस्तावदनुभूतगुणा विद्यागुणेनानुभूय सदात्मानं रञ्जयन्ति तेषां सकाशात् तथा स्त्रिय आत्मानं रञ्जयन्ति । तथा च शुक्रः—

स्त्रियं वा यदि वा किञ्चित्तदनुभूय विचक्षणाः ।
आत्मानं चापरं वापि रञ्जयन्ति न चान्यथा ॥ १ ॥

अथ भूपतेः यत्कर्तव्यं तदाह—

चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महतीसत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति ॥ ६६ ॥

टीका—यदि चित्रगतोऽपि (राजा) दृश्यते तदपि नावमन्येत नावज्ञया द्रष्टव्यो हीनकोशोऽयं परिग्रहराहितः । यतः क्षात्रं तेजः पुरुषशरीरदेवतास्वरूपेण तिष्ठति । तथा च गर्गः—

नावमन्येत भूपालं हीनकोशं सुदुर्बलं ।
क्षात्रं तेजो यतस्तस्य देवरूपं तनौ वसेत् ॥ १ ॥

अथ कार्यारम्भेण कृतेन यः पर्यालोचः क्रियते तस्य स्वरूपमाह—

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ।६७।

टीका—कार्यं प्रयोजनमारभ्य पश्चात्तस्य विषये पर्यालोचः क्रियते । स किंविशिष्ट इव प्रातिभाति? नक्षत्रप्रश्न इव शिरोमुण्डने कृते । तस्मादनारम्भेण कृत्यालोचनं क्रियते । तथा च नारदः—

अनारम्भेण कृत्यानामालोचः क्रियते पुरा ।
आरम्भे तु कृते पश्चात्पर्यालोचो वृथा हि सः ॥ १ ॥
शिरसो मुण्डने यद्वत् कृते मूर्खतमैर्नरैः ।
नक्षत्र एव प्रश्नात्र ? पर्यालोचस्तथैव सः ॥ २ ॥

अथ पुरुषाणां यथा ऋणशेषे कृते भयं भवति तदाह—

ऋणशेषाद्रिपुशेषादिवावश्यं भवत्यायत्यां भयं ॥ ६८ ॥

टीका—एताँश्चतुरः पदार्थान् यः सावशेषान्करोति तस्य भयं भवति। ऋणशेषं तावत्, तृणशेषं तावत् रिपुशेषं तावत्, अग्निशेषं तावत् । तस्मादेतानि सर्वाणि शेषतां न नयेत् तथा च शुक्रः—

अग्निशेषं रिपोः शेषं तृणार्णाभ्यां च शेषकं ।
पुनः पुनः प्रवर्धेत तस्मान्निःशेषतां नयेत् ॥ १ ॥

अथ नवसेवकस्य स्वरूपमाह—

नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥ ६९ ॥

टीका—यो नवसेवको भवति नूतनभृत्यो भवति स को नामाहो न भवति विनीतोऽपि तु सर्वो भवति प्रथमदिवसे स्वामिनं स्वकर्मणा रञ्जयति पश्चाद्विकारं करोति तस्मान्नवसेवके विश्वासं न गच्छेत्। तथा च वल्लभदेवः—

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवञ्चितो नास्ति ॥ १ ॥

अथ यः प्रतिज्ञां करोति तत्स्वरूपमाह—

यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥ ७० ॥

टीका—अत्रास्मिन् कलिकाले यथाप्रतिज्ञं यथा भवति भणितं तस्य नामाहो निर्वाहः, अपि तु न कोऽपि। तस्मात्पुरुषेण स्वल्पापि प्रतिज्ञा न कार्या प्रतिज्ञाभंगेन सुकृतं नाशमेति। तथा च नारदः—

प्रतिज्ञां यः पुरा कृत्वा पश्चाद्भंगं करोति च।
ततः स्याद्धर्मनिश्च हसत्येव जानन्ति के? ॥ १ ॥

अथात्याग्यपि यथा त्यागी भवति तदाह—

अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥ ७१ ॥

टीका—अप्राप्तावर्थस्य सर्वोऽपि जनस्त्यागी भवति आत्मनो मनोरथान् करोति यदि समर्थो भवामि तत्सर्वाणि दानानि प्रयच्छामि। दीनांधयतिराज्ञो पयामीति (?)। तथा च रैभ्यः—

दरिद्रः कुरुते वाञ्छां सर्वदानसमुद्भवां।
यावन्नाप्नोति चित्तं स वित्ताप्त्या निगुणो भवेत् ॥ १ ॥

अकार्यार्थिनां पुरुषेण यत्कर्तव्यं तदाह—

अर्थार्थी नीचैराचरणान्नोद्विजेत्, किन्नाधो व्रजति कूपे जलार्थी ॥ ७२ ॥

टीका—नोद्विजेन्नोद्वेगं कुर्यात्। कोऽसौ? कार्यार्थी पुरुषः। कस्मान्नोद्विजेत्? नीचाचरणात् निकृष्टपुरुषाचरणात्। यतो जलार्थी पुरुषः कूपे

खाताक्रियां कुर्वन्नधो व्रजति । तस्मात् पुरुषेण कार्यार्थिना नीचैराचरणे विरक्तिर्न कार्या । तथा च शुक्रः—

स्वकार्यसिद्धये पुंभिर्नीचमार्गोऽपि सेव्यते ।
कूपस्य खनने यद्वत् पुरुषेण जलार्थिना ॥ १ ॥

अथ स्वामिना परित्यक्तस्य सेवकस्य येन निर्वृतिर्भवति तदाह—

स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृतिहेतु जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणं ॥ ७३ ॥

टीका—स्वामिनोपहतस्य निःसारितस्य भृत्यस्य तदाराधनमेव तत्सेवेनमेव निर्वृतिहेतु जीवितव्याकरणं नान्यत् । कथं ? जनन्या मात्रा विहितविप्रियस्य कृतापराधस्य बालकस्य सैव माता जीवितव्याकरणं । तस्माद्भृत्येन निःसारितेन न स्वामी त्याज्यः किं त्वाराधनीय इति । तथा च शुक्रः—

निःसारितस्य भृत्यस्य स्वामिनिर्वृतिकारणं ।
यथा कुपितया मात्रा बालस्यापि च सा गतिः ॥ १ ॥

इति संकीर्णसमुद्देशः ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणिसूत्रमहेन्द्रमातलिसंजल्पयशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति ।

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह–
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥ १ ॥

सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥ २ ॥

दुर्जनद्रुमकठोरकुठारस्तर्ककर्कशविचारणसारः ।
सोमदेव इव राजनि सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ॥ ३ ॥

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे ।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥ ४ ॥

इति सोमदेवविरचिते सोमनीतिटीका समाप्ता ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

पुस्तकदातुः प्रशस्तिः ।

जिनं नत्वा गिरं स्मृत्वा गुरुं नत्वानुरागतः
प्रशस्तिं पुस्तकस्याहं दायकस्यास्य कीर्तये ॥ १ ॥

अथ संवत्सरेऽस्मिन् विक्रमादित्यराज्यात् संवत् १५४१ वर्षे कार्तिकसुदि ५ शुभदिने श्रीचन्द्रप्रभचैत्यालयविराजमाने श्रीहिसारपेरोजाभिधानपत्तने सुलतानवहलोलसाहिराज्यप्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये सारस्वतगच्छे बलात्कारगच्छे (गणे) श्रीकुन्दकुन्दाचार्यवंशे परवादिवादकुंभकुंभस्थलविदारकभट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवाः । तत्पट्टकुवलयवनविकासनैकचन्द्रभट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवाः । तत्पट्टे षदू(?)र्कचक्रचक्रवर्तिविहितपदकमलसेवाभट्टारकश्रीजिनचन्द्रदेवाः । तच्छिष्योऽष्टाविंशतिमूलगुणरत्नरत्नाकरमंडलाचार्यमुनिश्रीरत्नकीर्तिः, तस्य शिष्यो निष्प्रावरणमूर्तिर्मुनिश्रीविमलकीर्तिः, भट्टारकश्रीजिनचन्द्रान्तेवासी पंडितश्रीमेहाख्यः । एतदाम्नाये क्षेत्रपालीयगोत्रे खंडेलवालान्वये सुनामपुरवास्तव्ये जिनशासनप्रभावकपरमश्रावकसंघपतिकल्हूनामा, तत्पत्नी शीलशालिनी साध्वी राणीनाम्नी, तयोश्चत्वारः पुत्रा अनेकतीर्थयात्रादिमहामहोत्सकारापका अर्हदादिपंचपरमेष्टिचरणारविन्दसेवनैकचंचरीकाः सं० हंवा—सं० धीरा—सं० कामा—सं० सुरपतिनामधेयाः । तन्मध्ये संघपतिकामाख्यभार्या विहितानेकव्रतनियमतपोविधानादिसद्धर्मकार्या साध्वी कमलश्रीः, तत्पुत्रौ देवपूजादिषट्कर्मपद्मिनीखंडमार्तंडौ श्रीहस्तिनापुरतीर्थयात्रा प्रभावनाकारणोत्पन्नपुण्यबलप्रचण्डौ सं०

---

१ संघपतिरित्यर्थः ।

भीवा—सं० वच्छूकौ । संघपतिभीवाख्यजाया देवगुरुशासनविधानप्रलब्धच्छाया साध्वी भिउंसिरि इति प्रसिद्धिः । तन्नन्दनो यथार्थनामा गुरुदासः, तत्कलत्रं शीलाद्यनेकगुणपात्रं गुणसिरिनामकं, तत्सुतौ चिरंजीविनौ रणमल्लजट्टसंज्ञौ; सं० वच्छूगेहनी विनयादिगुणाम्बुतद्वाहिनी वउसिरि इति रूढिः, तत्तनुजो जिनचरणकमलनैकपट्टूरणः सं० रावणदासाह्वः तज्जनी शीलक्षान्तिशान्तिविनयादिगुणेनाध्यक्षं सरस्वतीरूपा सरस्वतीसंज्ञका । एतेषां मध्ये साध्वी या कमलश्रीस्तया निजपुत्रसं०—भीवा—वच्छूकयोर्न्यायोपार्जितवित्तेनेदं सोमनीतिटीकापुस्तकं लिखापितं । पुनः पंडितश्रीमेहाख्याय पठनार्थं भावनया प्रदत्तं निजज्ञानावरणकर्मक्षयाय ॥ छ ॥

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधो भेषजाद्भवेत् ॥ १ ॥
तैलाद्रक्षेज्जलाद्रक्षेद्रक्षेत् शिथिलबन्धनात् ।
परहस्तगते रक्षेदेवं वदति पुस्तकः (कं) ॥ २ ॥

शुभं भूयात् ।

आमेरकाभंडारमें सुं निकाल्यो । संवत् १९६४ का भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्तिजी जयपुरवालाको (यो ग्रन्थ) है ।

(पुस्तकपत्र १३३ ।)

नीतिवाक्यामृत-टीकागतोद्धरण-पद्यानां वर्णानुक्रमणिका ।

शौनकः